

युग प्रमुख चारित्रशिरोभणि सन्मानितिवाकर दूज्य आचार्यश्री  
बिमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

ओमललघु अनन्तवीर्य विरचिता

# प्रसेयरत्नमाला

हिन्दी व्याख्या

डॉ० रमेशचन्द्र जैन, जैददर्शनाचार्य

एम. ए., पी-एच. डी., डि. लिट.  
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, वर्द्धमान कालेज, बिहारी (उ० प्र०)



प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

## प्रस्तावना

### भारतीय वर्गत में जैनदर्शन की परम्परा

भारतीय दर्शन आस्तिक और नास्तिक दो भागों में विभाजित है। ईश्वर, आत्मा, परलोक का दो योग दृष्टि है। परलोक आस्तिक व्याप्ति एवं नहीं स्वतंत्र है, वह नास्तिक कहा जाता है। इस अपेक्षा विचार करते पर चारोंका दर्शन को छोड़कर शेष भारतीय दर्शन आस्तिक है। चारोंका चूँकि ईश्वर, आत्मा, परलोकद्वि को नहीं मानता है, अतः उसे नास्तिक कहकर प्रथमः प्रत्येक दर्शन में उसकी आलोचना की गई है। भारतीय दर्शनों में अद्विकान्तवाद के कारण जैनदर्शन का विशिष्ट स्थान है। यह परम आस्तिक दर्शन है। जो लोग 'नास्तिकों वेदनिष्ठक' कहकर जैनदर्शन को आस्तिक का श्रेणी में लाने की चेष्टा करते हैं, उनकी परिभाषा संकुचित और एकाङ्गी है। जैनदर्शन की परम्परा अनादि है। बर्तमान में यह प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव से प्रवाहित होकर चीबीसवें तीर्थकर भगवान् भगवीर काल प्रवाहित होती रही। भगवीर के इदम विष्णु शीतम गणधर ने उसे द्वादशाङ्क में निवड़ किया। इन बारह अंगों में से ग्यारह में तो स्वसमय का प्रतिपादन था, किन्तु बारहवें द्विष्ठवाद में ३६३ मतों का स्वापनापूर्वक निवारण था। द्विष्ठवाद अङ्ग का अधिकांश भाग लुप्त हो गया। किंतु भी पूर्व परम्परा से जो कुछ अवशिष्ट रहा, उसी के आधारपर व्याख्यास्त्र के भूरीणों ने अपना प्राप्ताद खड़ा किया और सत्कालीन अन्य दार्शनिकों के लक्षणिकों से अवर्द्धन लोहा लिया।

### आचार्य कुम्भकुन्द

कुम्भकुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्यरत्न माने जाते हैं<sup>१</sup>। जैन परम्परा में भगवान् भगवीर और गीतम गणधर के बाद कुम्भकुन्द का नाम लेना मञ्जुलकारक माना जाता है<sup>२</sup>। उनके हाता प्रणीत सभ्य भिन्नतिहित हैं—

१. कियसार, २. पंचास्तिकाय, ३. प्रवचनसार, ४. समयसार, ५. वारस अणुवेत्ता, ६. वैमण पाहुड, ७. चरित पाहुड, ८. सुत पाहुड, ९. शेषपाहुड, १०. भावपाहुड, ११. भोक्त्र पाहुड, १२. संल पाहुड, १३. लिंग पाहुड, १४.

१. डॉ. लालबहादुर शास्त्री : आचार्य कुम्भकुन्द और उनका समयसार पृ० १२१।

२. मञ्जुल भगवान्वीरी मञ्जुल गीतमो गणी।

मञ्जुल कुम्भकुन्दाद्ये जैनघर्मोऽस्तु मञ्जुलम् ॥

इसभित्ति संगहीन। इसके अतिरिक्त मूलाचार और तिरुक्कुरुद भी आचार्य कुन्दकुन्द कृत माने जाते हैं। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने ८४ पाठ्यों की रचना की थी, किन्तु वर्तमान में कुछ ही उपलब्ध हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्कालीन विभिन्न दृष्टियों का समन्वय किया है। इव्य का आश्रय लेकर उन्होंने सत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा है कि इव्य दृष्टि से देखा जाय तो भाव वस्तु का कभी नाश नहीं होता और अभाव की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार इव्य दृष्टि से सत्कार्यवाद का समर्थन करके आचार्य कुन्दकुन्द ने बौद्धसम्मत असत्कार्यवाद का समर्थन करते हुए कहा है—“शूण और पर्यायों में उत्पाद और व्यय होते हैं”। अतएव यह मानना चाहिए कि पर्याय दृष्टि से सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है<sup>१</sup>।

औपनिषदिक वर्णन, विज्ञानवाद और शूग्यवाद में वस्तु का विवरण दो दृष्टियों से होने लगा था—एक पारमार्थिक दृष्टि और दूसरी व्यवहारिक दृष्टि। वस्तु का एक रूप पारमार्थिक और दूसरा सांवृत्तिक वर्णित है। एक भूतार्थ है तो दूसरा अभूतार्थ, एक अलीकिक है तो दूसरा लीकिक, एक शूद्र है तो दूसरा अशूद्र, एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल। जैव आशम में व्यवहार और निश्चय में दो नये या दृष्टियों क्रमशः स्थूल-लीकिक और सूक्ष्म-स्थूलग्राही मानी जाती रही है। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मनिरुद्धण उन्होंने दो दृष्टियों का आश्रय लेकर किया है। आत्मा के पारमार्थिक शूद्र रूप का वर्णन निश्चयनय के आश्रय से और अशूद्र या लीकिक-स्थूल आत्मा का वर्णन व्यवहारनय के आश्रय से उन्होंने किया है<sup>२</sup>।

आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि वस्तु का वर्णन न निश्चय से हो सकता है, न व्यवहार से; क्योंकि ये दोनों नये असर्वादित एवं अवात्य की मर्यादित और वाध्य बनाकर वर्णन करते हैं। अतएव वस्तु का परमशुद्र स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है, वह न व्यवहारग्राह्य है और न निश्चयग्राह्य। जैसे—जीव की व्यवहार के आश्रय से बढ़ कहा जाता है और निश्चय के आश्रय से अवढ़ कहा जाता है। स्पष्ट है कि जीव में अवढ़ का व्यवहार भी बढ़ की अपेक्षा से हुआ है। अतएव आचार्य ने कह दिया कि वस्तुतः जीव न बढ़ है और न अवढ़, किन्तु पक्षातिक्रान्त है, यही समयसार है, यही परमात्मा है<sup>३</sup>।

१. भावस्य गतिं पासो गतिं अभावस्य चैव उप्यादो ।

गुणपञ्जेमु भावा उप्यादवल पकुर्वति ॥—पञ्चास्तिकाय-१५

२. प० श्लसुख मालवणिया : आशम युग का जीववर्णन, प० २४१ ।

३. हही, प० २४७ ।

४. कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु ज्ञान परपर्वर्त ।

पक्षातिक्रान्तो पूर्ण भण्डि जो सो समयसारो ॥—समवत्सार-१५३

नामानुम के शून्यवाद के विरोध में लोगों का तर्क यह कि आप जिन वास्तवों और शब्दों से शून्यता का समर्थन कर रहे हैं ऐसे आक्षय या लाल्हा शून्य है या नहीं ? यदि शून्य है तो उससे शून्यवाद का समर्थन कैसे हो सकता है ? यदि शून्य नहीं है तो शून्यवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है । नामानुम इसके उत्तर में कहते हैं कि लोगों को उनकी भाषा में ही समझाना पड़ता है । शून्य अथवा को शून्य भाषा में शून्यवाद का समर्थन करता होगा । म्लेच्छ को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का ही सहारा लेना पड़ता है । दूसरा कोई उपाय नहीं है—

नाम्यदा भाषया म्लेच्छः शास्त्रो ग्राहयितुं तथा ।

म. स्त्रीकिळमृते लोकः शास्त्रो ग्राहयितुं तथा ॥

—साम्बद्धिक कारिका, पृ० ३५०

आचार्य कुम्भकुन्द के सामने प्रश्न आता है कि यदि परमार्थ से आत्मा में वात्स, दौर्य और पांचरूप नहीं हैं तो अवधार से उनका कथन क्यों किया जाता है ? क्यों नहीं एक परमार्थभूत ही कथन करते हैं<sup>१</sup> ? आचार्य कुम्भकुन्द का उत्तर है—

जह गवि सक्तवण्डजो वणज्जभासं विणा उ गाहुर्वं ।

तेऽ वद्वारेण विणा परमत्युद्देशणमसक्तं ॥

—समयसार-८

जिस प्रकार अनार्य को अनार्य भाषा के बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार अवधार के बिना परमार्थ का उपदेश शून्य नहीं है । अनार्य कुम्भकुन्द ने खड़िया का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे खड़िया निश्चय से दीवाल से भिन्न है, अवधार से कहा जाता है कि खड़िया दीवाल की सफेद करती है, इसी प्रकार निश्चयदृष्टि से शास्त्रक आत्मा सहज आयक है, परद्रव्य को जानता है, इसलिए आयक नहीं है । अवधार दृष्टि से शास्त्रक अपने स्वभाव के द्वारा परद्रव्य को

दीर्घवि यायाग भणियं जाप्तइ णवर्तु यमयदिवद्वै ।

ण दुष्याय पञ्चं चिष्ठुदि कि चि वि यद्यपवलपरिहीणो ॥

—समयसार-१५३

१. शून्यता सर्वद्वटोको प्रोक्ता निःसर्वं जिम्बः ।

येषां तु शून्यताद्वृष्टिसत्तान्ताव्यान् वभाविरे ॥

शून्यमिति व वदत्यपश्चात्यून्यमिति कह मवेत् ।

उपर्युक्तोऽप्यर्थं चेति प्रश्नद्वयं तु कथ्यते ॥

—साम्बद्धिक कारिका १३/८, २२/११

२. कुम्भकुन्द और उनका समयसार, पृ० २१३-२१४ ।

जानता है। इस प्रकार सर्वज्ञ निश्चयदृष्टि से आत्मज्ञ और व्यवहारदृष्टि से सर्वज्ञ है<sup>१</sup> समवायार की जयसेनाचार्य कृत टीका में बीड़ों की ओर से कहा गया है कि बुद्ध भी व्यवहार से सर्वज्ञ है, उन्हें दृष्टण क्यों देते हो ? इसका परिहार करते हुए कहा गया है कि सौमत आदि के भत में जैसे निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार सत्य नहीं है, वैसे ही व्यवहार इनके यहाँ मिथ्या ही है, किन्तु जैनधर्म में तो व्यवहारनय यथोपि निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्या है, किन्तु व्यवहार रूप में तो सत्य ही है। यदि लोकव्यवहार रूप में भी सत्य न हो तो फिर सारा लोकव्यवहार मिथ्या हो जाए, ऐसा होने पर कोई व्यवस्था न बने। इसलिए उपर्युक्त कथन ठीक ही है कि परद्रव्य को तो आत्मा व्यवहार से जानता, देखता है, किन्तु निश्चय से अपने आपको देखता जानता है।<sup>२</sup>

### पूर्वप्रधान उपायपत्रि

जैन प्रश्नपत्र में संस्कृत में सर्वप्रथम सूत्र ग्रन्थ लिखने वालों में गृद्धिक्षाचार्य उत्तराध्यायि का नाम अग्रणी है। दस अध्यायों में लिखित इस ग्रन्थ में तत्त्वार्थ का विवेचन हुआ है। इसकी महत्ता इसी से स्पष्ट है कि परबर्ती आचार्यों ने इस पर बड़े-बड़े गम्भीर और विशद टीकार्ये लिखे हैं और यह ग्रन्थ जैनधर्म के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं से लेकर बड़े-बड़े आचार्यों तक को समानरूप से उपयोगी है। यह जैवों की उभय परम्परा किनम्बवर और श्वेताम्बर में मान्य है। इसके कलार्थी आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य कहे जाते हैं। इसमें प्रमाण और नयों की जर्जरी हुई है। यहाँ कहा गया है कि 'प्रमाणतयैरधिगमः' अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों का व्यार्थ ज्ञान होता है। प्रमाण के यही मति आदि पाँच भेद तथा प्रमाणाभास के कुमति, कुशुत और कुअवधि कहे गए हैं। यही मति और शुल की परोक्ष तथा शैव तीन को प्रत्यक्ष कहा गया है। अनुमानप्रयोग के तीन अवयवों पक्ष, हेतु और उदाहरण का यहाँ प्रयोग किया गया है। जैसे—

मतिशुलावधयो विपर्ययस्त्र ( पक्ष )

सदसतोरविशेषात्यदृष्टिप्रकल्पयः । ( हेतु )

उन्मसवत् । ( उदाहरण ) तत्त्वार्थसूत्र १/३१, ३२

असंख्येयमागादिषु जीवानाम् ( पक्ष )

प्रदेशसंहारविपर्यम्भां ( हेतु )

प्रदीपवत् ( उदाहरण ) त. सू. ५/१५, १६

१. समवायार ३८५-३९८, जयसेन टीका, पृ० ३२१ ।

२. वही, पृ० ३२१ ।

तत्त्वार्थसूत्र में अवित ( मुख्य ) और अनप्रित विषयों से वस्तुतात्व की सिद्धि की गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में न्यायशास्त्र के बीज विद्यमान हैं ।

### आचार्य समन्तभद्र

आचार्य श्री जगलकिशोर मुख्तार<sup>३</sup> ने समन्तभद्र के साहित्य का गम्भीर आलोड़न कर उनका समय विक्रम की द्वितीय शती माना है। इनके मत का समर्थन है। ज्योतिप्रसाद जैन ने अनेक युक्तियों से किया है। उन्होंने लिखा है— स्वामी समन्तभद्र का वर्ष १२०—१८५ है। निर्णीत होता है और यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म पूर्वतटशतों नागराज्य संघ के अन्तर्गत उरमपुर ( कर्मान निचनापल्ली ) के नागर्कंशी चौलनरेश कीलिकर्वर्मन् के कनिष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी सर्वधर्मन् ( शीषनाम ) के उत्तराधिकारी शास्त्रियस्त्री द्वारा मृत्यु-लथा है। सन् १२० के लगभग हुआ था। सन् १३८ है। शक सं ६० में उन्होंने मुमिदीक्षा की और १८५ है। के लगभग सर्वगत्य हुए।<sup>४</sup> समन्तभद्र द्वारा प्रणीत रचनाओं निम्नलिखित मानी जाती है—

१. बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र, २. स्तुति विद्या—जिनशतक, ३. देवाग्रम स्तोत्र-आप्तमीमांसा, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्डशावकाचार, ६. ओवलिद्धि, ७. प्रमाण पदार्थ, ८. तत्त्वानुशासन, ९. प्राकृत व्याकरण १०. कर्म प्राभूत टीका, ११. गम्भहस्ति महाभाष्य।

स्वामी समन्तभद्र स्तुतिकार थे। वाद के कुछ प्रत्यकारों ने इसी विशेषण के साथ उनका उल्लेख किया है। अपने ईष्टदेव की स्तुति के व्याज से उन्होंने एक और हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की, दूसरी ओर विभिन्न एकान्तवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जैन परम्परा में सम्भवतया सर्वप्रथम न्यायशास्त्र शब्द का प्रयोग करके एक और न्याय को स्थापित किया।<sup>५</sup> उन्होंने अनेकान्त की घोषना बतलाई। प्रमाण का दार्शनिक लक्षण और कल कराया,

१. विशेष जानकारी हेतु है। दरबारीलाल कोठिया का लेख ‘तत्त्वार्थसूत्र में न्यायशास्त्र के बीज’ देखिए ( पण्डित बाबूलाल जैन जपदार अभिनवकृत ग्रन्थ, पृ० १२० ) ।
२. रत्नकरण्डशावकाचार ( माणिकचन्द्र प्रथमाला ) स्वामी समन्तभद्र शीर्षक प्रबन्ध तथा अनेकान्त वर्ष १४, किरण १, पृ० ३—८ ।
३. अनेकान्त वर्ष १४, किरण ११—१२, पृ० ३२४ ।
४. तीर्थकर महाबीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० १८४ ( भग्न-२ ) ।
५. प० किलाणचलु शास्त्री : जैन न्याय, प० ८ ।

विद्वान् विवाद की परिभाषा स्थिर की । श्रुत प्रभाण को स्थाप्ताद और विशेषकलित अंशों का तथ वस्तुलाया एवं सुनय तथा दुर्जय की व्यवस्था की<sup>१</sup> । समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा पर अकलद्वृदेव ने अष्टदशती तथा विद्वान्मन्त्र ने अष्टसहस्री की रचना की । बसुतन्त्रि प्रभृति शीकाकारों ने श्री समन्तभद्र के ग्रन्थों के हावें को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है ।

### सिद्धसेन

विद्वानों से अमेक प्रभाणों के आधार पर समतिसूच के कर्ता सिद्धसेन के समय निर्धारण का प्रयत्न किया है, तदनुसार उनका समय पूज्यपाद ( विक्रम की छठी शती ) और अकलेंक ( वि. की ७वीं शती ) का मध्यकाल अर्थात् वि० सं० ६२५ के अस पास माना जाता है । सिद्धसेन नाम के एक से अधिक आवाय हुए हैं । समतिसूच और कल्याणमन्त्रिर जैसे ग्रन्थों के रचयिता सिद्धसेन द्वितीयर सम्प्रदाय में हुए हैं । इनके साथ द्विवाकर विशेषण नहीं है । द्विवाकर विशेषण द्वितीयर सम्प्रदाय में हुए सिद्धसेन के साथ पाया जाता है, जिसकी कुछ द्वारिधिकारी, ग्रामावतार आदि रचनाएँ हैं । इनका समय समतिसूच के कर्ता सिद्धसेन से भिन्न है । प्रो. सुखलाल संघवी ने दोनों को एक मानकर उनका काल विक्रम की दौड़ी शताब्दी माना है ।

जैन साहित्य के खेत्र में द्विनाम जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की आवश्यकता ने ही प्रतिभासुरि सिद्धसेन को उत्पन्न किया है । आशार्य सिद्धसेन का समय विभिन्न दार्शनिकों के बाद विवाद का समय था । उनकी दृष्टि में अनेकान्तवाद की स्थापना का यह अंग अवसर पा, अतः उन्होंने समतिलकों की रचना की । उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नानवादों को समतिलक में विभिन्न नववादों में समिक्षिष्ट कर दिया । अद्वैतवादों को उन्होंने द्रव्याधिकत्य के संग्रहनय रूप प्रभेद में समिक्षिष्ट किया । अणिकवादी औद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्यायनमान्तर्गत शुद्धसूत्रनयानुसारी बताया । सार्वय दृष्टि का ग्रन्थवेश द्रव्याधिकत्य में किया और काणाददर्शन को उभयनयाधित सिद्ध किया ।<sup>२</sup> उनका तो यही तक कहना है कि संसार में जितने वचन प्रकार हो सकते हैं, जितने वर्जन एवं नाना भवनाव हो सकते हैं, उतने ही नववाद हैं, उन सबका समावगम ही अनेकान्तवाद है ।<sup>३</sup> सार्वय की दृष्टि संभ्रहावलम्बी है, अभेदगमी है ॥

१. वि० कैलालाचन्द्र शास्त्री : जैन ग्राम, पृ० ९-१० ।

२. वि० दलसुख भालवणिया : आगम युग का जीनदर्शन, पृ० २७३ ।

३. जावइया गयवहा तावइया चेव होंति गयवादा ।

अतएव वह वस्तु की नित्य कहे, यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है और बौद्ध पर्यानुगमी या भेदभूषि त्रोते से वस्तु के क्षणिक या अनित्य कहे, यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है, किन्तु वस्तु का समूर्ण दर्शन न तो केवल द्रव्यदृष्टि में पर्यावरित है और न पर्यावरित में, अतएव सांख्य या बौद्ध को परस्पर भिन्नावादी कहने का स्वातन्त्र्य नहीं।<sup>१</sup>

### पात्रकेसरी

स्वामी पात्रकेसरी के समय की सीमा विक्रम की वधम गतावृद्धी से पूर्व निर्दिष्ट रूप से सिद्ध होती है, क्योंकि महापुरुष के प्रारम्भ में जिनसेनाचार्य ने उनका उल्लेख किया है। दिङ्गार्थ के शीर्षक के हेतु लक्षण का सम्बन्ध करने के लिए उन्होंने विलक्षण कदर्थन नामक ग्रन्थ लिखा, अतः पात्रकेसरी दिङ्गार्थ ( इसी की शीर्षकी गतावृद्धी ) के पश्चात् होने आविष्ट। विलक्षण कदर्थन विषयक उनका इलोक निम्नलिखित है—

अन्यथानुपपन्नत्वे यत्र तत्र प्रयेष किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वे यत्र तत्र प्रयेष किम् ॥

बीड़ दार्शनिक शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' के अनुमान परीक्षा नामक प्रकरण में पात्रकेसरी के 'शिलक्षणकदर्थन' नामक ग्रन्थ से कारिकार्ये उद्घृत करके उनकी आलोचना की है। अकलंकदेव भी शान्तरक्षित के पूर्व समकालीन थे, अतः उन्होंने भी उस ग्रन्थ को देखा होगा, अतः न्यायशास्त्र के गुरुम बांग हेतु आदि के लक्षण का उपधारन अवश्य ही पात्रकेसरी की देन है<sup>२</sup>।

### मल्लवादी

विजयसिंह शूरि प्रबन्ध में एक गाँठ में लिखा है कि बीर सं० ८८४ में मल्लवादों ने बीड़ों की हराया। अर्थात् विक्रम सं० ४१४ में यह घटना हटी। इससे यह जनुमान होता है कि विक्रम सं० ४१४ में मल्लवादी विद्यमान थे। आचार्य सिंहगणि जो नमचक्र के टीकाकार हैं, अपोहुकार के समर्थक बौद्ध विद्वानों के लिए अद्यतन बीड़ विशेषण का प्रयोग करते हैं। उससे सूचित होता है कि दिङ्गार्थ जैसे बौद्ध विद्वान् न केवल मल्लवादी के अपितु सिंहगणि के भी

जं काविल दरिसणं एवं द्रव्यद्विषयं वत्तव्यं ।

सुदूरोन्नां तणवस्त उ परिसुखो पञ्चविअर्थो ॥

दोहि यि जयेहि णीयं सत्थभुलूप्तं तहवि मिच्छुतं ।

जं सविसअप्पहुण्ठ्यत्तणेण अणोप्पणिरवेष्णा ॥—समस्ति सर्वं ३/४७-४९

१. यही, १/१०-१२।

२. प० कौलाशकन्द्र शास्त्री : जैन न्याय, प० २३-२४।

समकालीन है। समकालीन होते हुए भी मललवादी सृष्टि है और दिङ्गार्थ युवा है।<sup>१</sup>

मललवादी की सम्बितकं टीका सहजपूर्ण है। यह टीका इस समय अनुग्रहकर्षण है। उनका प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ सन्धि नयनक है। आज तक के ग्रन्थों में यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। तत्कालीन सभी वादों की सम्मने रखते हुए उन्होंने एक वाद चक्र बनाया। उस चक्र का उत्तर उत्तरवाद पूर्व पूर्ववाद का संषडन करके अपने-अपने पक्ष को प्रबल प्रमाणित करता है। प्रत्येक पूर्ववाद अपने की सर्वश्रेष्ठ एवं निर्दोष समझता है। वह यह सोचता ही नहीं कि उत्तरवाद मेरा भी संषडन कर सकता है। इसमें मैं कुरन्त उत्तरवाद आता है और पूर्ववाद को पछाड़ देता है। अनिम्न वाद युनः प्रथम वाद से पराजित होता है। अन्त में कोई भी वाद अपराजित नहीं रह जाता। अनेकान्त दृष्टि का आशय ऐसे सभी वाद कुरक्षित रह सकते हैं। अनेकान्तवाद के अनुसार सम्बन्ध में सभी वादों की उचित स्थान प्राप्त हो जाता है। कोई भी वाद बहिर्भुक्त धोखित नहीं किया जाता<sup>२</sup>।

### भट्टाकलंक

गृह अकलंक प्रागीन भारत के एद्युक्त विद्याद् द्वया द्वौपीत्तर विवेचक ग्रन्थकार एवं जैन वाड़मय रूपी नक्षत्र लोक के सबसे अधिक प्रकाशमान तारे हैं<sup>३</sup>। अकलंक ने न्याय प्रमाण शास्त्र का जैन परम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषायें, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और पराथस्तुमान तथा वाद, कथा आदि परमत प्रसिद्ध दस्तुओं के सम्बन्ध में जो जैन प्रणाली सिवर की, संक्षेप में जैन परम्परा में नहीं, पर अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध तक्षशास्त्र के अनेक पदार्थों को जैन दृष्टि से जैस परम्परा में जो सात्त्वीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मत्तव्यों को जिस सरल वार्णनिकों के सम्मने रखते योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रन्थों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय प्रमाण स्थापना युग का खोलक है।<sup>४</sup>

अकलंकदेव का समय ई० ७२०-७८० सिद्ध होता है<sup>५</sup>। उनके ग्रन्थों में

१. प० दलसुख मालवणिया : आगम युग का जैनदर्शन, प० २९६-२९७।

२. छ० मौहनलाल मेहता : जैनदर्शन, प० १०२-१०३।

३. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग २ ( सात कोडी मुखीपाठ्याद्य लिखित प्राक्कथन )

४. प० सुखलाल संघर्षी : दर्शन और चिन्तन, प० ३६५।

५. सिद्धिविविच्य टीका, प्र० भाग ( प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखित प्रस्तावना ), प० १५।

बीज आचार्य धर्मकीर्ति, प्रश्नाकरणुष्ट, धर्मकरदत्त ( जर्वट ), शास्त्रमद, धर्मोत्तर, कर्णकामोग्नि तथा शास्त्रशक्ति के ग्रन्थों का उल्लेख या प्रभाव दुष्टिगोचर होता है।<sup>१</sup> अकल क जैन ध्याय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। उनके पश्चात् जो जैन धन्यवाचार हुए उन्होंने अपनी ध्याय विषयक रचनाओं में अकलकदेव का ही अनुसरण करते हुए जैन ध्याय विषयक साहित्यश्री की श्रीवृद्धि की ओर जो बातें अकलकदेव से अपने प्रकरण में सूच रूप में कही थीं, उनका उपयात्म तथा विश्लेषण करते हुए वृश्नीमासर्तों के विविध ग्रन्थों की समीक्षा में शृङ्खलाय गन्ध दें, जिससे जैन ध्यायरूपी बृक्ष पल्लवित और गुणित हुआ<sup>२</sup>। अकलकदेव की रचनाओं निम्नलिखित हैं—

**तत्त्वार्थवाचिक**—यह गृद्धपिण्डाचार्य उमास्वामि के तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ पर उद्घोतकरके ध्यायवाचिक की पौँडी में लिखा गया प्रबन्ध वाचिक है। पूज्यगुरु की सर्वार्थसिद्धि का बहुभाग इसमें मूलवाचिक का रूप पा गया है।

**अष्टशती**—यह समन्तभद्रकृत देवाग्रम स्तोत्र की संक्षिप्त वृत्ति है। यहनसा, संजिप्तसा तथा अर्थग्रामीय में इसकी समानता करने योग्य कोई दूसरा ग्रन्थ वार्षिक क्षेत्र में दुष्टिगोचर नहीं होता। अष्टशती में उन सब विषयों पर तो प्रकाश डरका होता गया है, जो आप्तमीमांसा में उल्लिखित है। किन्तु इसके अतिरिक्त इसमें नए विषयों का भी समावेश किया है। इसमें सर्वज्ञ की व भाननी वाले शीमांसक और आवीक के साथ-साथ सर्वज्ञविदीय में विवाद करने वाले बीड़ों की भी आलोचना की गयी है। सर्वज्ञ साधक अनुभवन का समर्थन करते हुए उन पश्चदोषों और हेतुदोषों का उद्भावन करके स्वरूपन किया गया है, जिन्हें विद्वनाग आदि बीड़ नीयायिकों ने बाना है। इसका किना वचन की उत्पत्ति, बीड़ों के प्रति तर्क प्रमाण की सिद्धि, धर्मकीर्ति द्वारा अभिमत नियह स्वान की आलोचना, स्वलक्षण को अनिवेश्य मानने की आलोचना, स्वलक्षण में अनभिल-प्यत्व की सिद्धि आदि नूतन विषयों पर अष्टशती में अप्स्त्रा प्रकाश ढाला गया है।<sup>३</sup>

**लघीयस्त्रय सविवृत्ति**—यह ग्रन्थ प्रमाणप्रबेश, नयप्रबेश और प्रबन्धप्रबेश इन छोटे-छोटे तीन प्रकरणों का संयह है। लघीयस्त्रय सविवृत्ति की प्रतिकों में इसके प्रमाणप्रबेश और नयप्रबेश की एक ग्रन्थ के रूप में भाना है। तथा प्रबन्ध-

१. शिद्धिविनिष्ठव्य दीका, प्र० भाग ( प० भैरवद्वारा म्याचार्य लिखित प्रस्तावना ), प० २१-३६ ।

२. जैन ध्याय, प० ३५ ।

३. प्र० उद्युक्त जैन : आप्तमीमांसा तत्त्वदीविका, प० ४५ (प्रस्तावना) ।

अवेश की पुथक; अर्थोंकि उसमें पुथक् भेदलाचरण किया गया है और नयप्रवेश के विषयों को दुहराया है। इससे आत होता है कि अकलंकदेव ने प्रथम दिङ्-नाम के न्यायप्रवेश की जैन न्याय में प्रवेश कराने के लिए प्रमाणनयप्रवेश बनाया था। पीछे या तो स्वयं अकलंकदेव ने या अनन्तर्वेद्य ने तीनों गकरणों की लघोयस्थय संक्षा रखी।<sup>१</sup>

**न्यायविनिश्चय**—धर्मकीर्ति के प्रमाणवाचिक की तरह न्यायविनिश्चय की रचना गद्यपद्धति रही है। बादिराजसूरि ने इस पर न्यायविनिश्चय विवरण दीकर बताई। जिसके आधार पर न्यायविनिश्चय के पद्धतिगत की पुनः स्थापना तो की गई। किन्तु गद्यभाग के संकलन का साधन न होने से वह कार्य सम्पन्न न हो सका। न्यायविनिश्चय प्रमाणवाच तथा तर्कशास्त्र का फल है। इसमें प्रधान बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति तथा उनके अनुगामी विद्वानों द्वारा प्रतिपादित तर्कसिद्धान्तों का प्रामाणिक वर्णन और विस्तृत समीक्षा है। यह अपनी व्यापक विवेचकता तथा अद्भुत युक्तिवाद के लिए स्वातं भारतीय तर्कशास्त्र का विश्वकोप है।<sup>२</sup>

**सिद्धिविनिश्चय**—सिद्धिविनिश्चय मूलषलोक तथा उसकी वृत्ति थोनों अकलंककर्तुक है। इसके गद्य और पञ्च दोनों अकलंकदेव के नाम से उद्घृत है। सिद्धिविनिश्चय में १२ प्रस्ताव हैं। इसमें प्रमाण, प्रमेय, नय और विकल्प का विवेचन है। इसमें बीजों की प्रसाणमीमांसा, सन्तानवाद, त्तिर्ण तथा व्याख्यक वाच इत्यादि विषयों की प्रकरणानुसार समीक्षा प्राप्त होती है।

**प्रमाणसंग्रह**—यह अकलंकदेव की अनिम छुटि है। इसमें प्रमाण और प्रमेय का वर्णन श्रौक्षीली से किया गया है। अकलंकदेव का नाम बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति से जुड़ा हुआ है। अकलंक में धर्मकीर्ति की शौली, भावना और विषय का पूरी तरह अनुसरण किया है। उन्होंने धर्मकीर्ति की केवल मौलिक कृतियों का ही अध्ययन नहीं किया, किन्तु उन पर लिखी हुई सभी व्याख्याओं का अध्ययन किया। यह उन शब्दों से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, जो उन्होंने धर्मकीर्ति की कृतियों और व्याख्याओं से उद्घृत किए हैं।

अकलंक ने धर्मकीर्ति के सम्पूर्ण वाक्य को कभी उसों तथा कभी मामूली परिवर्तनों के साथ ले लिया है। बहुत बार उन्होंने धर्मकीर्ति के ही वाक्यों को उन्हीं के स्पष्टत के लिए लिया है, परन्तु धर्मकीर्ति के नाम का उल्लेख

१. सिद्धिविनिश्चय ( प्र० भाग ) प्रस्तावना, पृ० ५७ ।

२. न्यायविनिश्चयविवरण ( भाग-२ ), प्रस्तावना-सामग्री उपाध्याय ।

नहों किया। उनकी सामान्य दीली है—धर्मकीर्ति के विचारों को पहुँचे प्रस्तुत करना, अनन्तर उसका सम्भवन करना। इससे स्थग्न लोकित होता है कि अकालक की कृतियों का उद्देश्य अग्रात्मार जैन शिद्धाल्लों को बीड़ तथा विशेष रूप से धर्मकीर्ति के प्रवारों से बचाना था। दीली में भी अकालक ने धर्मकीर्ति का अनुसरण किया है; क्योंकि धर्मकीर्ति की भाँति अकालक भी समझने में कठिन, सुधारस्तिथि, ठोथ और संविप्ल दीली का प्रयोग करते हैं<sup>१</sup>। इस प्रकार जैन न्याय के विकास में अकालक का योग अप्रतिम है।

### हरिभद्रसूरि

आचार्य हरिभद्र अहश्चुत विद्वान् थे। उन्होंने आचम, आचार, धोग, कथा, उद्योगित्व, दर्शन इत्यादि अनेक विषयों पर साहित्य रचना की। उनकी दर्शनिक कृतियाँ लिखित हैं<sup>२</sup>—

१. अनेकान्तव्य पत्राका,
२. अनेकान्तवाद अवेश,
३. अनेकान्तसिद्धि,
४. आत्मसिद्धि,
५. तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति,
६. द्विजवदमध्येटा,
७. धर्मसंग्रहणो (प्राकृत),
८. न्याय प्रवेश दीका,
९. न्यायावतारवृत्ति,
१०. लोकतत्त्वगिर्णय,
११. वास्तवार्ता समुच्चय,
१२. वद्वद्विन समुच्चय,
१३. सर्वेक्षणसिद्धि,
१४. स्वादाद कुचोच्च धरिहार।

हरिभद्र की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने प्रतिपक्षी के प्रति जैसी हार्दिक बहुमानवृत्ति प्रदर्शित की है, वैसी दार्शनिक क्षेत्र में दूसरे किसी विद्वान् ने, कभी से कभ उनके समय तक तो प्रदर्शित नहीं की<sup>३</sup>। शास्त्ररक्षित में भिन्न-भिन्न स्थानों पर जैन मन्त्रव्यों की परीक्षा की है तो हरिभद्र ने बोहु भन्त्रव्यों की, परन्तु दोनों के वृष्टिकोण भिन्न हैं। शास्त्ररक्षित मध्य नवाङ्गनपटु है, किन्तु हरिभद्र तो विशेषी मत की समीक्षा करने पर भी जहाँ तक मध्यम हो कुछ सार निकालकर उस मत के पुरस्कर्ता के प्रति सम्मानवृत्ति भी प्रदर्शित करते हैं। अणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन बीड़ वादों की समीक्षा करने पर भी हरिभद्र इन वादों के प्रेरक दृष्टि विन्दुओं की अपेक्षा विशेष से न्याय स्थान देते हैं और स्वसम्प्रवाद के पुरस्कर्ता अहंकर, महाबोर आदि का जिन विधिव्यों से वे निवेद्य करते हैं, वैसे ही विशेषणों से उन्होंने छुड़ का भी विवेद किया है और कहा है कि युद्ध

१. Nagin J. Shah : Akalanka's Criticism of Dharmakirti's Philosophy, p. 39.

२. पं० सुखलाल संष्की : समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १०९।

३. पं० सुखलाल संष्की : समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १०९।

जैसे महामुग्ध एवं अहंत की देशना अर्थहीन नहीं ही सकती<sup>१</sup>। ऐसा कहकर उन्होंने सूचित किया है कि अधिकत्व की एकाग्री देशना आमदित की निवृत्ति के लिए ही हो सकती है<sup>२</sup>। इनी भौति बाह्य पदार्थों में आमदित रखने वाले आम्यातिमक लक्ष्य से निषान्त परामृश अधिकारियों को उद्दिष्ट करके ही शुद्ध ने विज्ञानवाद का उपरेक दिया है तथा शून्यवाद का उपरेक भी उन्होंने जिआमु अधिकारी यिक्षेप को लक्ष्य में रखकर ही दिया है, ऐसा मानना चाहिए<sup>३</sup>। इस प्रकार के अनेक प्रमाण हैं, जिनमें हृषिभद्र की अपनी विशिष्ट दृष्टि की शल्क शिल्पी है।

ବିଜ୍ଞାନକାରୀ

आचार्य विष्णुनन्द ई० ७७० से ८४० के विद्वान् माने जाते हैं<sup>१०</sup>। उन्होंने इतरदार्शीनिकों के साथ-साथ नागार्जुन, वसुबन्धु, विद्वनाग, भर्मकीर्ति, प्रशासक तथा धर्मोत्तर इन बौद्ध दार्शीनिकों के ग्रन्थों का सर्वाङ्गीय अभ्यास किया था। इसके साथ ही साथ जैन दार्शीनिक तथा आधर्मिक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रा में प्राप्त हुआ था<sup>११</sup>। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. विद्यालय महोदय २. वस्त्रार्थीलोकवाचिक ३. अष्टमहसो ४. पुक्त्यन्-  
शासनालङ्कार ५. आपतपरीक्षा ६. प्रभाषणपरीक्षा ७. पञ्चपरीक्षा ८. सत्यधारन-  
परीक्षा ९. श्रीपुरपाश्वनाथ स्तोत्र ।

विद्यानन्द भग्नीदय सम्पति अनुपलद्वा है। तस्वार्थएलोकवार्तिक की रचना तस्वार्थसूत्र पर भाष्य के रूप में मीमांसा इलोकवार्तिक के अनुकरण पर की गयी। भट्टाकलङ्क की अष्टशती के गूढ़ रहस्य को समझने के लिए अष्टसहस्री की रचना की गयी। इनके गौरव को आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं इन शब्दों में व्यक्त किया है—हमार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है। केवल इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए। इतने से ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त का ज्ञान ही जायगा<sup>१</sup>। युक्त्यनुशासनालङ्कार आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन को दीक्षा है। आप-परीक्षा, प्रमाणपरीक्षा और सत्यशासन परीक्षा परीक्षान्त भव्य हैं, जो दिष्टमान

१. न चैतदपि स्याद्यथं यतो बुद्धो महामनिः ।

सुवैद्यवदिला कार्य इव्यापत्त्यं न भोगते ॥—शास्वकार्त्तिसमुच्चय-४६६

२. वही, ४६५। ३. वही, ४७६।

४. प्रभाण परीक्षा (प्रस्तावना), पृ. १११।

५. आपसीमांसा तत्त्वदीपिका ( प्रस्तावना ) पृ० ५४।

४. श्रीतत्त्वार्थमहसि श्रुतेः किमव्यः सत्त्वस संख्यान्वः ।

विज्ञायेत् यमीश सद्वस्यपरस्य लक्ष्मानः ॥—अष्टसहस्रो पृ० १५७

की आलेखन परीक्षा और शिकायत परीक्षा, धर्मकीर्ति की सम्बन्ध परीक्षा, छासौतर की प्रभाग परीक्षा व लघुप्रभाग परीक्षा तथा कल्याणशिल्प की शृंतिपरीक्षा जैसे परीक्षाएँ ग्रन्थों की याद दिलाते हैं<sup>१</sup>। विद्यानन्द की परीक्षान्त नाम रखने में इनसे प्रेरणा मिली हो, इसमें आश्वर्य नहीं<sup>२</sup>। वहाँ शास्त्राधीन में जो पत्र दिए जाते थे, उनमें क्रियात्म गूढ़ रहने थे, जिनका आशय समझना कठिन होता था। चसी के विवेचन के लिए विद्यानन्द ने पत्रपरीक्षा नामक एक छोटे से प्रकरण की रचना की थी। जैन परम्परा में इस विषय की सम्भवतया यह प्रथम और अल्पिम रचना है<sup>३</sup>। शोधुर पार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना असियाय थेर शीषुर के पार्श्वनाथ के प्रतिशिष्टा को लक्ष्य में रखकर की गई है।

बाष्टसहस्री की अभिमान प्रकाशित में बताया है कि कुमारसेन की युक्तियों के बहुतार्थ यह रचना लिखी जा रही है<sup>४</sup>। इससे ध्वनित होता है कि कुमारसेन ने आप्तमीमांसा पर कोई विवृति या विवरण लिखा होगा, जिसका स्वप्नीकरण विद्यानन्द ने किया है। निष्चयतः कुमारसेन इनके पूर्ववर्ती हैं। कुमारसेन का समय ई० सन् ३२३ के पूर्व माना गया है<sup>५</sup>।

### अनन्तकीर्ति

आखार्य अनन्तकीर्ति रचित लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि नाम के दो प्रकरण लघुशक्यादि संग्रह में छोड़े हैं। उनके अध्ययन से प्रकट होता है कि वे एक प्रलग्न दार्शनिक थे। उन्होंने इन प्रकरणों में वेदों के अपौरुषेयत्व का स्थान करके आगम की प्रमाणता में सर्वज्ञ प्रणीतता को ही कारण सिद्ध किया है। इन्होंने सर्वज्ञता के पूर्व गत में जो पत्र लद्धित किए हैं, उनमें कुछ भी मांसा श्लोकव्यालिक के, कुछ प्रमाणवालिक के और कुछ तत्त्वसंग्रह के हैं। प्रमाणवद्वा ने न्यायकुमुदवचन और प्रमेयकमलमालासंष्ठि के सर्वज्ञ साधक प्रकरणों में अनन्तकीर्ति की वृहत्सर्वज्ञसिद्धि का शब्दपरक अनुसरण किया है<sup>६</sup>।

१. प्रमाण परीक्षा डॉ० दरबारीनाल कोठिया द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० १।
२. जैन न्याय, पृ० ३७।
३. वीरसेकाल्य मोक्षे बाहुगुणाऽन्धर्यरस्तसिभुविरि संततम्।  
सारतरात्मध्याने भारमदामभोवपवनगिरि गङ्गारायिकुं ॥  
कष्टसहस्री मिथा साष्टसहस्रीयमन्त्र मे पुष्यत्।  
क्षादवशभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्ति बहुमानशर्यं ॥
४. डॉ० नेमिकन्द्र शास्त्री : भगवान् महावीर और उनकी आखार्य परम्परा, पृ० ३५६ (भाग-२)।
५. जैन न्याय, पृ० ३८।

## आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि नन्दि संघ के प्रमुख आचार्य है। उपराकार से उन्हें भारतगणरी का निवासी बतलाया है—

'धारानगरीनिकामिनः श्रीमत्याणिक्यनन्दभद्रटारकदेवः परीक्षामूलाख्यं प्रकारणमारचयाम्बमूर्तुः ।'

माणिक्यनन्दि अकलङ्कु ( ७२०-७८० ई० ) के बाद हुए, यह बहु सुनिश्चित है; क्योंकि प्रमेयरस्तमाला के रचिता ने उन्हें अकलङ्कुदेव का उत्तर दर्ती बतलाया है—

अकलङ्कुवचनाम्भोधेलक्ष्मिः यते धीमतः ।

न्यायविदामूर्त तत्त्वे नमो माणिक्यनन्दिः ॥ प्रमेयरस्तमाला—२

अतः जिस द्वितीयान् ने अकलंकदेव के वचन रूप समूह से न्यायविदा रूप अमृत का उदाहरण किया, उस माणिक्यनन्दि नामक आचार्य के लिए हमारा नमस्कार होता है ॥ २ ॥

अकलङ्कुदेव के ग्रन्थों और माणिक्यनन्दि के परीक्षामूला सूत्र की तुलना करने पर हमें दोलित होता है कि माणिक्यनन्दि ने अकलङ्कुदेव के ग्रन्थों का अनुशीलन किया था ।

अकलङ्कुदेव ने प्रमाण को अनविगतार्थग्राही लिखा है—

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् अनविगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।

( अष्टशती, अष्टसहस्री, पृ० १७५ )

माणिक्यनन्दि ने अनविगतार्थाधिगम को ही व्याप में रखकर अपने प्रमाण लक्षण में अपूर्वे पद की स्थान दिया है—

हवापूर्वार्थव्यवसायवत्सर्वं ज्ञानं प्रमाणं ॥ परीक्षामूल ११

इसी प्रकार अन्य स्थल भी तुलना के योग्य हैं।

आचार्य नयननन्दि ने, जिनको सुदृशणजरित रचना वि० सं० ११०० में भारतदेश भोज के समय में पूर्ण हुई, अपने को माणिक्यनन्दि का शिष्य लिखा है—

जिणिशायमङ्गमस्ये एथवित्ती तेजायारणिद्वाइ लङ्घाइजुत्तो ।

णरिदामर्त्तिवाहिवार्थदेवंदी हुओ तस्य सोसो गणी रामणंदी ॥

असेसाण गंधंभि पारंभि पत्ती तत्र अंगवी भव्वराइवभित्तो ।

गुणायामभूतो मुल्लोकणंदी महारंडिओ तस्य माणिक्यर्थदी ॥

पद्मस लीमु तहो जायत जगविक्षायठ मुणि गणणंदी अणिदियउ ।

चरितं सुदृशणाहहो तेण अबाह हो विरद्वं बुह अहिणवित ॥

( सुदृशण चरित )

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर माणिक्यवल्लन्दि का समय विकल्प की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध लिहा जाता है :

माणिक्यवल्लन्दि ने परीक्षामुख की रचना की। यह जैन न्याय का अद्वितीय सूत्र फल है। इसके निमित्त में पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के साथ-साथ और परम्परा के आचार्य विद्वानांग और जर्मकीर्ति के ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता ली गई है।<sup>१</sup> ये सूत्र भरत, किशोर, सुबोध, सारवान् और असमिय द्वारा हैं। इनकी ढंगी और विषयवस्तु की स्पष्टता से प्रभावित होकर परवर्ती जैन सूत्रग्रन्थकारों ने कहीं अवश्यकः और कहीं अवश्यः इनका उपयोग किया है। इसके लिए पवेलाम्बर आचार्य देवदत्तुरिकृत प्रमाणनयत्स्वाक्षरोक लघा आचार्य हेमचन्द्रकृत प्रमाणग्रन्थमीमांसा द्रष्टव्य है। इन सूत्रों की उपयोगिता हसी से स्पष्ट होती है कि आचार्य प्रभावनद्र ने इन पर १२ हजार लोकोंक प्रमाण प्रमेयकमलमासौष्ठुद जैसी बड़ी टीका लिखी। लक्ष्मणनकीर्तिकृत परीक्षामुखपरिच्छिका ( प्रमेयरत्नमाला ) तथा भट्टारक चारकीर्तिकृत प्रमेयरत्नमालकूपार की रचना भी परीक्षामुख की टीका के रूप में हुई। केशववर्णी ने परीक्षामुख के 'स्नानपुर्वार्थवसायात्मक ज्ञानं प्रसादं' पर एक स्वतन्त्र कृति प्रमेयकर्तिका का प्रणालीन किया।

परीक्षामुखका प्रमुख विषय प्रभाण और प्रमाणाभास है। समस्त पर्याप्त में २०८ सूत्र हैं तथा यह छः समुद्रदेशों में विभक्त है। प्रथम समुद्रदेश में प्रमाण का स्वरूप, स्त्रोक्त प्रभाण लक्षण में ज्ञान रूप विवेचण का समर्थन, ज्ञान की निश्चयात्मकता, ज्ञान की स्वर्यप्रकाशता और प्रत्यक्षता तथा प्रभाण का प्रामाण्य वर्गित है। इस समुद्रदेश में १३ सूत्र हैं।

द्वितीय समुद्रदेश में १२ सूत्र हैं। इसमें प्रभाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद, प्रत्यक्ष का लक्षण, विद्यादत्ता का लक्षण, सांच्यवहारिक प्रत्यक्ष, अर्थ और आलोक की सांच्यवहारिक प्रत्यक्ष के प्रति कारणता का अभाव, प्रत्यक्ष प्रभाण में अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता से पदार्थों को ज्ञानके की व्यवस्था, पदार्थ को ज्ञान का कारण होने से परिष्क्रेत्र मनने की योग्यता का निराकरण तथा अतीनित्रिय स्वरूप मुख्य प्रत्यक्ष का लक्षण प्रतिपादित है।

तृतीय समुद्रदेश ३७ सूत्रों में विभक्त है। इसमें परोक्ष का लक्षण, परोक्ष के भेद, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तथा तर्क का लक्षण एवं उदाहरण, अनुसन्धान का लक्षण, हेतु का लक्षण, अविनाशाव का लक्षण, सहभावनियम और झन्म-भावनियम, साध्य का लक्षण, साध्य के विशेषणों की संरक्षकता, घर्मों का प्रति-

१. उदाहरणार्थ देखिये—न्यायकुमुखद्वारा, प्र० भाग ( प्रस्तावना ), पृ० ८०-८१,  
प्र० माणिक्यवल्लन्दि दिग्म्बर जैन ग्रन्थमाला ।

पादन, धर्मी की सिद्धि के प्रकार, एवं प्रयोग की आवश्यकता, अनुमान के दो अङ्ग, उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान का अङ्ग मानने में दीर्घ-दूभावन, वीतराग तथा में उदाहरणादि को अनुमान का अङ्ग मानने पर अहमति, दृष्टान्त के भेद, उपनय और निगमन की परिभाषा, हवायनिमान और पदार्थ-नुमान, हेतु के दो भेद उपलब्धि और अनुपलब्धि; उपलब्धि के भेद अविरुद्धोपलब्धि तथा विरुद्धोपलब्धि, अनुपलब्धि के भेद अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि एवं अविरुद्धोपलब्धि के व्याप्ति, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर, विरुद्धोपलब्धि के भी अविरुद्धोपलब्धि के भग्नान विरुद्धव्याप्ति, विरुद्ध कार्य, विरुद्ध कारण, विरुद्ध पूर्वचर, विरुद्ध उत्तरचर एवं विरुद्ध सहचर, अनुपलब्धि के प्रथम भेद, अविरुद्धानुपलब्धि के अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि, उपार्थक-नुपलब्धि, कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि, पूर्वचरानुपलब्धि, उत्तरचरानुपलब्धि तथा सहचरानुपलब्धि, विरुद्धानुपलब्धि के विरुद्ध कार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि और विरुद्धस्वभावानुपलब्धि एवं, दीर्घी के अविरुद्ध करणे हितु जा यादेन, आगम प्रमाण का लक्षण तथा शब्दादिक के वस्तु का ज्ञान करने की कठरणता का अर्थन है।

चतुर्थ समुद्रदेश में ९ सूत्र हैं। इसमें कहा गया है कि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है। अनेकान्तरात्मक वस्तु के समर्थन के लिए यहाँ दो हेतु कहे गये हैं—वस्तु सामान्य विशेषादि असेक धर्म वाली है; अर्थोंकि वह अनुकूल प्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्यय की विषय है तथा पूर्व आकार का परिहार, उत्तर आकार की ग्राहि और स्थिति लक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पायी जाती है। सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य और कर्त्त्वतासामान्य। पदार्थ और अवलिंग के भेद से विशेष दो प्रकार का हैं।

पञ्चम समुद्रदेश में ३ सूत्र हैं। इसमें कहा गया है कि अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा में प्रमाण के फल हैं। वह फल प्रमाण से कथश्चित् अभिन्न है और कथश्चित् भिन्न है। प्रमाण से जानने वाले का ही अज्ञान निवृत्त होता है। वही हेतु वस्तु का लक्षण करता है, इष्ट वस्तु का ग्रहण करता है और उपेक्षणीय वस्तु की उपेक्षा करता है।

षष्ठ समुद्रदेश में ७४ सूत्र हैं। इसमें प्रमाणाभासों का विवेचन है। स्वरूपाभास, प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तक्षभास, अनुमानाभास, पक्षाभास, हेत्वाभास, हेत्वाभास के भेद तथा उनके उदाहरण, दृष्टान्ताभास और उसके भेद, बालप्रयोगाभास, वाग्माभास, संश्याभास, किष्याभास तथा फलाभास का अर्णन कर वस्तु तथा की सिद्धि के सम्बन्ध वन्य ( नय, निशेषादि ) को विवारणीय कहा गया है।

## प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र का काल १५० ई० से १०२० ई० के मध्य माना जाता है। वे एक अद्वितीय विद्वान् थे। अभी दर्शनों के प्राची सभी यौलिक ग्रन्थों का उन्होंने अध्यास किया था। इतर दर्शनों का पुर्वपश्च स्थापित करने समय वे तत्त्व दर्शनों का हार्दिक संषेद करते हैं। इनके हारा लिखित चार ग्रन्थ माने जाते हैं—१. न्यायकुमुदचन्द्र २. प्रमेयकमलमार्तण्ड ३. तत्त्वार्थवृत्ति और ४. शाकटायन न्यास। प्रमेयकमलमार्तण्ड भाजिक्यनन्दि के परीक्षामुख का विस्तृत भाष्य है। अकलज्ञदेव के लघीयस्त्रय तथा उसकी विवृति के व्याख्यान ग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिन ग्रन्थों<sup>१</sup> से उद्धरण लिए हैं, उनमें से कुछ की तालिका इस प्रकार है—१. न्यायभाष्य, न्यायकातिक, न्याय मञ्जरी, वैदीयिक सूत्र, प्रशस्तपाद भाष्य, पातञ्जलमहाभाष्य, योगसूत्र, ब्राह्म-भाष्य, सार्स्य कारिका, शावर भाष्य, अहम्बिन्दुप्रसिद्धि, आन्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यक, अभिधर्मकोश, न्यायविन्दु, प्रशाण्डातिक, भगव्यमिकवृत्ति आदि। उनकी तत्त्वार्थवृत्ति पुरुष्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की लक्ष्यवृत्ति है। अन्तिम ग्रन्थ शाकटायन न्यास के प्रभाष्यन्द्रकृत होने में अभी तक सर्वसम्मत निष्ठाएँ नहीं हो पाया है। प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में विज्ञानम्ब और अवस्थावैर्य का समरण किया है और यहाँ भी लिखा है—२. अन्तिमवैर्य की ऊन्नती की लक्ष्यता से वे अकलज्ञ के प्रकरणों की समझने में समर्थ हुए। उनका कालीन ग्रन्थकारी में जो जीन ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र की शैली से प्रसाकृत हुए तथा जिन्होंने प्रभाचन्द्र के लेखों का अनुसरण किया, उनमें सन्मतिकी टीका के रचयिता अभिधेवसूरि, स्वाद्वाद रत्नाकर के रचयिता वादिदेवसूरि। लघु अवस्थावैर्य, हृष्टचन्द्र, महिलवैर्य तथा उपाध्याय गशोदिजय भी प्रभाचन्द्र से प्रभावित हैं<sup>२</sup>।

## वादिराज

वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के समकालीन और अकलज्ञदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता हैं। चालुविनायक जयसिंह की राजकाम्भा में इनका बड़ा सम्मान था। इनका काल १०१० से १०५५ ई० माना जाता है। इनके हारा निम्नलिखित ग्रन्थ प्राप्तील हुए—१. वाश्वनाय चरित २. वस्तोधरचरित ३. एकोभावस्तोऽ ४. न्यायविनिश्चय लिखरण ५. प्रमाण निर्णय। इनमें से अन्तिम दो वार्धानिक कुतियाँ हैं। न्यायविनिश्चय-विवरण अकलज्ञदेव के न्यायविनिश्चय का शीम हजार इलाके प्रमाण भाष्य है।

१. न्यायकुमुदचन्द्र ( प्र० भाष ), प्रस्तावना, पृ० १२३ ।

२. वही, पृ० ११०१२ ।

प्रमाणनिर्णय एक लक्ष्यकार्य ग्रन्थ है। इसके बारे प्रकरण हैं—१. प्रमाणनिर्णय  
२. प्रत्यक्ष निर्णय ३. परोक्षनिर्णय ४. अभ्यन्तरीय ५.

### अभ्यन्तरीय

अभ्यन्तरीय का समय विकल्प की उसकी सदी उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है। इसमें सिद्धान्त के सम्बन्धितके पर टीका लिखी। सिद्धान्त, माणिक्यशब्दिं और प्रभाचन्द्र की प्रशस्तियों में अभ्यन्तरीय का निरूप प्रद्युम्नसूरि के शिष्य और बादमहार्णव नामक तर्कग्रन्थ के रचयिता तात्कालिक विद्वान् के रूप में किया गया है<sup>१</sup>। प० सुखलालजी और प० बेचरदासजी ने सम्बन्धितके प्रथम भाग की पुस्तकों प्रस्तावना में लिखा है कि अभ्यन्तरीय की सम्बन्धितके टीका में तीकड़ीं शार्दूलिक प्रथ्यों का दौहन किया गया है। सामान्य रूप से कुमारिल का भीमांसा श्लोकवालिक, शान्तरक्षित हृत तत्त्वसंग्रह पर कमलधील की विजिका और विद्युक्कराचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेयकवलमार्गव्याख्या और व्याय-कुमुखवन्द का प्रसिद्धिमुख्य रूप से इस टीका में है।<sup>२</sup>

### वादिदेवसूरि

वादिदेवसूरि ( ई० १०८६-११३० ) ने अकलज्ञ वचनामधीषि से उद्घृत परीक्षामुखसूत्र के आधार से प्रमाणनयसत्कालोकालज्ञार की रक्षा की तथा उसकी स्पांडाव रक्षाकार टीका भी इसमें लिखी<sup>३</sup>। परीक्षामुखसूत्र के विषय के साथ इनमें नयपरिष्ठेद और बादपरिष्ठेद नए जोड़े गए हैं। शास्त्रान्तरों के भासोल्लेख पूर्वक उत्तरण इस ग्रन्थ की अपनी एक विशेषता है और उस पर से भारतीय दर्शानशास्त्र के विविध प्रथ्यों एवं ग्रन्थकारों की सूची निभित की जा सकती है<sup>४</sup>।

### अनन्तवीर्य

अनन्तवीर्य नाम के अनेक विद्वान् आचार्यों की सूची शिळेखों तथा ग्रन्थ प्रशस्तियों से प्राप्त होती है। इनमें से कुछ का विवरण डॉ० नेमिचनद्र शास्त्री ने भगवान महावीर और उनकी आचार्य परमपरा ( भाग-३, प० ३९-४० ) पर दिया है। अकलेक सूत्र के बृत्तिकार द्वी अनन्तवीर्य हैं—एक रविभद्रपादोपजीवी और दूसरे इन्हीं अनन्तवीर्य द्वारा उल्लिखित सिद्धिविनिदित्य के प्राचीन व्याख्याकार अनन्तवीर्य, जिन्हें हम बृद्ध अनन्तवीर्य कह

१. सम्बन्धितके ( प० सुखलालजी द्वारा लिखित प्रस्तावना ), प० ७२।

२. जीन व्याय, प० ४२।

३. सिद्धिविनिदित्य टीका ( भाग-३ ), प० ४२।

४. जीन व्याय, प० ४३।

सकते हैं। सिद्धिविनिष्ठय टीका के कर्ता अनन्तवीर्य ई० सन् १७५ के बाद और ई० सन् १०२५ के पहले किसी समय में हुए हैं। पादर्वनाथचरित में चारिशाज में अनन्तवीर्य की स्तुति करते हुए किला है कि उस अनन्त सामर्थ्य-शाली मेष के समान अनन्तवीर्य की स्तुति करता हूँ, जिनकी वज्रमण्डपी अमृत-बुटि से जगत् को चाट जाने वाला कृत्यवादरूपी हुतात्मन जान्त हो गया था। इन्होंने 'स्यायविनिष्ठय विवरण' में अनन्तवीर्य को उस दीपशिखा के समान किला है, जिससे अकलज्ञवाङ्मय का गूँड और अग्नात वर्ण पश्चवद पर प्रकाशित होता है। रविभावशिष्य अनन्तवीर्य की ही रचनाएँ हैं—सिद्धिविनिष्ठय टीका और प्रमाणसंग्रह या प्रभाणसंग्रहालंकार। सम्पत्ति हूँसदी अनुपलाघ है।'

### लघु अनन्तवीर्य

'अनन्तवीर्य' नाम के दूँकि अनेक आचार्य हुए हैं, अतः प्रमेयरत्नमाला के टिप्पणकार में प्रमेयरत्नमाला के रचनाकार को लघु-अनन्तवीर्य<sup>१</sup> या द्वितीय अनन्तवीर्य कहा है; क्योंकि इससे पूर्व जैन म्याय साहित्य में अकालज्ञदेव के सिद्धिविनिष्ठय के टीकाकार अनन्तवीर्य हो चुके थे। लघु अनन्तवीर्य की एकमात्र छुति प्रमेयरत्नमाला प्राप्त है। ग्रन्थ के आरम्भ में इस टीका को इन्होंने परीक्षामुखपञ्चिका कहा है। प्रत्येक समुद्रदेश से जगत् में हिंसे जैसे पुणिपका वाक्य में इसे परीक्षामुख लक्ष्यकृति भी कहा है। इसमें परीक्षामुख के सूचों की संक्षिप्त किन्तु किंचद व्याख्या है। ग्रन्थ के प्रथम समुद्रदेश के पांचवें पद्म में कहा गया है—

वैजेय प्रिय पुक्षस्य हीरस्योपरीघतः ।

पान्तिषेणायंभारत्त्वा परीक्षामुखपञ्चिका ॥ ५ ॥

अर्थात् वैजेय के प्रिय पुक्ष हीरस के अनुरोध से जान्तिषेण नामक शिष्य के लिए वह परीक्षामुखपञ्चिका प्रारम्भ की गई है।

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में कहा गया है कि बदरिपाल बंधावली सूर्य आकाश में सूर्य के समान ओजहवी और गुणवालियों में अपेक्षा श्रीमान् वैजेय हुए। गुण और शील की सीमावरूप नाण्डन इस नाम से भंसार में प्रसिद्ध उसे वैजेय की पत्नी हुई, जिसे संजन पुरुष ऐसी, अमिकार और प्रभावसी इस नाम से पुकारते थे।

वैजेय की उस रुपी से विश्व का कल्याण करने वाली मनोबृति कहला, दाम देने के लिए मेव के गमन, अपने गोव के विस्ताररूप आकृता का अद्युमाली (सूर्य)

१. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० ४० ( दृ० भाग ) ।

२. तद्विदीरुभिष्ठवः श्रीमलज्ञवन्नवीर्यैवा ॥—प्रमेयरत्नमाला टिप्पण, पृ० १ ।

और सम्बन्धित रूपी रत्नों के आभासण से सुधारेभित अङ्ग वाला संसार में हीरय नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

निर्मल और विशाल कीति वाले उस हीरय के अधिक बया इस अनन्तवीर्य ने माणिक्यनन्दि कुल अगाध थोड़े वाले इस शास्त्र को कुछ संक्षिप्त किन्तु उदार वचनों के द्वारा वालकों को प्रबोधित करने वाले इस विवरण के रूप में स्पष्ट किया है<sup>१</sup>—

प्रमेयरत्नमाला की रचना प्रभासद्व के 'प्रमेयकमलमास्तिष्ठ' के यश्चात् हुई; वर्तीकि प्रमेयरत्नमाला का प्रारम्भ में कहा है—

प्रमेन्दुकुम्भनोदारचम्दिका प्रसरे सति ।

मादुशाः क्य नु नष्टप्रन्ते उयोतिरिङ्गणसन्निभाः ॥ ३३॥

अथर्व प्रभासद्व नामक आचार्य के वक्षन रूप उदार चाँदीनी का विश्वार होते हुए कुम्भ के समान हम जैसे भन्दबुद्धि वाले पुरुषों की कक्षा गणना ?

उक्त उद्घारण से यह स्पष्ट है कि प्रभासद्व लघु अनन्तवीर्य से पूर्व हुए। इनका लम्बा १५० से १०२० हो के मध्य आता जाता है। हेमचन्द्र की प्रमाण-मीठमांसा पर प्रमेयरत्नमाला का बहुत प्रभाव है। इस प्रकार अनन्तवीर्य का मध्य प्रभासद्व और हेमचन्द्र के मध्य द्विना चाहिए। इस आवार पर इन अनन्तवीर्य का समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रतिक्रिया होता है<sup>२</sup>।

प्रमेयरत्नमाला का वर्ष्य विषय—चूंकि परीक्षामूख का प्रधान विषय प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेचन है, अतः उसकी टीका प्रमेयरत्नमाला का प्रधान विषय भी प्रमाण और प्रमाणाभास हो है। इनका चबूदेश्य परीक्षामूख नामक सूक्ष्मात्मक वर्ण्य का स्पष्ट कथन करता था। प्रथम समुद्रदेश के अन्त में लघु अनन्तवीर्य ने कहा है—

देवस्स सम्भृतमपादतसमस्त दोष  
वीक्ष्य प्रदृच्छविर रचितं समस्य ।

माणिक्यनन्दिविभुता विशुद्धेष्वहेतो-  
मनिस्वरूपममुग्ना दकुटमस्यवायि ॥६॥

अकार्लंकारेय के द्वारा सम्मत, समस्त दोषों से रहित, विस्तृत और सुन्दर प्रमाण के स्वरूप को माणिक्यनन्दि रूपामी ने देख करके शिष्यों की जानकारी के लिए (परीक्षामूख में) संक्षेप रूप से रचा, उसी को इस (अनन्तवीर्य) में स्पष्ट रूप से कहा है।

१. प्रमेयरत्नमाला-टीकाकारस्य प्रकाशित—१०४।

२. प्रधान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ५३।

अकलंकवेद और माणिक्यमण्डि से अनन्तवीर्य इसने अधिक प्रभावित हो कि प्रत्येक समुद्रेश के बाल में उन्होंने कहीं संक्षिप्त पर्वों द्वारा तो कहीं स्पष्ट रूप से उनका स्मरण किया है। इससे उनके कुलजड़ा रूप महान् गुण की सूचना मिलती है।

प्रमेयरत्नमाला के प्रथम समुद्रेश में प्रभाण का स्वरूप, द्वितीय में प्रत्यक्ष प्रभाण, तृतीय में परोक्ष प्रभाण, चौथे में प्रमरण का विषय, चौथे में प्रसाध का कल तथा चौथे समुद्रेश में प्रभाणाभास आदि का विषय विवेचन किया गया है।

**अनन्तवीर्य का वैद्युत्य**—लघु अनन्तवीर्य ने भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा के मूल ग्रन्थों का भलीभौति अध्ययन किया था। जैन न्याय शब्दों में आचार्य समन्तभट्ठ, अकलंक, माणिक्यमण्डी और प्रभाचन्द्र की कुलियों ने उन्हें विशेष प्रभावित किया था। उन्होंने विभिन्न दर्शनों के घन्हों का उद्धरण अपनी प्रमेयरत्नमाला में विकर पूर्व पक्ष की स्पष्ट कर, विभिन्न शास्त्रों की समीक्षा की है। उनके द्वारा उद्धृत प्रमुख ग्रन्थ हैं—धर्मकीति का प्रसाधशास्त्रिक, कुमारिति का भीमासा लक्षणकार्तिक, प्रभाचन्द्र का प्रमेयकमलमालासंग्रह, व्यासकृति महाभारत, मण्डन मित्रकृत भृष्णसिद्धान्त, अकलंककृत संक्षीशस्त्रय, द्वितीय कुरुम सुत संक्षेप-कार्तिका, अहंवेद, विद्युत्य एवं प्रभाणसमुच्चय, विष्णवन्द कुल पवरीश, इवेताइवरोपनिषद्, पात्रकेशरी स्तोत्र तथा वृहद्भारत्यक। इनके अतिरिक्त उन्होंने लहौ-कार्ति के विष्णव ग्रन्थ एवं व्यासी प्रमेयरत्नमाला की रक्षा की होगी, इस पर स्वरूप रूप से विशेष आवश्यक है। इन सबसे उनके वैद्युत्य की भलीभौति जानकारी प्राप्त होती है। अनन्तवीर्य के वाक्य वडे संक्षिप्त और सूक्ष्म अर्थ वाले हैं। उन्हें समझना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। इसके लिए एद-एद एवं टिप्पणी की सहायता की अपेक्षा होती है। इस दृष्टिसे वह टिप्पण, जिसके कर्ता लघुसमन्तभट्ठ कहे जाते हैं, बहुत उपयोगी है। टिप्पणकार ने ग्रन्थकार के हार्द को अच्छी तरह खोलकर रख दिया है। जैन न्याय के अंश में प्रभाचन्द्रकी लघु के बाब वे चमकते हुए सिलारे हैं, जिन पर व्यायविज्ञा के अव्योनावों को गर्व है।

### अनन्तवीर्य और भारतीय दर्शन

अपर कहा जा सका है कि लघु अनन्तवीर्य भारतीय दर्शनों के तलस्थरी स्थिता है। उनके विभिन्न दर्शनों के अध्ययन सम्बन्धी एक संक्षिप्त सर्वेक्षण यहाँ प्रस्तुत है—

१. वेद—प्रमेयरत्नमाला में अहंवेद के दशम मण्डल के युहवसूक्त की एक पंक्ति उद्धृत की गयी है। यह सूक्त अहंवेद के शार्णिक शूक्लों में महावपूर्ण स्थान रखता है। पंक्ति इस प्रकार है—“पुरुष एवेदं यद्भूतं शक्व भाव्यत्”

इसे परम ऋषि के अतिपादन करने वाले आगम वाक्य के रूप में पूर्वित्य के रूप में उद्धृत किया गया है।

२. आर००४५—अग्रस्थार्थों में जहाँ वाचनप्रसिद्धियों के बारों का विवाह है। इही उपनिषद्वारों के समान ग्रन्थकाण्ड का विषय भी प्रतिपादित है। ये वाच्मुखों और उपनिषद्वारों के मिश्रित रूप हैं। वास्तव में ये ज्ञानशृणु ग्रन्थों के ही अंग हैं और अरण्य में पढ़े जाने के कारण इनको आस्थाक रखते हैं। प्रमेयरत्नमाला में बृहदारण्यक का एक पद्म उद्घृत<sup>१</sup> हुआ है, जो इस प्रकार है—

सर्वं खलिकं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चनन् ।

अग्रस्थं तस्य प्रथमिति करथन न न (बृहदारण्यक ४३३।१४)

बृहदारण्यक के आग्रम्य में यज्ञविद्य अतिस्वरूप है। वास्तव में इसमें आत्म-ज्ञान और ब्रह्मविद्या का ही मुख्य वर्णन होने से इसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। वाक्यमुकार्य ने इस पर आव्य लिखा है।

उपनिषद्—अथ और नि उपर्युक्त पूर्वक अद्वात्मा से विष्ट प्रत्यय लगाकर उपनिषद् शब्द लड़ता है, जिसका अर्थ है ज्ञान प्राप्ति के लिए शुरु के समीक्ष बैठता। जो ज्ञान श्रद्धा और भक्तिपूर्वक आत्मज्ञान के लिए ब्रह्मविद्या को अहम करते हैं। वह उनके जर्म, जन्म, जरा, रोगादि जग का तास करती हुई ब्रह्म को प्राप्त करती है। वह उनके अधिकार संस्कार-कारण का विनाश कर देती है। प्रमेयरत्नमाला में श्वेतायत्तरोपनिषद् का एक उद्घाटन है, जो इस प्रकार है—

विष्टतत्त्वसुख विष्टतोमुखो विष्टतोवसुखत विष्टवतः पात् ।

अस्माहुम्या धर्मस्ति सम्यतत्त्वैष्टि भूमी अनयन् वेद एकः ॥

श्वेतायत्तरोपनिषद् कुछा यजुर्वेद की श्वेतायत्तर वाचा से सम्बन्धित था। इस उपनिषद् में यह अध्याय है तथा इसका सम्पूर्ण भाग गाय में है। इसमें सोऽन्य और योग का एषष्ट वर्णन है तथा कपिल क्रूरि का चलेक्ष इसी वैदिक ग्रन्थ में सर्वप्रथम मिलता है। इसमें सांख्य, योग और वैदिक की पदावली प्रस्तु होती है।<sup>२</sup>

समृतियाँ—प्रमेयरत्नमाला के तृतीय समुद्देश में मनु और याज्ञवल्क्य आदि की समृतियों को श्रुत्यर्थनिःसारी कहा गया है। इस प्रकार की मान्यता बहुत पहले से ही प्रचलित थी। कालिदास ने भी इसे उपमा प्रयोग के रूप में अपनाया है—“मुत्तेरिवार्थं समृतिरत्यवच्छत्”<sup>३</sup>। समृतियों में मनुस्मृति का अत्यधिक महसूद है। इसका कारण यह है कि यह वेदों के अत्यन्त समीप है। कहा भी गया है—“वेदार्थोपनिषद्वत्तात् प्राधान्यं तु मनोः स्मृतम्”। मनुस्मृति की वेदार्थोपनिषद्वत्

१. प्रमेयरत्नमाला-द्वितीय समुद्देश-उद्घाटन १३ ।

२. प्रमेयरत्नमाला-द्वितीय समुद्देश-उद्घाटन ८ ।

३. छो० कुंबरत्तल अन्त : वैदिक साहित्य का इतिहास प० १६५

४. रथुवंश २१२ ।

या वेदमूलकता के कारण अर्थशास्त्र के रचयिताओं ने यही तक धीरेण्ठ कर दी कि जो समृद्धि मनुसमृद्धि के बिपरीत है, वह मान्य या प्रेशसनीय यही मानी जा सकती है—मन्वर्यविपरीता तु या समृद्धिः सा न शस्यते ।<sup>१</sup> मनु ने अपनी समृद्धि के प्रामाण्य प्रतिपादनार्थ स्कैट रूप से कहा है कि इसमें जी उम्म कहा गया है, वह सब बेदीकत है<sup>२</sup>—

यः कदिचत्कृष्टचिद्वर्मो अनुमा परिकीर्तिः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥—मनुसमृद्धि २०७

मनुसमृद्धि के आद याज्ञवल्क्य समृद्धि की मान्यता है । इसमें वर्णों के नियम, संस्कार, विवाह गृहस्थ वर्म, स्नातक वर्म, भृग्याभृत्य नियम, द्रव्यशुद्धि, दान, आद, ग्रहशान्ति, राजकर्म, ऋणादान, साक्षि, लैख्य, दाय विभाग, अथविकाम के नियम, वेतनादान दण्ड, आपद्धर्म, अशौच, वानप्रस्थ, यतिवर्म सथा प्रायशिक्षण के नियम वर्णित हैं ।

चार्वाक दर्शन—चार्वाक दर्शन प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है । प्रमेयरत्नमाला के कर्ता में अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुभावादि प्रमाण मी सिद्ध होते हैं । इसके लिए उन्होंने घर्मकीर्ति के प्रमाण समूच्चय की एक कारिका उद्धृत<sup>३</sup> की है—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेऽन्यधियो गते ।

प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधात्मकस्यस्तु ॥

प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति होने से, विष्णवादि की कृद्धि के आन से और परलोकादि के प्रतिषेध से अन्य प्रमाण रूप अनुमान की सधाराव सिद्ध होता है ।

चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि आत्मा भूतचतुष्टय से उत्पन्न होता है । इसके किरोध में कहा गया है कि अचेतन भूतों से जेतन आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि आत्मा इन पृथिवी आदि चार भूतों से उत्पन्न हुआ तो उनमें उन चारों भूतों के व्याप्त आदि स्वभाव असंस्य पाए जाने काहिए, क्योंकि नहीं पाए जाते हैं, इससे ज्ञात होता है कि आत्मा पृथिवी आदि भूतचतुष्टय से उत्पन्न नहीं होता । इसकी पुष्टि में प्रमेयकमलमालाण्ड<sup>४</sup> को एक पद उद्धृत किया गया है, जिसका लाप्यर्थ यह है कि तत्काल जात वालक के स्वनयाम की हड्ढी

१. मनुसमृद्धि—डॉ० जयकुमार जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ० ५ ।

२. वही पृ० १ । ३. प्रमेयरत्नमाला द्वितीय समुद्रेश, उद्धरण—३ ।

४. प्रमेयरत्नमाला चतुर्थ समुद्रेश, उद्धरण—४० ।

से, अन्तरादिक के वेसने से, पूर्वभव के अपरण से, पृथिवी आदि भूतचक्रष्टम् के गुण-धर्म-स्वभाव आदि का अन्तर्वपना नहीं पाए जाने से स्वभावतः आता दृष्टा और सनातन आरम्भ स्वयं सिद्ध हैं।

**बीददर्शीन—** प्रमेयरत्नमाला में निम्नलिखित बीड़ सिद्धान्तों की समीक्षा है—निर्विकल्प प्रत्यक्षादाद, वृन्द्यवादियों का प्रमाण को न मानना, प्रत्यक्ष की अव्यवसायात्मकता, स्मृति की अप्रमाणता, प्रत्यभिज्ञान की अप्रमाणता, तर्क की अप्रमाणता, अणभङ्ग वाद, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, तदुत्पत्ति (आन का पदार्थ से उत्पन्न होना), लाकृपा (पदार्थ के आकार होना और तदध्यवसाय (उसी पदार्थ को जानना), परिच्छेद होने से पदार्थ की ज्ञानकारणता, हेतु का वैकल्प्य लक्षण, प्रयोग वाल में मात्र हेतुकी आवश्यकता, कारण हेतु को न मानना, शब्दों का अर्थ का वाचक न होना, अन्यापौह, विद्येष ही प्रमाण का विषय तथा प्रमाण और फल में अभेद आदि।

**सांख्य—** सांख्यदर्शीन अत्यन्त प्राचीन है। इसके प्रणेता महर्षि कशिल हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इनका सम्बन्ध संख्या से है; क्योंकि इसमें तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गई है। दूसरा मत है कि संख्या का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान और इसी अर्थ में यह दर्शन सांख्य कहलाता है। सांख्य प्रकृति और पृष्ठ्य के बीच मूल तत्त्व मानता है। प्रमेयरत्नमाला में सांख्यदर्शीन की अनेक मान्यताओं का विराकरण किया गया है। ये मान्यतायें इस प्रकार हैं—

अस्वसंवेदन ज्ञानवाद, प्रत्यक्ष, अनुभाव और आगम-स्वप्न तीन प्रमाणों की प्रमाणता, पश, हेतु और दृष्टान्त के भैषज से अनुमान के तीन अवयव, पदार्थ की मात्र सामान्यात्मकता, प्रधान का स्वरूप, पुरुष का स्वरूप, २५ तत्त्व तथा सत्त्वगर्थवाद आदि।

**योग—** चित्तवृत्ति का विरोध करना योग कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि का विचार हुआ योगसूत्र इसका प्रमुख ग्रन्थ है, इस पर व्यासभाष्य लिखा गया है, जो अद्वृत प्रसिद्ध है। योगदर्शन को पतञ्जलि के नाम पर पतञ्जल वर्णन भी कहा जाता है। इसमें योग का स्वरूप, चित्तवृत्ति को रोकने के उपाय, दुःख-निवृत्ति, योगजनित सिद्धियों तथा कैवल्य का निरूपण है। अनन्तवीर्य ने ईश्वर के सद्भाव के समर्थन में पतञ्जलि के निम्नलिखित सूचों को उद्घृत किया है—

१. श्री सतीशचन्द्र चाहूपाण्ड्याव एवं श्रीरम्श्र मोहनदत्त : भारतीय वर्णन  
पृ० १९३, १९४।

कालेजकर्मियोंकाशर्वैरपरमृष्टः युक्तविशेष ईश्वरः ।  
तत्र निरतिकाय सर्वज्ञ शीजम् ।  
स पूर्वेषामधि गृहः कालेजानवच्छेदात् ॥

इस मत का खण्डन प्रमेयरत्नमाला में नियायिकों के सृष्टिकर्ता ईश्वर के खण्डन के साथ किया गया है ।

**योगदर्शन (न्याय-वैदिकीय)**—टिप्पणकार ने योग से तात्पर्य नीयायिक वैदिकीयकाणाम् कहकर न्याय और वैदिकीय दोनों दर्शनों को योग की परिधि में सम्मिलित किया है । योगदर्शन की समस्त मान्यताएँ न्याय वैदिकीय दर्शन में पार्यी जाती हैं । प्रमेयरत्नमाला का वहुभाग योग, मीमांसक तथा बौद्धदर्शन की समीक्षा करने में प्रयुक्त हुआ है । योग की वे मान्यताएँ जिनका निराकरण प्रमेयरत्नमाला में किया गया है, निम्नलिखित हैं—

गुणिकर्थ, ज्ञानान्तर ग्रन्थव्यापाद, ज्ञान का हत्र व्यवसायी न होना, प्रत्यक्ष, अनुभान, उपमान और शब्द की प्रमाणसत्, प्रत्यभिज्ञान का भिन्न प्रमाण न होना, तर्क को हत्रतन्त्र प्रमाण न मानना, अर्थ और आलोक को ज्ञान की कारणता, अनुभान के पूर्ण व्यवय, सृष्टिकर्ता ईश्वरव्याप, सम्बाय, हेतु पञ्चवलसण्ठर्व, परस्पर निरपेक्ष सुभान्य और विशेष प्रमाण का विषय, प्रमाण से उसके फल की सर्वथा भिन्नता, प्रमाण का अस्तिसंवेदीपता, आत्मा का विभूत्व तथा सत्ता के सम्बन्ध में सत् होना आदि ।

**मीमांसादर्शन**—मीमांसा का मुख्य उद्देश्य है वैदिक कर्मकाण्ड की पुष्टि करना । वह दो प्रकार से (१) वैदिक विधि-नियमों का अर्थ समझने के लिए और ज्ञान में उनको संगति बढ़ाने के लिए व्याख्या प्रणाली निर्धारित करना, (२) कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्त का युक्ति द्वारा प्रतिपादन करना । मीमांसा का मूल ग्रन्थ है जैमिनि सूत्र । जैमिनिक सूत्रों में यह सबसे बड़ा है । इसके बारह अध्याय हैं । जैमिनि के सूत्र पर शब्दर स्वामी का विशद भाष्य है, जिसे शब्दर भाष्य कहते हैं । इसके बाद बहुत से टीकाकार और स्वतन्त्र ग्रन्थकार द्वारा । उनमें को मुख्य है—कुमारिक भट्ट और प्रभाकर (मुह) । इन दोनों के नाम पर मीमांसा में दो प्रधान शम्प्रवाय चल गए—भाट्टमीमांसा और प्रभाकर मीमांसा । प्रमेयरत्नमाला में मीमांसादर्शन का जैमिनीय, भाट्ट और प्रभाकर के नाम से प्रायः उल्लेख हुआ है । यहीं भ्रीमांसकों के निम्नलिखित सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है—

प्रभाकरों का अध्यान रूप भी ज्ञात्यापार को प्रमाण मानना, जैमिनीय परोक्षज्ञानव्याप, भाट्टों का कर्ता और कर्म की ही प्रतीति मानना, जैमिनीयों का कर्ता,

१. वस्तु तथा भाट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ १९८ ।

कर्म और क्रिया की ही प्रतीति मात्रना, प्रमाण की प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता परसः, जैमिनीय एवं प्रमाण, वेद की प्रमाणता, अमूल्यन के बार अवश्य, पुरुष की सर्वज्ञता का निषेध, शब्द की व्यापकता, वेद की अपीरणेयता, शब्दों की नित्यता, भावनावाद, नियोगवाद, विधिवाद, वस्त्वसंवेदनवाद।

**वेदान्त**—वेदान्त का अर्थ है—वेदान्त का अन्त। प्रारम्भ में इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। पीछे उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ, उनके लिए भी इस शब्द का अवहार हीने लगा<sup>१</sup>। वेदान्त दर्शन उत्तरसीमांशा के नाम से प्रसिद्ध है। जैमिनी की मीमांसा पूर्वमीमांसा कही जाती है। प्रमेयरत्नभाला में वेदान्त के मिळान्तों की समालोचना की गयी है। वेदान्त का कहना है कि यह सभी दृष्ट्यमान पदार्थ निष्कर्ष से परमहार्ह ही है, इसके अतिरिक्त इस जगत् में कोई वस्तु नहीं है। हम लोग उसकी पर्यायों को तो देखते हैं, किन्तु उसे कोई नहीं देख सकता।

इस भाव्यता पर शंका की गई है कि परमहार्ह का ही परमार्थसह माम लेने पर 'यह धट है, यह पढ़ है इत्यादि रूप से जो प्रसिद्ध होता है, वह कैसे चलेगा ? इहाँ का इस जगत् की सूचिट का क्या प्रयोगन है ? कीड़ा के बश वह जगत् को रखना करता है तो उसके प्रभुता नहीं रहती, इत्यादि विकल्प उठाकर परमहार्ह का निषेध किया गया है।

### लघु अनन्तशीर्ष के उत्तरवक्त्रीं जैन व्याय प्रथकार

**हेमचन्द्र**—हेमचन्द्र (वि० सं० ११४५—१२२८) बहुमुखी प्रसिद्धा के अनी आचार्य थे। व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, काव्य, चरित्र, न्याय आदि प्रत्येक विषय पर इन्होंने विद्वास्पूर्वक ग्रन्थ लिखे। इनका सुप्रसिद्ध दर्शनिक ग्रन्थ प्रमाण-मीमांसा अत्यन्त महसूपूर्ण है। हेमचन्द्र के सामने जैनाचार्यों की एक लम्बी परंपरा थी। प्रमाणमीमांसा का दर्शनिक आधार इन जैनाचार्यों की रचनायें हैं। प्रमेयरत्नभाला का इस पर विशेष प्रभाव है। प्रमाणमीमांसा के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अयोग्यवच्छेदिका तथा अन्यथोग्यवच्छेदिका नामक दो द्वारित्रिकायें भी लिखीं। इसमें से अन्यथोग्यवच्छेदिका पर मलिलधेण ने स्वाहादमकुरी टीका भी लिखी है, जो न्याय के अध्येताओं में लोकप्रिय है।

**यशोविजय**—विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के विद्वान् उपाध्याय यशोविजय का नाम नव्यन्याय की दीली में लिखले थाले जैन नैयायिकों में अग्रगण्य है। इन्होंने असेकान्त व्यवस्था नामक ग्रन्थ नव्यन्याय की दीली में लिखकर असेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। प्रमाणशास्त्र पर जैनत्कंभाषा और ज्ञानविन्दु लिखकर जैन परम्परा का गोरख अहासा। नय पर भी नयप्रदीप, नयरहस्य

१. दत्त तथा चाट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन दू० २०६।

और नयोपदेश आदि प्रस्तुत किये। नयोपदेश पर इन्होंने नयामूलतनरंगिणी नामक स्वोपन दीका भी लिखी। इसके अतिरिक्त अष्टमहस्त पर अपना विवरण लिखा। हरिभद्र कृन शास्त्रवात्मिमुच्चय पर स्पाद्याद कल्पलता नामक दीका भी लिखी। भाषा रहस्य, प्रमाण रहस्य, बाद रहस्य आदि अनेक प्रस्तुतों के अतिरिक्त जैन न्यायखण्ड शास्त्र और न्यायालोक लिखकर नवीन शैली में ही नैत्रायिकादि दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन भी किया। दर्शन के अतिरिक्त इन्होंने पोरा, आचारशास्त्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे। गुजराती में भी इसके द्वारा साहित्य लिखा गया<sup>३</sup>।

### आभार प्रदर्शन

प्रमेयरत्नमाला जैनदर्शन के पाद्यकाम में अनेक रूपान पर विवरित है। कई वर्षों से वह बाजार में अनुपलब्ध थी, असः शाश्व कठिनाई का अनुभव कर रहे थे। उनकी कमी का अनुभव कर पूज्य १०८ उत्थानदाय श्री भरतमानार जी महाराज ने इसकी हिन्दी दीका लिखने का आदेश दिया। उनकी आशा की शिरोकार्य कर मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया। न्याय का ग्रन्थ होने थीं और गच्छकार द्वारा संक्षेप में बात कह देने की प्रवृत्ति के कारण कुछ लोगों के अनुसार लघुसम्पत्तभद्र कृत दिप्पण के कारण सारी समस्या सुलझ गई। यह दिप्पण न होता सो किसी के लिए भी अनुवाद करना कठिन था। स्व० पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा किए हुए अनुवाद से अनेक जगह ग्रन्थ को समझने में मदद मिली। जहाँ-जहाँ मैंने विशेषार्थ किये हैं, वे प्रायः दिप्पण के आधार से ही लिखे गए हैं। कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थों का भी महारा लिया है, जिसका निर्देश पादटिप्पणी में कर दिया गया है। प्रस्तावना लेखन में भी अनेक लेखकों के ग्रन्थों का उपयोग हुआ है। न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी, प्रद्येश गुरुसर पं० कीलाचाचन्द्र जी शास्त्री, पं० बलसुख जी भालवणिया डॉ० लालबहादुर जी शास्त्री डॉ० नेत्रिकन्द्र जी शास्त्री, डॉ० दरबारी लाल जी कोठिया न्यायाचार्य, डॉ० उदयचन्द्र जी नवीदर्जनाचार्य, डॉ० मीहनलाल जी मेहता प्रभुति आधुनिक विद्वानों की कृतियों के महारे प्रस्तावना लिखी जा सकी है। उपर्युक्त सब मनोविद्यों का मैं हृदय से आभासी हूँ। उन प्राचीन आचार्यों के प्रति मैं हाविक अद्वा से नतमहस्त हूँ, जिन्होंने दर्शनमूलस्तरों की समीक्षा कर अनेकाम्पवाद की दुष्कृति बतायी और जैनधर्म तथा दर्शन का उच्छोत किया।

१४-१२-१९९१ ई०

रमेशचन्द्र जैन

१. डॉ० मीहनलाल मेहता : जैनदर्शन पृ० ११५

## सहायक अन्थ सूची

१. पंचासितकार्य—आचार्य कुमुदकुमुद
२. समयसार—आचार्य कुमुदकुमुद
३. माध्यधिक कारिका—आचार्य नागार्जुन
४. सम्मति तर्क—आचार्य सिद्धसेन
५. न्याय विविषणविवरण—सम्पादक—प० महेश्वरकुमार न्यायाचार्य
६. स्थापाद मझरी—मलिखेण
७. सिद्धि विविषण—सम्पादक—प० महेश्वरकुमार
८. शास्त्र बार्ता समुच्चय—ब्र० हरिभद्र सूरि
९. प्रभाग परीक्षा—आचार्य विश्वानन्द
१०. वालभीमांसा-स्वतंत्रदीपिका—प्रो० उदयचन्द्र जैन
११. न्याय कुमुदकुमुद—सम्पादक प० महेश्वरकुमार न्यायाचार्य
१२. प्रमेयरत्नभाला—श्रीमललचू अनन्तकार्य  
हिन्दी अंग० प० हीरलाल शिद्धानन्दशास्त्री
१३. मनुस्मृति—मनु, सम्पादक एवं अनु० डॉ० जयकुमार जैन
१४. अष्टसहस्री—आचार्य विश्वानन्द, अनु० आधिका ज्ञानभसी जी
१५. आचार्य कुमुदकुमुद और उनका समयसार—डॉ० लालबहादुर शास्त्री
१६. आगम युग का जीनदर्शन—प० बलसुख मालदण्डी
१७. प० बाबूलाल जैन जमादार अभिनन्दन अन्थ
१८. तीर्थकर महानोर और उनकी आचार्य परम्परा—डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री
१९. जैन न्याय—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री
२०. जीनदर्शन—डॉ० भीमललाल भेहता
२१. दर्शन और चिन्तन—प० सुखलाल संघवी
२२. समदर्शी आचार्य हरिभद्र—प० सुखलाल संघवी
२३. वैदिक साहित्य का इतिहास—डॉ० कुंवरलाल जैन
२४. सारतीय वर्णन—श्री सतीशकन्द्र चाहूपालयाय एवं श्रीरेण्ड्र भोहन दत्त



## विषयानुक्रमणिका

<b>प्रमाण सम्बन्धेता</b>	<b>१-२८</b>
प्रमाणाचरण	१
प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण कहने की प्रतिक्रिया	४
संतोषजनक, अभिधेय और प्रयोजन का कथन	६
प्रमाण का लक्षण	१०
प्रमाण के लक्षण में ज्ञान विशेषण का समर्थन	१३
ज्ञान विशेषज्ञात्मक है	१४
अपूर्वार्थ का लक्षण	१६
सांख्यवसाय का लक्षण	१७
ज्ञान का प्राप्तार्थ	२१
<b>विशेष सम्बन्धेता</b>	<b>२९-५२</b>
प्रमाण के भेद	२९
प्रस्तुति और परोक्ष प्रमाण	३०
प्रस्तुति का लक्षण	४२
वैश्वानि का लक्षण	४३
सांख्यवहारिक प्रस्तुति	४५
अर्थ और आलोक सांख्यवहारिक प्रस्तुति के कारण नहीं हैं	४७
ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है	४८
योग्यता से पदार्थों के ज्ञानने की व्यवस्था	४९
कारण होने से पदार्थ परिच्छेद है, इसका निराकरण	५१
मुहूर्य प्रस्तुति	५१
व्याख्यण सहित और इन्द्रिय जनित मानने पर ज्ञान का	५२
प्रतिबन्ध सम्भव	५२
सर्वज्ञता पर शक्ता	५२
सर्वज्ञता का समर्थन	५४
नेयाधिकों की सृष्टिकर्त्तुत्व विषयक भान्यता	५४
नेयाधिकों की भान्यता का निराकरण	५५
ज्ञान के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अन्तर्गत	५५

सूक्ष्मीय समुद्रवेश	८५-१५६
परोक्ष का लक्षण	८६
परोक्ष के भेद	८६
समृद्धि का लक्षण	८७
प्रस्तुतिस्थान का लक्षण	८८
अहु प्रमाण	८९
अनुमान प्रमाण	९०
हेतु का लक्षण	९१
अविनाभाव का लक्षण	९१
सहभाव	९२
अभभाव	९३
साध्य का लक्षण	९२
अस्तित्व विशेषण की सार्थकता	९२
इष्ट और अवाधित विशेषणों के ग्रहण का कारण	९३
पक्ष	९४
विकल्प सिद्ध धर्मों में सत्ता और असत्ता दोनों ही साध्य हैं	९४
प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मों में साध्यधर्म से विशिष्टता	९८
ध्याप्तिकाल में धर्म ही साध्य होता है	९९
गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग	१००
पक्ष और हेतु दोनों ही अनुमान के अंग हैं	१०१
उदाहरण साध्य की जानकारी का अंग नहीं है	१०२
उपनय और निगमन अनुमान के अंग नहीं हैं	१०६
समर्थन ही हेतु का व्याख्यात रूप है	१०७
बालकों की व्युत्पत्ति के लिए उदाहरणादि हैं	१०७
अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त	१०८
उपनय	१०९
निगमन	१०९
स्वार्थ और परार्थनिमान	११०
उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतु	११२
अस्तित्व साध्य होने पर अविरुद्धोपलब्धि के छह भेद	११३
कारण के व्यापार के आश्रित ही कार्य का व्यापार	११६
सहचर हेतु का स्वभाव, कार्य और कारण हेतु में अस्तमधि नहीं होता है	११६

प्रतिक्षमधि धीर्घ अवधि	११८
कार्य हेतु	११८
कारण हेतु	११९
पूर्वानुपलब्धि हेतु	११९
उत्तरानुपलब्धि हेतु	१२०
सहज लिंग	१२०
विश्वानुपलब्धि के भेद	१२०
अविश्वानुपलब्धि के भेद	१२१
विभिन्न के अस्तित्व को सिद्ध करने में विश्वानुपलब्धि के भेद	१२२
तशोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति	१२३
आनंद का स्वरूप	१२४
मीमांसकों की आपत्ति	१२५
मीमांसकों का निराकरण	१२५
सम्बादि वस्तु का ज्ञान कराने के कारण है	१२७
अन्यापोह का निराकरण	१२८
<b>अनुर्ध्व तनुषेष</b>	<b>१२८-१२९</b>
प्रभाण का विषय	१२८
सांख्याभिमत प्रधान तथा उसका निराकरण	१२८
बौद्धों के अनुसार विशेष ही वस्तु का स्वरूप है	१२९
बौद्धों का निराकरण	१३१
अधिकरण का निराकरण	१३१
परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेष की मान्यता वाले योगों का	१३२
निराकरण	१३२
अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन हेतु हेतुद्य	१४१
दो प्रकार का सामान्य	१४२
विशेष के दो भेद	१४३
पर्याय	१४३
आत्मा के व्यापकपने का निराकरण	१४४
आत्मा के पृथिक्यादिचतुष्टय रूप होने की असम्भावना	१४५
व्यतिरेक	१४८
<b>प्रभाण तनुषेष</b>	<b>१५०-१५१</b>
प्रभाण के फल	१५०
फल प्रभाण से के अधिकत् अभिन्न है और कथित् अन्न है	१५०

शब्द समुद्रवेश	प्रदेशरत्नमालायी
प्रमाण के स्वरूपाभास	१९२
प्रत्यक्षाभास	२००
परोक्षाभास	२००
स्मरणाभास	२००
प्रत्यक्षितानाभास	२०१
तक्काभास	२०१
अनुमानाभास	२०१
पक्षाभास	२०२
हेत्वाभासों के भेद	२०४
दृष्टान्ताभास	२०५
बालप्रयोगाभास	२११
आधमाभास	२१२
सेव्वाभास	२१३
विषयाभास	२१६
फलाभास	२१८
जपने पक्ष के साधन और परपक्ष के दृष्टि को व्यवस्था	२२०
नवीं का विकेचन	२२१
वाद का लक्षण	२२८
पक्ष का लक्षण	२२९
सुन्नकार का अन्तिम इलोक	२३६
टीकाकार की प्रशस्ति	२३८

श्रीः

## प्रमेयरत्नमाला

न तामरशि दोरत्न प्रभा प्रोत न खलिष्वे ।

नमो जिनाय दुवरिपारबीरमदच्छदे ॥ १ ॥

( प्रथम समुद्रेश )

सुके हुए देवों के मूकुटों के रत्नों की प्रभा से जिनके चरणों के नखों की कान्ति सुधोभित हो रही है तथा जिसका निवारण कठिन है इस प्रकार के बीर कामदेव के मद का जो छेदन करने वाले हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार हो ॥ १ ॥

विशेषार्थ—न तामरशि दोरत्न प्रभा प्रोत न खलिष्वे = प्रणाम करते हुए चार विकाय के देवों के चंचल मूकुटों में जड़े हुए भणिगणों से जिनके चरणों के नखों की कान्ति पुष्टोभित हो रही है, ऐसे जिनाय नमः—समस्त भगवान् अहंत्वारमेवकर समूह को नमस्कार हो । वे अनेक प्रकार के विषय, गृहन भव में अमण्ड के कारण पाप समूह की जीलने के कारण जिन कहुलाते हैं । 'दुवरिपारबीरमदच्छदे'—दुवरीर—अन्य वादियों के द्वारा जिन्हें जीता नहीं जा सकता है अर्थात् जिनकी शक्ति अप्रतिहत है । मां लक्ष्मी रातीति भारः—लक्ष्मीदायक अवश्यि मोक्षमार्ग के नेता । बीरः—विशेष इत्ते सकलप्रदार्थज्ञातं प्रथमही करोतीति बीरः—विशेष रूप से समस्त पदार्थों के समूह को प्रत्यक्ष करने के कारण बीर अवश्यि सर्वज्ञ या समस्त तत्त्वों के ज्ञाता हैं । मारवच असी बीरवच भारवीरः—जो मोक्षमार्ग के नेता और सर्वज्ञ हैं । मदच्छद् मदं मानकषाय छिनति विदारयति इति मदच्छद् = जो मानकषाय का विदारण करते हैं । मारवीरवचासी मदच्छद्यच्च मारवीरमदच्छद् = जो मोक्षमार्ग के नेता, सर्वज्ञ और मानकषाय के विदारक हैं । अथवा मा प्रमेय परिष्ठेदकं केवलज्ञानमेव रवि: अशेषप्रकाशत्वात्—समस्त पदार्थों का प्रकाशक होने से केवलज्ञान ही जिनका रवि ( सूर्य ) है । इय—मुदु, मधुर, गमधोर,

निहम्म हितकारी दिव्यध्वनि । इनका विश्वह इस प्रकार होगा—मारविश्व  
इरा च मारवीरे, दुर्वरि कुहेतु दृष्टान्तेनिवारयितुमयाक्ये मारवीरे यस्य स  
तथोक्तः । मद से यहाँ रागादि उपलक्षित हैं इस प्रकार मदचिछद का अर्थ  
होगा—रागादि समस्त वीषों के बिदारक ।

'नतापर' इत्यादि पद्म द्वारा अनन्तवीर्य ने मङ्गला-  
चरण किया है । मङ्गल शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हैं—मङ्गुं सुखं लातीति  
मङ्गलम्—मङ्ग अर्थात् सुख का जो लाए वह मङ्गल है । मले गालयति  
इति मङ्गलम्—अर्थात् जो कर्म मल का विनाश करे, वह मङ्गल है । मङ्गल  
स्वरूप आचरण मङ्गलाचरण है । कहा भी है—

आदी मध्येऽवसाने च मङ्गलं भावितं दुर्धैः ।

तज्जनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविद्वन्प्रसिद्धये ॥ ( धबला १-१०१ )

आदि, मध्य और अन्त में आने वाले विषों का नाश करने के लिए  
जिहानों में उक्त तीनों ही स्वानों पर मङ्गल कहा है और वह मङ्गल  
जिनेन्द्र का गुणस्तब्दन है ।

मङ्गलाचरण के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—

- १—नासिकता परिहार ।
- २—शिडाचार परिषोळन ।
- ३—पूण्य सम्प्राप्ति ।
- ४—निविष्ण शास्त्र व्युत्पत्ति, परिसमाप्ति ।

प्रथम—मङ्गल करके आरम्भ किए गए कार्यों के कहीं पर विष्ण  
पाए जाने से और उसे न करके भी प्रारम्भ किए गए कार्यों के कहीं पर  
विष्णों का अभाव देखे जाने से जिनेन्द्र नमस्कार विष्ण विनाशक नहीं है ?

उत्तर—वह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जिन व्याधियों की औषधि  
की गई है, उनका अविनाश और जिनकी औषधि नहीं की गई है, उनका  
विनाश देखे जाने से व्यापार ज्ञात होने पर भी काली मिरच आदि  
इव्यों में औषधित्व गुण पाया जाता है ।

प्रश्न—औषधियों का औषधित्व तो इसलिए नह नहीं होता कि  
असाध्य औषधियों को छोड़कर केवल साध्य व्याधियों के विषय में ही  
उनका व्यापार साना भया है ?

उत्तर—तो जिनेन्द्र नमस्कार भी ( उसी प्रकार ) विष्ण विनाशक  
साना जा सकता है; क्योंकि उसका भी व्यापार असाध्य विष्णों के कारण-  
भूत कर्मों को छोड़कर साध्य विष्णों के कारणमूरा कर्मों के विनाश में

अकलङ्कुवचोऽभोधेरुद्धे येन धीमतः ।  
 न्यायविद्यामृतं तस्यै नमो माणिक्यनन्दिने ॥ २ ॥  
 प्रभेन्दुवज्जनोदारञ्जन्दिकाप्रसरे सति ।  
 मादृशाः क्व तु गण्यते ज्योतिरिज्जगसमिभाः ॥ ३ ॥  
 तथापि तद्वचोऽपूर्वरञ्जनारुचिरं सताम् ।  
 चेतोहरं भूतं वदुवद्या लवधटे जलम् ॥ ४ ॥

देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि ( सत्याधि ) औषध के समान जिनेन्द्र नमस्कार नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार निर्विघ्न अस्ति के होते हुए न अल सकने योग्य ईर्धनों का अभाव रहता है ( अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार के ईर्धन भर्म हो जाते हैं ), उसी प्रकार उक्त नमस्कार के ज्ञान व ध्यान की सहायता युक्त होने पर असाध्य विघ्नोत्पादक कर्मों का भी अभाव होता है ( अर्थात् सब प्रकार के कर्म विनष्ट हो जाते हैं ) तब्दी ज्ञान ध्यानात्मक नमस्कार को उत्कृष्ट एवं मन्द अद्वानयुक्त नमस्कार को जड़न्य जानना चाहिए। शेष असंख्यात लोक प्रमाण भेदों से मिल नमस्कार भव्यतम है और वे सब सभान फल वाले नहीं होते; क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है ( धर्मला २०४, १, ११५, १ ) ।

आपने जो यह कहा है कि मंगल करने या न करने पर भी ( निविज्ञाता का अभाव या सद्भाव दिखाई देने से ) वही व्यभिचार दिखाई देता है, सो यह कहना अयुक्त है; क्योंकि जहाँ देवता नमस्कार दान, पूजादि रूप धर्म के करने पर भी विघ्न होता है, वही वह पूर्वकृत पाप का ही फल जानना चाहिए, धर्म का दोष नहीं और जहाँ देवता नमस्कार दान पूजादि रूप धर्म के अभाव में भी निविज्ञाता दिखायी देती है, वह पूर्वकृत धर्म का ही फल जानना चाहिए, पाप का अर्थात् भङ्ग न करने का नहीं। ( पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति १६०४ ) ।

जिस बुद्धिमान् माणिक्यनन्द ने भट्ठ अकलङ्कु स्वामी के वचन रूप समुद्र से न्यायविद्यारूप अमृत को प्रकट किया, उन माणिक्यनन्द आचार्य को हमारा नमस्कार हो ॥ २ ॥

प्रभाचन्द्र नामक आचार्य के वचन रूप उदार चर्दिनी का प्रसार होते हुए जुगनु के समान अल्प बुद्धि रूपो ज्योति के धारक हृषि जैसे लोगों की गणना कहीं सम्भव है ? अर्थात् कहीं सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

तथापि जिस तरह नदी का नए घड़े में भरा हुआ जल सज्जनों के छिल का हरण करने वाला होता है, उसी प्रकार प्रभाचन्द्र के वचन

वैजेयप्रियपुत्रस्य हीरपस्थोपरोधतः ।

शान्तिवेणार्चमारथधा परीक्षामुखपञ्जिका ॥ ५ ॥

श्रीमन्त्यायाचारत्पारत्सामेधप्रसेयरत्नसाशक्त्यावगाहनमव्युत्पन्नैः कतु न पार्यत  
इति तदवगाहनाय प्रोत्प्राप्यमिदं प्रकरणमाचार्यः प्राह । तत्प्रकरणस्य च सम्बन्धान-  
दिग्भाषापरिज्ञाने सति प्रेक्षावत्तां प्रवृत्तिर्न स्थादिति तत्प्रयामुवादपुरस्तारं वस्तुनिर्देश-  
परं प्रतिज्ञाकलोकमाह—

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।

इति वक्त्वे तथोर्लक्ष्यम् सिद्धमल्पं लघीयसः ॥ ५ ॥

ही मेरी अपूर्व रचना में भरे जाने पर सज्जनों के मन का हुरण करेंगे ॥ ५ ॥

वैजेय के प्रिय पुत्र हीरप के अनुरोध से शान्तिवेण नामक शिष्य के  
पढ़ने के लिए यह परीक्षामुखपञ्जिका प्रारम्भ की गई है ॥ ५ ॥

बाधारहित होने रूप लक्षण से युक्त अथवा अद्वानादि गुणों को  
उत्थन्न करने रूप लक्षण से युक्त अथवा पूर्वाधार विरोध से रहितपने  
रूप लक्षण वाली श्री से युक्त, ऐसा जो नव प्रमाण रूप युक्ति का प्रति-  
पादन करने से युक्तिशास्त्ररूप न्याय वाला अपार समुद्र है तथा जिसमें  
अप्रमेय ( जिसकी गणना नहीं की जा सकती ) रत्नों का सार है, उसके  
अवगाहन करने के लिए युक्तिशास्त्र के संस्कार से रहित जो अव्युत्पन्न  
पुरुष हैं, वे असमर्थ हैं अतः उस युक्तिशास्त्र रूप समुद्र में अवगाहन के  
लिए जहाज के समान इस परीक्षामुख ग्रन्थ को आचार्य माणिक्यनन्दी  
ने कहा है । उस परीक्षामुख प्रकरण के सम्बन्धादि तीन ( सम्बन्ध, अभिधेय  
और शक्यानुष्ठान रूप दृष्ट प्रयोजन ) के जाने विना विचार करने में  
अतुर चित्त वालों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती अतः उक्त अर्थ के पुनः  
कथन रूप तीनों के अनुवाद पूर्वक वस्तु का निर्देश करने वाले अर्थात्  
प्रमाण और प्रमाणाभास रूप अभिधेय का कथन करने वाले प्रतिज्ञा श्लोक  
को कहते हैं । ( वर्तमान का अङ्गीकार प्रतिज्ञा है ) ।

इलोकार्थ—प्रमाण से अर्थात् सम्यक् ज्ञान से अर्थ की सम्यक् प्रकार  
सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से अर्थ की सम्यक् प्रकार सिद्धि नहीं  
होती है । इसलिए मैं प्रमाण और प्रमाणाभास का प्रसिद्ध संक्षिप्त लक्षण  
कनिष्ठजनों प्रथात् मन्दवृद्धियों के लिए कहूँगा ॥ ६ ॥

विशेष—यद्यपि अर्थ शब्द विषय, मोक्ष, शब्द वाच्य, प्रथोजन,  
अवहार, धन, शास्त्र इत्यादि अनेक अर्थों में प्रसिद्ध है तथापि यहाँ इसकी

अस्यार्थः—अहं वक्ष्ये प्रतिपादयिष्ये । कि तत् ? लक्ष्म लक्षणम्<sup>१</sup> । किंचिं शिष्टं लक्ष्म ? सिद्धम्, पूर्वचार्यप्रसिद्धत्वात् । पुनरपि कथम्भूतम् ? अल्पम्, अल्प-प्रथमा अवश्यत्वात् । ग्रन्थतोऽल्पपर्याप्ततात्मा महदिस्वर्यः । कान् ? लघीयसो विनेधानु-द्विवश्य । लाघवं मतिकृतमिह गृह्णते, न परिमाणकृतं नापि कालकृतम्, तस्य<sup>२</sup> प्रति-पादात्मव्यभिचारात्<sup>३</sup> । क्योऽनललक्ष्म ? तयोः प्रमाण-तदाभासयोः । कुमः ? यतोऽर्थस्य परिच्छेदस्य संविद्धिः सम्प्राप्तिर्जित्वा भवति । कस्मात् ? प्रमाणात् । न

बुद्धिति है—‘अयंते गमयते ज्ञायते यः सोऽर्थः’—जिसे जाना जाता है, वह अर्थ है । जो जैसा नहीं होने पर भी उसके समान प्रतिभासित होता है वह तदाभास है । अपनी सचिं से मैं प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण नहीं कह रहा हूँ, अपितु इनका पूर्वचार्यों द्वारा प्रसिद्ध लक्षण कह रहा हूँ, एतदर्थ सिद्ध यह विशेषण दिया है । शिष्टप्रेषण के परिहार के लिए अलग यह विशेषण दिया है । लघीयसः से तात्पर्य मन्दमतियों को है ।

इसका अर्थ है—मैं प्रतिपादन करूँगा । वह क्या ? लक्ष्म = लक्षण । वह लक्षण कैसा है ? सिद्ध है; क्योंकि पूर्वचार्यों से प्रसिद्ध है । पुनः कैसा है । अल्प है; क्योंकि अल्प शब्दों से रचे गए ग्रन्थ के द्वारा कहा गया है । यद्यपि वह लक्षण ग्रन्थ की अपेक्षा अल्प है तथापि अर्थ की अपेक्षा महात् है । यह लक्षण किनके लिए कहा जा रहा है ? लघु शिष्यों को लक्षण करके । कहीं पर लाघव बुद्धि की अपेक्षा ग्रहण किया जाता है । परिमाण-कृत और कालकृत नहीं; क्योंकि उसका प्रतिपाद्य शिष्य के साथ व्यभिचार देखा जाता है । तात्पर्य यह कि लाघव तीन प्रकार का है—मतिकृत, काल-कृत और कायपरिमाणकृत । इनमें से अन्त के दो लाघव ग्राह्ण नहीं हैं; क्योंकि उन दोनों का प्रतिपाद्य शिष्य के साथ व्यभिचार देखा जाता है । कालकृत लाघव को मानें तो आठ वर्ष के ज्ञान सम्पन्न संघर्ष से व्यभिचार दोष आ जाता है । कालकृत लाघव ग्रहण करें तो जिसे शास्त्र विदित है, ऐसे कुबड़े आदि से व्यभिचार देखा जाता है । अर्थात् किनने ही कुबड़े अधिक ज्ञानी दिखाई देते हैं । किनका लक्षण कहा जायगा ? प्रमाण और प्रमाणाभास का । कैसे ? क्योंकि ज्ञेय पदार्थ की भले प्रकार सिद्धि, सम्प्राप्ति अथवा जप्ति होती है । किससे ? प्रमाण से । प्रमाण से केवल

१. व्यतिकौर्णवस्तुव्यावृत्तिलेतुर्लक्षणम् ।

२. शिष्टप्रत्यय ।

३. साध्याभासे प्रदर्शनानो हेतुव्यभिचारो भवति ।

ननु सम्यक्षाभिवेकशक्तानुष्ठानेष्टप्रयोजनवत्ति हि शास्त्राणि भद्रन्ति ।  
४८त्रास्य प्रकरणस्य यावद्भिवैर्यं सम्बन्धो वा नाभिवीयते, न तावदस्योपादेयत्वं  
भविन्तुमहीयः एष वस्त्रासुती यानीत्यादिवाक्यवल्, इति दाढिमादिवाक्यवच्च ।  
तथा शक्यानुष्ठानेष्टप्रयोजनमधि शास्त्रादावयव्यं वक्तव्यमेव, अशक्यानुष्ठानेष्ट-  
प्रयोजनस्य सर्वाभ्यरहरतकक्षुडारत्नालक्ष्मीरोपदेशस्येव प्रेक्षाददिभरनादरणीय-  
त्वात् । तथा शक्यानुष्ठानस्याप्यनिष्टप्रयोजनस्य विद्वद्दिभरवधीरणा<sup>३</sup> न्मातुविवाहा-

पदार्थ का सम्यक् सिद्धि ही नहीं होती है, विषयीय भी होता है—अर्थ की सम्यक् प्रकार की सिद्धि का अभाव होता है। कैसे? तदाभास—प्रमाणाभास से। इति शब्द हेतु वर्ण में है—इति हेतोः—इस कारण यहाँ यह समदायार्थ है—नौकि प्रमाण से वर्ण की भले प्रकार सिद्धि होती है, और प्रमाणाभास से विषयीय होता है अतः प्रमाण और प्रमाणाभास का लक्षण में कहेंगा।

**शक्ता**—शास्त्र निश्चित रूप से सम्बन्ध, अभिधेय और शक्यानुष्ठान—इस्ट प्रयोजन वाले होते हैं। इनमें से इस प्रकरण का जब तक अभिधेय अथवा सम्बन्ध नहीं कहा जायगा, तब तक इसकी उपादेयता होनी थोग्य नहीं है। जैसे—यह खरधोष के सींग का धनुष धारण करने वाला, आकाश कुसुम का सेहरा धारण किए हुए वन्द्या का पुत्र मृगतुण्णा में स्नान कर जा रहा है। यहाँ पर सम्बन्ध है। किन्तु अभिधेयत्व नहीं है। दृश्य अन्तर हैं। छः पूर्वा हैं, यह बकरे का चमड़ा है। इन वाक्यों में अभिधेयत्व होने पर भी सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार शास्त्र के आदि में शक्यानुष्ठान—इस्ट प्रयोजन भी अवश्य कहना चाहिए; क्योंकि जो बाल इस्ट प्रयोजन वाली होते हुए भी अशक्यानुष्ठान हो अर्थात् जिसका अनुष्ठान करना सम्भव न हो, वह भी बुद्धिमानों के द्वारा आदरणीय नहीं होती है। जैसे किसी पुरुष से यह कहना कि तथक नाग के मस्तक के मणि का अलच्छार धारण करने से समस्त ज्वर रोग दूर हो जाते हैं। जो बाल शक्यानुष्ठान होते हुए भी अनिष्ट प्रयोजन वाली होती है, वह

१. इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादिसमाप्तिषु ।
  २. एवं सति विषु ।
  ३. अनादिरण्यीयत्वात् ।

द्विप्रशक्ति वास्यददिति । सत्यम्<sup>१</sup>, प्रमाण-तदाभासपदोपादानादभिधेयभिहितमेव, प्रमाण-सदाभासयोरवेन प्रकरणेनाभिधानात् । सम्बन्धद्वार्थादिगतः प्रकरण सद्भिधेययोवच्चिय-वाचक भावलक्षणः प्रतीयते एव । तथा प्रयोजनं चोनलक्षणमादिष्कोक्तेय संलक्षणते । प्रथो जनं हि द्विषा भिद्यते—साक्षात्परम्परयेति । तत्र साक्षात्प्रयोजनं 'वक्ष्ये' इत्यनेनाभिधीयते, प्रथमं शास्त्रं व्युत्पत्तेरेव विनेदीतन्येयणात् । परम्परेण तु प्रयोजनमर्थसंसिद्धिरित्यनेनोच्चते, शास्त्रव्युत्पत्त्यनन्तरभावित्वादर्थसंसिद्धेरिति । मनु निःशेषदिघ्नोदशमनायेष्टदेहसामस्कारः शास्त्रकृतो कर्त्त न कृत इति न वाच्यम्; तस्य मनःकायाऽध्यामपि सम्भवात् । अथवा वाचनिकोऽपि नमस्कारोऽनेनवाचि शावरेत्वाभिहितो वेदिनःयः; केवाऽन्तिष्ठावयात्माभुभवार्थप्रति-

भी विद्वानों के द्वारा तिरस्करणीय होती है । जैसे—माता से विवाह करने के प्रदर्शक वाक्य । माता के साथ विवाह वाक्य है, किन्तु वह बुद्धिमानों के द्वारा तिरस्करणीय है ।

समाधान—आपकी बात सही है । प्रमाण और प्रमाणाभास पदों के अहण करने से अभिधेय का कथन ही ही गया; क्योंकि इस प्रकरण ग्रन्थ के द्वारा प्रमाण और प्रमाणाभास का कथन ही ही गया । और सम्बन्ध अर्थ-प्राप्त है; क्योंकि इस प्रकरण ग्रन्थ में और उसके द्वारा अभिधेय प्रमाण और प्रमाणाभास में वाच्य-वाचक भावरूप लक्षण वाला सम्बन्ध स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है । इसी प्रकार प्रयोजन भी इसी आदिम इलोक से भली भाँति लक्षित हो रहा है । प्रयोजन के दो भेद होते हैं—१. साक्षात् २. परम्परा से । ( शास्त्र व्युत्पत्ति रूप ) साक्षात्प्रयोजन 'वक्ष्ये' इस पद के द्वारा कहा गया है । विषय शास्त्र की व्युत्पत्ति का सबसे पहले अन्वेषण करते हैं । परम्परा से प्रयोजन 'अर्थ संसिद्धि' इस पद के द्वारा कहा गया है; क्योंकि पदार्थ की भले प्रकार सिद्धि शास्त्र की व्युत्पत्ति के अनन्तर ही होती है । यहाँ यह नहीं कहना चाहिए कि समस्त विद्वानों की उपलब्धिके लिए शास्त्रकार ने इष्टदेवता को नमस्कार क्यों नहीं किया; क्योंकि यह तो मन और काय से भी संभव है । अथवा वाचनिक नमस्कार भी इसी आदि वाक्य से कहा हुआ जाना चाहिए; क्योंकि कितने ही वाक्य उभय अर्थ का

१. यजुर्वेदप्रथुस्तिलक्षणे मात्ररमणि विवृणीयात् पुनकाम इति श्रुतिः ।

२. अर्धाङ्गीकारे ।

३. मतेविशेषेण संषाधादित्यवस्तुतेनोत्पत्तिः व्युत्पत्तिरिति व्युत्पत्तेर्लक्षणम् ।

## प्रभेयरत्नमालायां

पादनपरत्वेनापि दृष्टयमासत्वान् । यथा इवेतो धावति, इवेत मुण्डुको धावति' इत्यर्थद्वयप्रतीतिः । तत्रादिकाकरण्य नमस्कारपरता। अभिधीयते—अर्थस्य हेयोपादेयलक्षणस्य संसिद्धिः/प्रित्यर्थविति । कस्मात् ? प्रमाणात् । अनन्तचतुर्षट्यस्व इपात्तारज्जलक्षणा, समवसरणादिस्वभावा बहिरज्जलक्षणा लक्ष्मीमी इत्युच्यते । अणन्माणः<sup>१</sup> शब्दः, मा च आणइच माणी । प्रकृष्टी माणी यस्यासौ प्रमाणः । हरि-हरादासाभ्यविभूतियुक्तो दृष्टेऽष्टाविसद्वाक् च भगवान्नहन्त्येवाभिधीयत इत्यसाधारणगुणोपदर्शनमेव भगवतः संस्तवनमधिधीयते । तस्मात् प्रमाणात् वैष्णविभूतावर्धसंसिद्धिर्भवति, तदाभासावच्च हरि-हरादर्थसंसिद्धिर्भवति; इति हेतीः सर्वज्ञताभासयोर्लक्षण लक्षणमहं वक्ष्ये—'सामग्रीविशेषेत्यादिना' ।

अयेदानो मुपक्षिप्तप्रमाणतत्त्वे स्वरूप-नज्जुवा-विषय-फललक्षणात् चतुसुपु

प्रतिपादन करने वाले देखे जाते हैं । जैसे—'इवेतो धावति' ऐसा कहे जाने पर "इवा-(कुता) इधर दीड़ता है" और 'इवेत मुण्ड मुक्त' दीड़ता है, इस प्रकार दो अर्थों की प्रतीति होती है । आदि वाक्य की नमस्कारपरता कही जाती है—हेयोपादेय रूप लक्षण वाले पदार्थ की संसिद्धि-जप्ति है । किससे ? प्रमाण से । अनन्त चतुर्षट्य रूप अन्तरज्जलक्षण वाली और समवसरणादिस्वभावा बहिरज्जलक्षणा लक्ष्मी 'मा' कही जाती है । जिसके द्वारा कथन किया जाता है वह 'अणन्माणः शब्दः' अथवा 'अणते शब्दते येनासावाणः' व्युत्पत्ति के अनुसार आण अर्थात् दिव्यध्वनि कही जाती है । 'मा च आणइच माणी' इस प्रकार द्वन्द्व समाप्त करने पर माण शब्द बनता है । 'प्रकृष्टी माणी यस्यासौ प्रमाणः' यह प्रमाण शब्द का विग्रह है । प्र = प्रकृष्ट, माणः—अन्तर्भूत, बहिरंग लक्ष्मी और दिव्यध्वनि जिसके पायी जाय अर्थात् अरहन्त देव । इस प्रकार प्रमाण शब्द से हरि, हर आदि में जो विभूति असम्भव है तथा जिनकी वाणी प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध नहीं है, ऐसे भगवान् अहंस्त देव ही कहे जाते हैं । इस प्रकार असाधारण गुणों को प्रदर्शित करना ही भगवान् का संस्तवन कहा जाता है । अतः अवधिभूत ( प्रथम कारणभूत ) प्रमाण से अर्थ की संसिद्धि होती है और प्रमाणाभास—हरि हरादिक से अर्थ की संसिद्धि नहीं होती है । अतः सर्वज्ञ और सर्वज्ञाभास का लक्षण मैं कहूँगा—सामग्री विशेष इत्यादि से ।

अब आगे जिसका कथन प्रारम्भ किया है, उस प्रमाण तत्त्व के विषय में स्वरूप, संरूपा, विषय और फल लक्षण वाली ज्ञात विप्रतिपत्तियों के १. अणते शब्दते येनासावाणः, दिव्यध्वनिरित्यर्थः ।

विप्रतिपत्तिषु भव्ये स्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह—

भृष्य में स्वरूप विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए कहते हैं—

**विशेषार्थ—स्वरूप विप्रतिपत्ति जीमे—आहंत् अनुयायी स्वामूर्खीर्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। कपिल के अनुयायी इन्द्रिय-बृत्ति को प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर के अनुयायी प्रमाता के व्यापार को प्रमाण कहते हैं। भट्ट के अनुयायो अनविगतार्थगन्तु प्रमाणस् ऐसा कहते हैं। बौद्ध लोग अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। पीय ( न्याय-क्षेत्रीयिक ) प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। जयन्त के अनुयायी कारक साकल्य को प्रमाण कहते हैं। इन्द्रिय और गतार्थ का सम्बन्ध सम्निकर्ष है। कारकों के समूह का नाम कारक साकल्य है। लघु नैयायिक सम्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। बृद्ध नैयायिक कारक साकल्य को प्रमाण मानते हैं।**

**संख्या विप्रतिपत्ति—चावकि केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थपत्ति इन पाँच प्रमाणों को मानते हैं। भट्ट के अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थपत्ति और अभाव ये छः प्रमाण मानते हैं। पीराणिक इनके अतिरिक्त सेभव और ऐतिह्य प्रमाणों को मानते हैं। यह सब युक्त नहीं हैं। जैनों का कहना है कि प्रमाण दो प्रकार का होता है—१—प्रत्यक्ष २—परोक्ष।**

**विषय विप्रतिपत्ति—कपिल के अनुयायी और पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि प्रमाणतत्त्व का सामान्य ही विषय है, विशेष नहीं। बौद्ध कहते हैं कि प्रमाण तत्त्व का विशेष ही विषय है, सामान्य नहीं। यौवों का कहना है कि प्रमाण का विषय सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्र रूप से है। मीमांसक अभेद रूप से सामान्य और विशेष को प्रमाण का विषय मानते हैं। जैन लोग सामान्य और विशेष में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानकर सामान्यविशेषात्मक वस्तु को प्रमाण का विषय मानते हैं।**

**फल विप्रतिपत्ति—कपिल के अनुयायी और योग फल को प्रमाण से भिन्न मानते हैं। बृद्ध के अनुयायी प्रमाण से फल को अभिन्न ही मानते हैं। जैन कहते हैं कि प्रमाण से फल कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है।**

### स्वापूर्वर्थिद्यवसायत्त्वकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥ ११ ॥

प्रक्षेपेण संशयादिव्यवच्छेदेन भीयते परिच्छिथते वस्तुत्त्वं येन तत्प्रभावम् । तस्य च ज्ञानमिति विशेषणमज्ञानस्थित्य १सन्निकषदिर्नेत्रायिकादिपरिकल्प-तत्त्वं प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थमुक्तम् । तथा ज्ञानस्यापि ऋत्सवेदनेन्द्रियसनोयोगिप्रत्यक्षस्थ निविकल्पस्य प्रत्यक्षतत्त्वस्य प्राप्तार्थं सौरते: परिकल्पितम्, तन्निरासार्थं व्यवसायात्मकग्रहणम् । तथा बहिरपिह्नोत्पाणी<sup>३</sup> विज्ञानाद्वैतवादिनां पुरुषाद्वैतवादिनां पश्यतोहराणां<sup>४</sup> शून्यकान्तवादिनाऽन्त्र विषयमिद्यवृद्धासार्थमर्थग्रहणम् । अस्य चापूर्वविशेषणं गृहीत्याहिधारावाहिज्ञानस्य प्रमाणतागरिहरार्थमुक्तम् । तथा परोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानामस्वसंबेदनज्ञानवादिनां सांख्यानां ज्ञानान्तरप्रत्यक्षज्ञानवादिनां गौणानाऽन्त्र सत्त्वप्रकाशम् स्वप्नवोपादानम् । इत्याद्याद्यतित्याप्त्यसम्भवदोषपरिहार-

**सूत्रार्थ—**अपने आपके और अपूर्वर्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ॥ १ ॥

जिसके द्वारा प्रकर्ष से संशय आदि ( आदि व्यष्टि से विषय और अन्यवसाय का ग्रहण होता है ) के निराकरण से वस्तुत्त्वं ज्ञाना जाय, वह प्रमाण है । सूत्र में ज्ञान यह विशेषण नैयायिकादि के द्वारा परिकल्पित सन्निकषादि के प्रमाणत्व के निराकरण के लिए कहा गया है । बीदों ने ऋत्सवेदन, इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मनो प्रत्यक्ष और योगि प्रत्यक्ष रूप निविकल्प प्रत्यक्ष रूप ज्ञान का प्राप्तार्थ कलिपत्र किया है, उसके निराकरण के लिए व्यवसायात्मक पद का ग्रहण किया है । बाह्य पदार्थ का अपलाप करने वाले विज्ञानाद्वैतवादी तथा पुरुषाद्वैतवादी एवं देखते हुए भी अनादर करके लोप करने वाले शून्यकान्तवादियों की विपरीतता का निराकरण करने हेतु अर्थ पद का ग्रहण किया है । सूत्र में जो अपूर्व विशेषण कहा गया है, वह गृहीत्याहिधारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए कहा गया है । तथा परोक्षज्ञानवादी मीमांसक, अस्त्वसवेदनवादी सांख्य, ज्ञानान्तर प्रत्यक्ष ज्ञानवादी धौष (न्याय-वैशेषिक) के मत का निराकरण करने के लिए स्व पद का ग्रहण किया है । इस प्रकार अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष का निराकरण करने से प्रमाण का लक्षण

१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः । कारकाणां समूहः कारकसाक्षयम् । लघुनैयायिकानां सन्निकर्षो जरन्नैयायिकानां कारकसाक्षयम्, कापिलानामिन्द्रियवृत्तिः प्राक्काराणां ज्ञातुव्यापारोऽज्ञानंकृपोऽपि ।

२. अपलापिनाम् ।

३. पश्यन्तमनादृत्य हस्तिणाम् ।

रात् सुध्यवस्थितमेव प्रमाणलक्षणम् । अस्य च प्रमाणस्य यथोक्तलक्षणस्ये साध्ये प्रमाणत्वादिति हेतुरश्रीव इष्टव्यः, प्रथमान्तर्स्यापि हेतुपरत्वेन निर्देशोपासीः; प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं इत्यादिवत् ।

सुध्यवस्थित है । इस प्रमाण के यथोक्तलक्षणत्व के साध्य होने पर प्रमाणत्व यह हेतु यहीं देखना चाहिए । प्रमाण पद प्रथमान्तर होने पर भी इसका हेतु इस त्रिविक्षिति है । ऐसे 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं'—विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है । यहीं प्रत्यक्ष धर्मी है, विशद ज्ञान साध्य है और प्रत्यक्षत्व हेतु है । दिग्पणकार ने एक अन्य उदाहरण दिया है—'गुरुको राजमाता न अखण्डीया' यहीं प्रथमान्तर होने पर भी गुरुत्वाद्, यह हेतु है ।

**विशेष—**'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्' इस सूत्र में सम्यग्ज्ञानीं का सामान्य ज्ञान पद से संग्रह होने से हेतु हेतुमदभाव के ज्ञापन के लिए 'ज्ञानम्' यह प्रथक् पद है । ज्ञान प्रमाण होने के योग्य हैं अपोक्ति वह अपने आपके और अपूर्वार्थी का निश्चय कराने वाला होने के कारण । यहीं पर 'ज्ञानम्' इस विशेषण से अवशास्त्रित दोष का परिहार है । 'व्यवसायात्मकम्' इस विशेषण से अतिव्याप्ति का निराकरण होता है । स्व पद से असम्भव दोष का निराकरण होता है ।

सामान्य का प्रत्यक्ष होने और विशेष का प्रत्यक्ष न होने तथा विशेष की स्मृति से संशय होता है ।

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्ति कर्य है । कारकों का समूह कारक साकल्य है । लघुनीयाधिक सन्निकर्ण और वृद्धनीयाधिक कारक—साकल्य मानते हैं । सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण मानते हैं । प्रमाणकर के अनुवादी अज्ञान रूप भी ज्ञात्यापार को प्रमाण मानते हैं । दोढ़ीं के अनुसार इन्द्रिय का ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है । जो इन्द्रिय के अश्रित ( इन्द्रियजन्य ) है, वह प्रत्यक्ष ( इन्द्रिय ज्ञान कहलाता है ) । समस्त चित्त ( विज्ञान ) और चैत्त ( विशेष अवस्था का ग्रहण करने वाले सुख आदि ) पदार्थी का आत्मसेवेन ( या स्वसेवेन ) प्रत्यक्ष होता है । अपने ( स्व = इन्द्रिय के ) विषय ( क्षण ) के अनन्तर होने वाला ( समानं जातीय द्वितीय क्षण ) है सहकारी जिसका ऐसे इन्द्रिय ज्ञान द्वारा समन्वत्तर प्रत्यक्ष के रूप से उत्पादित ज्ञान मनोविज्ञान ( नामक प्रत्यक्ष ) है । यथार्थ वस्तु ( क्षणिक वस्तु ) को भावना के प्रकर्ष पर्यन्त से उत्पन्न होने वाला योग्यियोऽनु ज्ञान योग्यप्रत्यक्ष है ।

तथा हि—प्रमाणं स्वापूर्वीर्थवसायात्मकं ज्ञानं भवति, प्रमाणत्वात् । यतु स्वापूर्वीर्थवसायात्मकं ज्ञानं न भवति, न तत्प्रमाणम्, एवा 'संशयादिर्थटादिवत् । प्रमाणश्च मिवादापन्नम्'<sup>१</sup> । तस्मात्स्वापूर्वीर्थवसायात्मकं ज्ञानमेव भवतीति । न च प्रमाणत्वमनिष्टम्; सर्वप्रमाणस्वरूपदादिनां प्रमाणसामान्ये विप्रतिपत्त्यभावात्, अन्यथा स्वेष्टानिष्टसाधनं दूषणायोः॥३॥

अथ वर्णिण एव हेतुन्ये प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्धो हेतुः स्यादिति चेन्न; विशेष धर्मिणं कृत्वा मामान्यं हेतुं द्रुवता दीप्ताभावात् ।

'एतेनापेक्षधर्मत्वमपि प्रस्तुतम्, सामान्यस्याशेषविशेषमिष्टत्वात् । न च पक्षधर्मताबलेन हेतौर्गमकल्पम्, अपि त्वन्यथानुपरप्ति'<sup>२</sup>बलेनेति । सा चात्र नियम-वसी<sup>३</sup> विषये वाचकप्रमाणब्रह्मानिष्टिकर्त्तव्य

स्वापूर्वीर्थवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाण है; क्योंकि उसमें प्रमाणता पायी जाती है । जो स्वापूर्वीर्थवसायात्मकं ज्ञानं नहीं होता है, वह प्रमाण नहीं है । जैसे—संशयादिकं तथा घटादिकं । ये चैकि स्वापूर्वीर्थवसायात्मक नहीं हैं, अन्तः प्रमाण नहीं हैं । प्रमाण विवाद को प्राप्त है । अतः स्वापूर्वीर्थवसायात्मकं ज्ञानं ही होता है । प्रमाणत्व असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि प्रमाण का स्वरूप कहने वाले समस्त वादियों की प्रमाण सामान्य के विषय में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है, अन्यथा अपने इष्ट तत्त्व का साधन सथा अनिष्ट तत्त्व का द्रुष्ट्वा नहीं बन सकता है ।

शब्दान्—धर्मी के ही हेतु रूप मानने पर प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्ध नामक हेत्वाभास हो गया ।

समाधान—प्रह शब्दा ठीक नहीं है । विशेष को धर्मी मानकर सामान्य का हेतु के रूप में कथन करने पर दोष का अभाव प्राप्त होता है ।

हेतु के अन्यथानुपरप्ति नियम रूप निष्वय के इस समर्थन से हेतु की अपक्षधर्मता का भी निराकरण हो गया; क्योंकि सामान्य अपने समस्त विशेषों से व्याप्त होकर रहता है । पक्षधर्मता के बल से हेतु की साध्य के प्रति गमकता नहीं है, अपितु अन्यथानुपरप्ति के बल से हो साध्य के प्रति गमकता है । वह अन्यथानुपरप्ति यहीं नियम से है । अर्थात् प्रमाणत्व

१. दीष्टम् प्रति दृष्टालः ।
२. निगमनम् ।
३. साध्याभावे साध्यमाभावः ।
४. अविनाभाववसी ।

निरस्तं शोषकवर्यम् । विश्वस्य अभिवारिणश्चाविमानावनियममिश्चयलक्षणस्याद्यो-  
पात् । अतो भवत्येव साध्यसिद्धिरिति केवलश्चित्तेरेकिणोऽधि हेतोर्गमकत्वात्,  
सात्मकं जीवचक्षुरीर्त प्राणादिमत्वादितिवत् ।

अथेदामी स्वोक्त्रमाणलक्षणस्य ज्ञानस्मिति विशेषणं समर्थयमानः प्राप्त—  
**हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानयेव तत् ॥२॥**

हितं सुखं तत्कारणम् । बाहेत् पुरुषं तत्कारणम् । शिलं ज्ञानहितं च  
हिताहिते । तथोः प्राप्तिश्च परिहारद्व, तत्र समर्थम् । 'हि' सब्दो वस्त्रादर्थः ।  
तेनायमर्थः सम्पादितो भवति—यस्मादिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रस्तावम्, ततस्स-

हेतु की स्वापुर्वार्थक्यवसायात्मक ज्ञान रूप साध्य के साथ अन्यथानुपर्यस्ति  
निश्चित रूप से है । इसलिए वह बाधक विषय ( संघायादिक ) में बाधक  
प्रमाण के बल से निश्चित ही है । इस कथन से ( साध्य विषयरीत व्याख्य )  
विश्वद्व और ( सव्यभिवार ) अनेकान्तिक वा भी सिराकरण जानना चाहिए;  
क्योंकि विश्वद्व हेतु के और स्वभिवारी हेतु के अविनाभावरूप विषय के  
निश्चयस्वरूप लक्षणपूर्ण का अभाव है । अतः प्रमाणाद्व हेतु से साध्य की  
सिद्धि होती ही है; क्योंकि केवल व्यतिरेकी हेतु भी गमक है । जैसे—जीता  
हुआ शरीर आत्मा सहित है; क्योंकि वह प्राणादिमान् है । जो आत्मा सहित  
नहीं होता है वह प्राणादिमान् नहीं देखा गया । जैसे—मृतक शरीर ।

**विशेष—**साध्य के अभाव में साधन अर्थात् हेतु का न होना अविनाभाव है । अलगव एक मुहूर्त बाद शक्ट का उदय होगा; क्योंकि  
कृतिका का उदय हो रहा है, इत्यादि में कृतिकोदय शक्ट का घर्म नहीं  
होता है । साध्य के बिना हेतु का न होना विश्वमान नहीं है ।

प्रमाण का असाधारण स्वरूप कहने के अवन्तर इस समय अपने कहे  
गए प्रमाण के लक्षण में 'ज्ञान' इस विशेषण का समर्थन करते हुए  
कहते हैं—

**सुत्रार्थ—**चूंकि प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने  
में समर्थ है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है परतः ॥

सुख ( माला, वस्त्रादि ) और सुख के कारण ( सम्यग्दर्शनादि )  
को हित कहते हैं । दुःख ( कष्टकादि ) और दुःख के कारण ( मिथ्यात्वादि ) को अहित कहते हैं । हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ का विश्वह  
इस प्रकार होगा—'हितं ज्ञानहितं च हिताहिते, तथोः प्राप्तिश्च परिहारश्च  
तत्र समर्थम्' । हि शब्द हेतु के अर्थ में है । उससे यह अर्थ सम्पादित  
होता है—चूंकि हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ प्रमाण

प्रमाणत्वेनाभ्युपगतं वस्तु ज्ञानमेव भवितुमहीति, न ज्ञानलभ्य सन्निकर्षादिः । अथा च प्रयोगः—प्रमाणं ज्ञानमेव, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थत्वात् । यस्तु न ज्ञानं सन्ति हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थम्, यथा घटादि । हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थक्त्वा विवादापन्नम्, तद्भावज्ञात्मेव भवतीति । न वैतदसिद्धम्, हितप्राप्तयेऽहितपरिहाराय च प्रमाणमन्वेषयन्ति प्रेक्षापूर्वकादिणो न अथसमितया<sup>१</sup>; सकलप्रमाणवादिभिरभिमतवात् ।

अत्राहु सौरातः—भवतु नाम सन्निकर्षादित्यवच्छेतेन ज्ञानस्यैव प्रामाण्यम्, न तदस्याभिनिविष्यते । तत्तु अव्यवसायात्मकमेवेत्यक न युक्तिमुत्पद्यामः । अनुभावस्यैव अव्यवसायात्मकः प्रामाण्याभ्युपगमात् । प्रत्यक्षस्य तु निविकल्पकत्वैऽप्यविस्तारकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेरिति तत्राह—

### तिथिश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुभावत् ॥३॥

है अतः वह प्रमाण के रूप में मानी गई वस्तु ज्ञान ही होने के योग्य है, अज्ञान रूप सन्निकर्षादि नहीं । अनुभाव प्रयोग इस प्रकार होगा—प्रमाण ज्ञान ही है; क्योंकि वह हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है । जो ज्ञान नहीं होता है, वह हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ नहीं होता है । जैसे घटादि । हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ प्रमाण है अतः वह ज्ञान ही हो सकता है । यह बात असिद्ध नहीं है । क्योंकि हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए विचारपूर्वक कार्य करने वाले प्रमाण का अन्वेषण करते हैं, व्यसन रूप से नहीं, यह बात समस्त प्रमाणवादियों को इष्ट है ।

**विशेष—कार्य के बिना प्रवृत्ति व्यसन है ।**

यहाँ पर बौद्ध कहते हैं—सन्निकर्षादि का निराकरण करने से ज्ञान का ही प्रामाण्य हो ( क्योंकि वह उपादेयमूल अर्थक्रिया के प्रसाधक अर्थ का प्रदर्शक है ), उसका हम निषेध नहीं करते हैं । किन्तु वह ज्ञान निश्चयात्मक ही हो । यहाँ पर हम कोई युक्ति नहीं देखते हैं । क्योंकि हम लोगों ने निश्चयात्मक अनुभाव की ही प्रमाणता निश्चित की है । ( कल्पनापोद्भ अन्नान्त रूप ) प्रत्यक्ष तो निविकल्पक है अतः ( निश्चयात्मक न होने पर भी ) अविसंबादक होने से उसका प्रामाण्य प्राप्त होता है, ऐसा कहने वाले बौद्धों के प्रति कहा है—

**सूत्रार्थ—वह ज्ञान निश्चयात्मक है; क्योंकि वह समारोप का विरोधी है, जैसे अनुभाव ॥ ३ ॥**

१. कार्य बिना प्रवृत्तिर्व्यसनम् ।

स्त्रप्रमाणत्वेनाभ्युपग्रहं वस्थिति चमिनिर्देशः । अवसायात्मकमिति साध्यम् । समारोपविश्वद्वयवादिति हेतुः । अभुमानविति दृष्टान्तः इति । अथ चमिनिर्देशः—संशयविषयसात्मवस्थवसायस्यभावसमारोपविरोधिवृणुलक्षणवसायात्मवात्मने न देवादिस्त्रिकरित्वाप्नुपाप्नते । अविद्यावित्ते व अविद्याविति 'असुविधस्यापि समवस्थ्य प्रमाणस्वमनुपगच्छता । समारोपविरोधिवृणुलक्षणं निश्चयात्मकवद्युपग्रहत्वम् । ननु तथापि समारोपविरोधिवृयवसायात्मकस्वयोः समानार्थकस्वात्

वह प्रमाण के रूप में स्वीकारो हुई वस्तु, इस प्रकार अर्थी का निर्देश किया है । अवसायात्मक ( निश्चयात्मक ), यह साध्य है । ( संशय, विषयस्य और अनव्यवसाय रूप ) समारोप का विरोधी होने से, यह हेतु है । अनुमान के समान, यह दृष्टान्त है ।

**विशेष**—बीझों के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रमाणता अविसंवादी होने के कारण है । अविसंवादीपने की प्रमाणता अर्थक्रिया में स्थित होने से है, अर्थक्रिया में स्थित होने की प्रमाणता अर्थप्राप्तकर्त्त्व से है । अर्थप्राप्तकर्त्त्व की प्रमाणता प्रवर्तक होने से है । प्रवर्तक होने की प्रमाणता स्वविषय उपदर्शक होने से है, स्वविषय उपदर्शकर्त्त्व की प्रमाणता निश्चय के उत्तरदाकर्त्त्व से है, निश्चय के उत्पादकर्त्त्व की प्रमाणता गृहीत अर्थ के अव्यभिचारत्व से है ।

**विरोध तीन प्रकार का है—**

- १—सहानवस्थान विरोध, जैसे—अन्धकार और प्रकाश में ।
- २—वज्र घातक विरोध, जैसे—सर्प और नेवले में ।
- ३—परस्यरपरिहारस्थितिलक्षणविरोध, जैसे—रूप रस में ।

समारोप का विरोधी होने से सात्यर्थ सहानवस्थान लक्षण विरोध ग्रहण करना चाहिए ।

इसका अभिप्राय यह है कि संशय, विषयस्य और अनव्यवसाय के स्वभाव रूप समारोप के विरोधी पदार्थ को ग्रहण करना जिसका लक्षण है, इस प्रकार के निश्चयात्मकपने के होने पर ही अविसंवादीपना बन सकता है और अविसंवादीपने के होने पर ही शान की प्रमाणता हो सकती है, इसलिए स्वसंबेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्ष की प्रमाणता स्वीकार करने वाले ( बीझों ) को समारोप के विरोधी को ग्रहण करने रूप लक्षण वाले निश्चयात्मक ज्ञान को ही मानना चाहिए ।

फिर भी समारोप का विरोधी होना और निश्चयात्मक होना ये

१. स्वसंबेदनेमिन्द्रियवालोयोगिप्रत्यक्षस्य ।

कथं साध्य-साधनमाव इति म सन्तव्यम् ज्ञानस्वभावतया तपोरभेदेऽपि व्याप्य—  
व्याप्यकर्त्त्वं घमधिरसत्या भेदोपस्तःः किंशपात्यवृद्धत्ववत् ।

अथेकानीं सविषेषणमर्थधर्माणं समर्थयमानस्तदेव स्पष्टीकुर्वन्ताह—

### अनिहिच्चतोऽपूर्वार्थः ॥४॥

यः प्रमाणान्तरेण संशयादिव्यवच्छ्लेषेनानध्यवसितः सोऽपूर्वार्थः । तेनेहादि-  
ज्ञानविषयस्यावश्यहादिशृङ्खीतत्वेऽपि न पूर्वार्थत्वम् । अवग्रहादिवेहादिविषयभूतादा-  
म्तरविदीषनिष्ठयाभावात् ।

दोनों समावार्थक होने के कारण इन दोनों में कैसे साधन-साध्य माव है, यह नहीं मानना चाहिए । ज्ञान स्वभावी होने से समारोप का विरोधी होना और निष्ठयात्मक होना, इन दोनों में अभेद होने पर भी व्याप्य-  
व्याप्यकर्त्त्वं रूप धर्मों के आधार की अपेक्षा भेद बन जाता है, जैसे—  
किंशपात्य और वृक्षत्व में ।

प्रत्यक्ष ज्ञान के निष्ठयात्मकत्व के समर्थन के अनन्तर (विज्ञानवादी ऐसा मानते हैं कि व्यवसायात्मक विशेषण हो तो, अर्थ विशेषण न हो, इस प्रकार कहने वाले विज्ञानाद्वैतवादियों के प्रति अर्थ पद को जो अपूर्व विशेषण दिया है, उसका समर्थन करते हुए आवायं उसके अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**अनिहिच्चत पदार्थ को अपूर्वार्थं कहते हैं अर्थात् जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निष्ठय नहीं हुआ है उसे अपूर्वार्थं कहते हैं ॥४॥

जिस वस्तु का संशयादि का व्यवच्छ्लेष करने वाले अन्य प्रमाण से पहले निष्ठय नहीं हुआ है, उसे अपूर्वार्थं कहते हैं । इसलिए ईहादि ज्ञानों का विषयभूत पदार्थ अवग्रहादि के द्वारा गृहीत होने पर भी पूर्वार्थं नहीं है; क्योंकि अवग्रहादि के द्वारा ईहादि ज्ञान के विषयभूत अवान्तर विशेष का निष्ठय नहीं होता है ।

**विशेष—**विषय और विधी का सन्निपात होने पर दर्शन होता है । उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है, वह अवग्रह कहलाता है । जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है । अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थों में उसके विशेष ज्ञानने की इच्छा ईहा कहलाती है । जैसे—जो शुक्ल रूप देखा है, वह क्या वक्यविक्ति है, इस प्रकार विशेष ज्ञानने की इच्छा ईहा है । विशेष निर्णय द्वारा जो वर्थार्थ ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं । जैसे उत्पत्तन, निपत्तन और पक्षविक्षेप आदि के द्वारा 'यह वक्यविक्ति ही है, इवजा नहीं

अथोक्तप्रकार एवापूर्विः, किमन्योऽव्यस्तीत्याह—

### दृष्टोऽपि गृहीतोऽपि न केवलमनिश्चित एवेत्यपि पञ्चार्थः । सादृशपूर्वमिति भवति । नमारोपादिति हेतुः । एतकुलं भवति—गृहीतमपि व्यामलिताकारतया यन्मिष्टेन् त शक्यते, तदपि वस्तवपूर्वमिति अपदिश्यते; प्रवृत्तसमारोपाद्य- पञ्चार्थात् ।

नन् भवतु नामापूर्विर्थ्यवसायात्मकत्वं विज्ञानस्य; स्वव्यवसाये तु न  
विद्यम हस्यताह—

### स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥६॥

है, ऐसा निश्चय होना अवाय है। जानी हुई वस्तु का जिस कारण  
कालान्तर में विस्मरण नहीं होता, उसे धारणा कहते हैं। जैसे—यह  
वही वकर्पित है, जिसे प्रातःकाल मैंने देखा था, ऐसा जानना धारणा  
है ( सविर्थिसिद्धि १२५ ) । शाङ्काकार का कहना है कि ये जानों चूँकि गृहीत  
अर्थ को ग्रಹण करते हैं अतः उत्तरोत्तर जान का विषयभूत पदार्थ अपूर्व  
नहीं माना जा सकता । इसका समाप्ति यह है जि ये जान यद्यपि गृहीत-  
ग्राही हैं, फिर भी उसके विषयभूत पदार्थ में अपूर्वता है; क्योंकि इन जानों  
का विषय उत्तरोत्तर नई-नई विशेषताओं की जानना है ।

अपूर्विर्थ क्या उक्त प्रकार का होता है अथवा अन्य प्रकार का भी है ?  
इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—दृष्ट होने पर भी समारोप के कारण पदार्थ वैसा ही अर्थात्  
अपूर्विर्थ हो जाता है ।

दृष्टोऽपि = गृहीत होने पर भी या अन्य प्रमाण से जात होने पर भी,  
केवल अनिश्चित ही पदार्थ अपूर्विर्थ नहीं है, अपितु अन्य प्रमाण से  
निश्चित भी विस्मृत पदार्थ के समान संशय, विपर्यय और अनव्यवसाय  
के कारण अपूर्विर्थ हो जाता है । समारोप होने से, यह हेतु है । अतः  
सूत्र का अर्थ इन प्रकार होता है—गृहीत होने पर भी अव्यक्त आकार-  
वाला होने से जिसका निर्णय करना सम्भव नहीं है, वह वस्तु भी अपूर्व  
कहलाती है, क्योंकि उसके विषय में जो समारोप प्रवृत्त हुआ है, उसका  
निराकरण नहीं हुआ है । योग ( स्वाय-वैदेशिक ) कहते हैं—जान अपूर्विर्थ  
का निश्चय करने वाला भले ही हो, किन्तु उसको हम स्वव्यवसायी नहीं  
मानते हैं । इसके विषय में जैनाचार्य कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्वोन्मुख रूप से अपने आपको जानना स्वव्यवसाय है ॥६॥

स्वस्त्रीन्मुखता स्वोन्मुखता, तथा स्वोन्मुखतया स्वानुभवतया प्रतिभासनं<sup>१</sup>  
स्वस्य अवगायते ।

अथ इष्टदर्शकाह—

अर्द्धेन उद्गमुद्दरह ॥७॥

तच्छब्देनार्थोऽभिधीयते । यथाऽन्मुखतया प्रतिभासनमध्यवसायस्तथा  
स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य अवसायो भवति ।

क्षेत्रोल्लेख माह—

घटमहमासना वेचि ॥८॥

ननु ज्ञानमर्थमेवाभ्यवसंशक्ति, न स्वात्मानम् । आत्मानं कलं वेति केचित् ।  
कर्तृं कर्मणोरेव प्रतीतिरित्यपरे । कर्तृ-कर्म-क्रियाणांमेव प्रतीतिरित्यन्ये । तेषां  
मतमस्तिलमपि प्रतीतिबाधितमिति दर्शयन्माह—

अपने आपको जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं । उस  
स्वोन्मुखता से या स्वानुभवता से जो आत्माभिमुखतया प्रतीति होती है,  
वह स्वध्यवसाय है ।

यहाँ पर दृष्टान्त कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थ अवसाय  
है ॥ ७ ॥

तत् शब्द से अर्थ का कथन होता है । जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख  
होकर उसके जानने को अर्थाभ्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार अपने आपके  
अभिमुख होकर जो प्रतिभास होता है, वह स्वध्यवसाय होता है ।

यहाँ पर उल्लेख कहते हैं—

चिकित्सा—कुरुठान्त और दार्ढान्त का उदाहरण उल्लेख है ।

सूक्ष्मार्थ—मैं घट को अपने आपके द्वारा जानता हूँ ॥ ८ ॥

नैयायिकों का कहना है कि ज्ञान अर्थ का ही निश्चय करता है, अपने  
आपको नहीं जानता है । कुछ कहते हैं कि ज्ञान अपने आपको और फल  
को ही जानता है । भाद्र कहते हैं कि कर्ता और कर्म की ही प्रतीति होती  
है, शेष की नहीं । जैमिनीय कहते हैं कि कर्ता, कर्म और क्रिया की ही  
प्रतीति होती है, करण का नहीं । उन शब्दके सब मत प्रतीति से बाधित  
हैं, इस बात को दिलालाने के लिए आचार्य कहते हैं ।

१. ज्ञानस्य आत्मानं स्वं जानातीति प्रतीतिः प्रतिभासनम् ।

कर्मदत् कर्तुं करणक्रियाप्रतीतेः ॥१॥

आमदिष्यभूर्व वस्तु कर्मभिवीयते, लस्यैव शक्तिक्षिद्याऽप्याप्यस्वात्, लस्यैव लदत् । कर्ता आत्मा । करणं प्रसागम् । क्रिया प्रसिद्धिः । कर्ता च करणं च क्रिया च तासां प्रतीतिः लस्याः । इति हेतु कोऽ । प्रागुक्तानुभवोल्लेखे यथा-क्रमं सहस्रीतिर्द्वच्छाप्ता ।

ननु यद्यपरामर्शमन्विषेण प्रतीक्षितं<sup>३</sup> अस्तु अलोपजातेत्यकाङ् —

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थम् ॥१०॥

यथा: घटादिवावदानुच्चारणेऽपि वटाद्यनुभवस्तथाऽऽहमहरिकाया योज्यभन्न-  
म् खाकाशतयाऽवभायः स शब्दामूलकारणेऽपि स्वयमनभ्यत्प्रश्न्यर्थः ।

अमरिवार्थमपपलिपुर्वकं वरं प्रति सोल्लग्नशास्त्रे—

को वा तत्प्रतिभासितमर्थमध्यक्षमिच्छेत्स्तवेव तथा नेच्छेत् ॥११॥

सुशार्थ—कर्म के समान कर्ता, करण और क्रिया की भी प्रतीति होती है ॥५॥

ज्ञान की विषयभूत वस्तु कर्म कही जानी है; क्योंकि उसका ही जप्ति क्रिया के साथ व्याप्तिकर्ता पाया जाता है। जैसे कि जप्ति क्रिया का कर्म के साथ। कर्त्ता आन्धा है, करण प्रमाण है, क्रिया प्रभिति है। कर्ता, करण और क्रिया की प्रतीति, उसका फल शान है। जैनेन्द्र व्याकरण में पञ्चमी विभक्ति की संज्ञा 'का' है। पहले कहे गए अनुभव के उल्लेख में ( कर्म-कर्त्तादि की ) यथाक्रम से प्रतीति जाननी चाहिए।

**शब्दा**—कल्पिकादिक की प्रतीति तो शब्द का उच्चारण मात्र हो है, वस्तु के बल से उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् यथार्थ नहीं है। इसके विषय में आवार्य कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ**—शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी अपने आपका अनुभव पदार्थ के समान होता है ॥ १० ॥

जैसे धट आदि शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी धट आदि का अनुभव होता है, उसी प्रकार 'अहं', 'अहं' इस प्रकार से जो यह अन्तर्जलिंग रूप अवभास है, वह शब्द का उच्चारण न करने पर भी स्वयं अनुभूत होता है।

इसी अर्थ को यकिसपर्वक पर का उपहास करते हुए कहते हैं—

**सत्त्वार्थ**—ऐसा कीन है जो ज्ञान से प्रतिभासित हए पदार्थ को प्रत्यक्ष

१. पञ्चमी ।  
२. सप्तविकल्पकामो विष्णुः ।

को वा लौकिक परीक्षको वा । तेन ज्ञानेन<sup>१</sup> प्रतिभासितुं शीलं यस्य स तथोक्तस्ते प्रत्यक्षविवरमिष्टन् विषयमर्मस्य विषये उपचारात् तदेव ज्ञानमेव तथा प्रत्यक्षत्वेन नेच्छेत् ? अपि तिष्ठेदेव । अन्यथा अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गः स्थादित्यर्थः ।

अब्रोदाहरणमाह—

### अवीक्षणत् ॥ १२ ॥

इदधर्म तात्पर्यम्—ज्ञानं स्वावभासने स्वातिरिक्तसजातीयात्मनिरामयेऽप्यप्रत्यक्षार्थगुणत्वे सति अद्यष्टानुपायिकरणस्वात्, ग्रदीपमासुराकारवत् ।

अय भवतु नामोन्नालभाष्यलक्षितं प्रमाणम्, तथापि तत्प्रमाणं स्वतः परतो वा ? न सावस्वतः, अविप्रतिवित्तप्रसङ्गात् । नापि परतः, अनवस्थाप्रसङ्गात् इति

मानता हुवा भी ज्ञान के ही प्रत्यक्ष होने की इच्छा न करे ॥ ११ ॥

कौन लौकिक या परीक्षक है, जो उस ज्ञान से प्रतिभासन शील पदार्थ को प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय मानते हुए भी उसी ज्ञान को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार न करे ? अपितु वह स्वीकार करेगा ही । अन्यथा अप्रामाणिकपने का प्रसंग होगा ।

इस विषय में उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—दीपक के समान ॥ १२ ॥

विशेष—जिस प्रकार दीपक की स्वप्रकाशता या प्रत्यक्षता के बिना उससे प्रतिभासित हुए पदार्थ की प्रकाशता या प्रत्यक्षता नहीं बनती है । उसी प्रकार प्रमाण की प्रत्यक्षता के बिना भी उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की प्रत्यक्षता नहीं होगी ।

यही तात्पर्य यह है—ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने में अपने से अतिरिक्त सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है; क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्ट अनुयायी करण बाला है, जैसे कि दीपक का भासुराकार ।

शास्त्र—प्रमाण कहे हुए लक्षण से लक्षित होवे, तथापि वह प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः ? स्वतः तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि फिर तो किसी को विवाद ही नहीं रहेगा । प्रमाण का प्रामाण्य परतः भी नहीं हो सकता । परतः यानन्दे पर अनवस्था का प्रसङ्ग आया । इस प्रकार

१. ज्ञानस्य प्राहक्षवाक्तिशीलत्वमर्यस्य जेयक्षक्षित्वीलत्वम् ।

असद्गुणभावाद्युपरिकरणेन स्वप्रतमवस्थापद्यन्ताह—

सतप्रामाण्यं स्वतः परतः ॥१३॥

सोपस्काराणि<sup>१</sup> हि काक्ष्यानि भवन्ति । तत इर्व प्रतिपद्मव्यथा—जग्यास-  
दक्षायां स्वतोऽनभ्यासदधारयां च परत इति । तेष प्रामुख्ये काल्पदृष्टिरात्रः ॥ क  
चाल्पिद्यासदधारयां परतः प्रामाण्येऽप्यनवस्था समाप्ता, जग्यास्तदस्याभ्यवस्थाश्चिह्न-  
यस्य स्वतः प्रभाण्यमूलस्याङ्गीकरणात् । अयत्न प्रामाण्यमूलत्तौ परत एव, विशिष्ट-  
कारणप्रभवस्वाद्विशिष्टकार्यस्येति । विषयपरिचिछित्तिलक्षणे प्रदृशितलक्षणे का-  
स्त्रकार्ये अस्यासेवरदक्षापेक्षाया बवचित्तस्वतः परतव्येति निश्चीयते । ननुत्थली-  
विष्टानवारणादित्तिव्याप्तान्तरात्मकोहरात्मकात्मकात्मकात्मकात्मकात्मकात्मकात्मकात्म-  
वात् । गुणास्थमस्तीति दाहमात्रव्य, विशिष्टमुखेन कार्यमुखेन का गुणास्यामप्रतीतेः ।  
नाप्यप्रामाण्यं स्वत एव, प्रामाण्यं तु परत एवेति विषयाः शब्दते कल्पयितुम्;  
दोनों मतों की आशङ्का कर उनके निराकरण पूर्वक अपने मत की स्थापना  
करते हुए कहते हैं ।

**संक्षार्थ—**ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः और परतः होता है । ॥ १६ ॥

वाक्य उपस्कर्त ( शब्द से दूसरे शब्द का मिलाना ) सहित होते हैं । अतः यह अर्थ जलना चाहिए । ज्ञान की प्रमाणता अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होती है । इस कारक में पहले कहे गए दोनों एकान्तवादों का निराकरण हो जाता है । अनभ्यास दशा में परतः प्रामाण्य मानने पर जीनों के लिए भी समान रूप से अनवस्था दोष हो जायगा, ऐसा नहीं है; क्योंकि अभ्यस्त विषय स्वरूप अन्य ज्ञान की हमने प्रमाणतः स्वतः स्वीकार की है । अथवा ज्ञान की प्रमाणता उत्पत्ति अवस्था में परतः ही होती है; क्योंकि विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति विशिष्ट कारण से होती है । विषय के ज्ञान में रूप अथवा प्रवृत्ति लक्षण रूप ज्ञान के कार्य में प्रामाण्य अभ्यास से भिन्न दशा की अपेक्षा कहीं स्वतः और कहीं ( अनभ्यास दशा में ) परतः निष्पत्ति किया जाता है ।

**शब्दान्**—प्रमाण की उत्पत्ति में विज्ञान के कारण से भिन्न अन्य कारणों की अपेक्षा असिद्ध है, अतः प्रमाण की प्रमाणता स्वतः ही होती है; क्योंकि ज्ञानातिरिक्त कारण का अभाव है। यदि कहा जाए कि अन्य कारण नेत्रादिक की निर्मलता आदि गुण पाए जाते हैं, सो यह कहना बल्लमात्र ही है; क्योंकि विधिमुख रूप प्रत्यक्ष से तथा कार्यमुख रूप अनुमान से गुणों की प्रतीति नहीं होती है। प्रमाण की अप्रमाणता स्वतः

१. सब्बेन एवं अन्तरमेलनमुपस्कारः, तेन सहितानि सोषस्काराद्विषि ।

अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हि शि<sup>१</sup>क्षपास्तिलङ्घा<sup>२</sup>देव केवलात् प्रामाण्यमुत्पद्यमानं दृष्टम् । प्रत्यक्षादिव्यपि तथैव प्रतिपत्तव्यम्<sup>३</sup>, साम्यवेति । ततः<sup>४</sup> एवाऽतीचत्व-मुषसदभावेऽपि च तत्कृतमागमस्य प्रामाण्यम् । तत्र हि गुणेभ्यो दोषाणामभाव-स्तादभावाच्च चंशय-विषयसिलक्षणाप्रामाण्यद्वयाऽर्थेऽपि प्रामाण्यमौत्सर्गिक-मतपोदितमात्मा एवेति । ततः स्थितम्—प्रामाण्यमुत्पल्लौ न मामग्रन्थतर सारेकामिति । “नापि विषयपरिच्छित्तिलक्षणे<sup>५</sup> स्वकारे स्वप्रहणसापेक्षम्, अवृहीतप्रामाण्यादेव ज्ञानाद्विषयपरिच्छित्तिलक्षणकार्यदर्शनात् ।

ततु न परिच्छित्तिमात्रं प्रमाणकार्यम्, तस्य मिथ्याज्ञानेऽपि सद्भावात् ।

होती है, प्रामाण्य तो परतः ही होता है । इस विषयव्यय की कल्पना सम्भव नहीं है । अन्वय-व्यतिरेक से केवल ( पक्ष सत्य, सप्तक्ष सत्य और विषय व्यावृत्तरूप ) विरूपिति से प्रामाण्य उत्पन्न हुआ देखा गया है । ( यह जल है, इस प्रकार ) प्रत्यक्ष ज्ञान में भी उसके त्वकारण से ही प्रमाणता उत्पन्न होती है, ऐसा ज्ञानना चाहिए, अन्यथा नहीं । प्रत्यक्ष, अनुभाव आदि में स्वतः प्रामाण्य के प्रतिपादन स ही आप्त के द्वारा कहे हुए गुण का सद्भाव होने पर भी आगम में प्रमाणता उस गुण के कारण नहीं है । आगम में गुणों से दोषों का अभाव है तथा दोषों के अभाव से संशय-विषयव्यय रूप जो दो अप्रमाण ज्ञान उनका अभाव है, अतः आगम का प्रामाण्य स्वाभाविक रूप से अवाधित-अनिराकृत मिथ्या हो जाता है । चूंकि विज्ञान कारण से ही प्रामाण्य उत्पन्न हुआ प्रतिभासित होता है, अतः यह बात स्थित हुई कि प्रमाण का प्रामाण्य उत्पत्ति में विज्ञान रूप कारण से भिन्न अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता है । और न ज्ञान की निवृत्तिलक्षण रूप ज्ञान कार्य में अपने शब्दण की अपेक्षा रखती है । जिसका प्रामाण्य गृहीत नहीं है, ऐसे ज्ञान से विषय की परिच्छित्ति रूप कार्य देखा जाता है ।

नैयायिकों ने जो यह कहा है कि प्रमाण का कार्य ज्ञाननामात्र नहीं है, कथोर्कि उसका मिथ्याज्ञान में भी सद्भाव है, ज्ञानविषय तो जिसका

१. पक्षप्रमाणस्वप्तक सत्त्वपक्षव्यावृत्तिरूपात् ।
२. नयने गुणः सन्ति, यथार्थोपलब्धः ।
३. इदं जलमिति प्रत्यक्षज्ञाने तत्कारणदेव प्रामाण्यमुत्पद्यते, इति प्रतिपत्तव्यम्; न भिन्नकारणेन ।
४. प्रत्यक्षानुभावादी स्वतः प्रामाण्यप्रतिपादनादेव ।
५. व्यक्तिपक्षीङ्गम् ।
६. अग्रान्तस्य निवृत्तिलक्षणे ।

परिच्छित्तिविशेषं तु नामृहीतप्राप्ताण्यं विज्ञानं जनयतीति ? सदृशि बालविलसितम्; न हि प्राप्ताण्यप्रहृणोत्तरकालमुत्परव्यवस्थाः आरभ्य परिच्छित्तेविशेषोऽन्धभासते, अगृहीतप्राप्ताण्यादपि विज्ञानान्विदिविशेषविषयपरिच्छित्तेविशेषः । ननु परिच्छित्तिभावस्य शुक्लिकाणां रजतज्ञानेऽपि सदृशावात्स्थाप्ति प्रमाणकार्यत्वप्रसङ्गं इति षट्—भवेदेवम्, यद्यथान्यथात्क्षेत्रस्वरूपत्वद्वौषधैः आवासाणां तमाणोच्चेत्<sup>१</sup> । सम्भाव्यक्त कारणद्वौषधानं आवक्तप्रस्थयो वा नोदेति, तत्र स्वत एव प्राप्ताण्यमिति । न चैवमप्राप्ताण्येऽपशक्तुमीयम्, सत्य विज्ञानकारणात्तिरिक्तदोषहक्भावसामग्रीवव्यपेक्षतयोत्पत्तेः; निवृत्तिलक्षणे च स्वकार्ये<sup>२</sup> स्वप्रहृणसामेष्वर्वात् । तद्वियावन्ते ज्ञात न तावत् स्वविषयत्युरुषं निवर्तयतीति ।

**प्राप्ताण्य गृहीत नहीं है,** ऐसे विज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है । नैदायिक का यह कहना भीमांसकों के अनुसार बालकों की चेष्टा के समान है; क्योंकि प्राप्ताण्य के ग्रहण के उत्तरकाल में उत्पत्ति अवस्था से लेकर जानने रूप किया की विशेषता प्रतिभासित नहीं होती है, अपितु अगृहीत प्राप्ताण्य बाले भी विज्ञान से विशेषता रहित सामान्य विषय की जानकारी पायी जाती है ।

**नैदायिक—ज्ञानना मात्र सामान्य ज्ञान तो सीप में चाक्षीके ज्ञान में भी पाया जाता है,** उसे भी प्राप्ताण्य का कार्य जानने का प्रसंग उपलिखत होगा ।

**भीमांसक—ऐसा तब हो सकता है,** यदि पदार्थ के अन्यथापने की प्रतीति (अथवा यह रजत नहीं है यह सीप है, इस प्रकार नीले पूल यर त्रिकोण दिखाने रूप ज्ञान से) और अपने कारणों से उत्पन्न हुए दोष का ज्ञान (चक्षु आदि में विद्यमान काच, कामला आदि दोष का ज्ञान) इन दोनों के द्वारा उसका निराकरण न किया जाय । अतः यहाँ (वस्तु में) कारण के दोष का ज्ञान अथवा (यह सीप है इत्यादि) बाधक ज्ञान का उदय नहीं होता, वहाँ पर स्वतः ही प्राप्ताण्य होता है । उत्पत्ति अवस्था में इस प्रकार अप्राप्ताण्य की शक्ति नहीं करनी चाहिए; क्योंकि विज्ञान के कारणों से अतिरिक्त दोष स्वभावरूप सामग्री की अपेक्षा से अप्राप्तता उत्पन्न होती है । अप्राप्तता-निवृत्ति रूप स्वकार्य में अपने अप्राप्त रूप स्वरूप के ग्रहण की अपेक्षा है । अतः वह जब तक ज्ञात नहीं है, तब तक

१. चक्षुरास्त्रिगतकाचकामलादिदोषज्ञानेत् ।
२. न निराक्रियेत् ।
३. आत्मप्रहृणमिति ।

तदेतत्परमनल्पतमोविलसितम् । तथाहि—न तदवत्प्राभाव्यस्योत्पत्ती सामग्र-  
चस्तरपेक्षात्वमसिद्धम्, आप्तप्रणीतव्यलक्षणगुणसम्बिद्वाने सत्वेवाऽप्तप्रणीतव्य-  
नेषु प्राभाव्यत्वात् । यदभावेभावभ्यां यस्यीत्परमनुत्पत्ती तत् तत्कारणकमिति  
लोकेऽपि सुप्रसिद्धत्वात् । यतु कर्त—‘विधिसुखेन वा गुणानामअतीतिरिति’ तत्र ताव-  
दाप्तप्रणीतव्यत्वेऽपि चित्तपूर्णाभिद्युक्तम्, इत्याप्तप्रसङ्गं तत् । अथ  
चक्षुरादौ गुणानामप्रतीतिरित्युच्यते, तश्चाव्यक्तम्, नैर्भव्यादिगुणानामवलोक्यात्  
दिभिरप्युपलब्धेः । अथ नैर्भव्यं स्वरूपमेव”, न गुणः तस्मिं हेतोरविनाभावीक-  
रणमपि स्वरूपविकलतैव, न दोष इति समाप्तम् । अथ तदैकलयमेव दोषः तस्मि-

वह अपने अन्यथा प्रतीति रूप विषय ( रजन ) से पुरुष को निवृत्त नहीं करती है। लात्कर्य यह है कि जब सीप में चाँदी का ज्ञान होता है, तब उसकी निवृत्तिलक्षण रूप कार्य में यह रजत नहीं है, अपितु सीप है, इस प्रकार जप्ति पक्ष में अप्राप्यता परतः ही होता है, यह प्रदर्शित किया गया है।

जैन—यह सब अल्पधिक अज्ञान रूप अन्धकार के विलास के समान है। इसी को स्वरूप करते हैं—प्रामाण्य की उत्पत्ति न (नैर्मल्यादि गुण रूप) अत्यं सामग्री की अपेक्षा होना असिद्ध कहा, वह ठीक नहीं है; क्योंकि आप्त के द्वारा प्रणीत होना लक्षण रूप गुण के सन्दर्भान् होने पर ही आप्त प्रणीत बचनों में प्रामाण्य देखा जाता है। जिसके होने पर जिसकी उत्पत्ति हो और जिसके न होने पर जिसकी उत्पत्ति न हो। वह कारण होता है। यह बात लोक में भी सुप्रसिद्ध है। जो कहा गया है—गुणों की अप्रतीति विचिमुख से या काय्यमुख से होती है। उनमें आप्त प्रणीत शब्द में गुणों की प्रतीति नहीं होती है, यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि इससे तो आप्त प्रणीतत्व की हानि का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। मीमांसकों ने जो यह कहा है कि चक्षुशादि में गुणों की प्रतीति नहीं होती है, वह भी अद्युक्त है; क्योंकि नैऋत्यादि में निर्मलता आदि गुणों की उपलब्धि स्त्रियों और बालकों को भी होती है।

**मोमांसक**—विमर्शता ( गुण और गुणी में अभेद के कारण ) स्वरूप ही है, गुण नहीं है ?

जैन—तो हेतु के अविनाभाव की विकलता भी स्वरूप की विकलता ही है, दोप्रथा नहीं है, यह भी समान है। अथवा जैन नैमित्यादि गुणों का अभाव होने पर स्वतः प्रामाण्य जैनों के आता है उसी प्रकार द्वौषिठों का अभाव होने पर स्वतः अप्रामाण्य मीमांसकों के भी होगा।

## १. गुण-शुद्धिनोरभेदात् ।

लिङ्गस्य<sup>१</sup> चक्षुरादेवा तत्त्वरूपसाक्षात्काल्यमेव गुणः कथं न अवेद् ? आप्लोक्लोऽपि यद्वे भीतुः दिल्लैक्षणस्य दोषस्याभावमेव यथार्थज्ञानः दिल्लैक्षणगुणसद्भावमध्युपग-चक्षुभ्यन्वयत तथा नेष्ठलीती कथमनुमत्तः ? अप्लोक्लमेव—द्वडे गुणां सन्तोऽपि॒ न प्रामाण्योत्पत्ती अप्रियत्वे, किन्तु दोषाभाव एवेति । सरयमुक्तम्, किन्तु न युक्त-भेतत्; प्रतिज्ञाभावेण साध्यसिद्धेरयोगात् । न हि गणीश्यो दोषाणामभावे इत्यत्र किञ्चिचन्निवन्धनमूलपश्यामोऽन्यत्र महामोहात् । अनुमानेऽपि श्रिरूपलिङ्गमात्र-जनित प्रामाण्योपलब्धिरेव तत्र<sup>२</sup> हेतुरिति चेन्म, उक्तोस्तर<sup>३</sup> त्वात् । तत्र हि श्रीरूपमेव गुणो यथा तट्टीकल्यं दोष इति नासम्पत्तो हेतुः । अपि चाचामाण्योऽ-

**भीमांसक—स्वरूप की विकलता ही दोष है ।**

जैन—तो कारण के और नेत्रादि के अपने स्वरूप की सकलता की ही गुण क्यों नहीं माना जाय । आप्ल के कहे हुए आगम में भी योह, राग, देवादि लक्षण तात्त्वे द्वैष के अग्राह को द्वीयदार्थ ज्ञान, वैराग्य अमा आदि लक्षण वाले गुण के सद्भाव को स्वीकार करते हुए भी अन्यत्र ( प्रत्यक्षादि की उत्पत्ति की विशेष सामग्री चक्षु आदि की निर्मलता आदि में ) गुण के सद्भाव को नहीं मानते हैं । इस प्रकार वे भीमांसक उन्मत्त कैसे न हों ?

आपने जो कहा है कि आगम में ( पूर्वीपरिविरोधरहितखादि ) गुणों का सद्भाव होने पर भी वे प्रामाण्य को उत्पत्ति में व्यापार नहीं करते हैं, किन्तु दोष का अभाव ही प्रामाण्य को उत्पत्ति में अपूरुत होता है । यह बात सही है, किन्तु वह युक्त नहीं है । वचन मात्र से साध्य को सिद्धि का योग नहीं होता है । गुणों से दोषों का अभाव होता है । इत्यादि वचन में आपके महायोह को छोड़कर कुछ भी कारण नहीं देखते हैं ।

**भीमांसक—अनुमान में भी श्रिरूप लिङ्गमात्र से जनित प्रामाण्य की उपलब्धि ही दोष के अभाव में कारण है ।**

जैन—यह बात ठीक नहीं है । उसका उत्तर ( कारण के और नेत्रादि के अपने स्वरूप की सकलता को ही गुण क्यों नहीं माना जाय, इस रूप में ) उत्तर दिया जा चुका है । हेतु में श्रिरूपता का होना ही गुण है, जैसे

१. कारणस्य ।
२. आदिशब्देन रागद्वेषी गृह्णते ।
३. अनुमानादपि गुणाः प्रतीयन्ते, न केवल प्रत्यक्षादित्यपि द्वद्वार्थः ।
४. दोषाभावे ।
५. तर्हि लिङ्गस्य चक्षुरादेवा तत्त्वरूपसाक्षात्काल्यमेव गुण इत्यादिप्रकारेण ।

योवं द्वन्द्वं शब्दयत् एव । तथा हि दोषेभ्यो गुणानामभावस्तदभावाद्वच प्रामाण्याद्वच्चेऽप्रामाण्यमौल्यगिरिमास्त इत्यप्रामाण्यं स्वतः एवेति तस्य भिन्नकारणप्रभवत्वं बर्णनमृश्यतभाषितमेव स्थान् । किञ्च गुणेभ्यो दोषाणामभाव इत्यभिदधत्ता गुणेभ्यो गुणाः एवेत्यभिहितं स्थान्; भावान्तरस्यभावत्वादभावस्य । ततोऽप्रामाण्याद्वच्च प्रामाण्यमेवेति नैतावता एवेक्षणप्रतिक्षेपः; अविरोधवत्वात्<sup>१</sup> । तथा अनुमानतोऽपि गुणाः प्रतीयन्ते<sup>२</sup> एव । तथा हि—प्रामाण्यं विज्ञानकारणातिरिक्तकारण प्रभवम्, विज्ञानात्यत्वे सति कार्यत्वादप्रामाण्यत् । तथा प्रमाणप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये, भिन्नकार्यत्वात्; अट्टस्वदिति च । ततः स्वितं प्रामाण्यमुत्पन्नी परामेकमिति । तथा विषयप्रिभिर्भिलक्षणे प्रकृतिः वृक्षणे वा स्वकार्यं स्वग्रहणं<sup>३</sup> नायेत्ततः इति नैकान्तः, कदचिदभ्यस्तदिष्य एव परामेकस्तद्व्यरस्था-

कि उसकी निरूपता ( ऐरेल का न होना ) देख है, वह प्रकार हेतु असम्भव नहीं है । दूसरी बात यह है कि अप्रामाण्य के विषय में भी ऐसा कहना सम्भव है कि दोषों से गुणों का अभाव होता है और गुणों के अभाव से प्रामाण्य न होने पर अप्रामाण्य स्वभावतः होता है, इस प्रकार अप्रामाण्य के स्वतः सिद्ध होने पर उसकी भिन्न कारणों से उत्पत्ति का बर्णन उल्लंघन भाषित ही सिद्ध होता है । दूसरी बात यह भी है कि 'गुणों से दोषों का अभाव हीता है,' ऐसा कहने पर मीरांसक के द्वारा 'गुणों से गुण होते हैं' यह कथन हो जाता है, क्योंकि अभाव भी भावान्तर स्वभाव वाला होता है । अतः अप्रामाण्य का अभाव प्रामाण्य ही होता है, इतने से ही परपक्ष का निराकरण नहीं होता है, क्योंकि इससे पर पक्ष का प्रतिषेध नहीं होता है । तथा अनुमान से भी गुण प्रतीत होते ही हैं । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—प्रामाण्य विज्ञान के कारणों से अतिरिक्त कारणों से उत्पन्न होता है, क्योंकि वह विज्ञान से भिन्न होकर कार्य है । जैसे कि अप्रामाण्य । तथा प्रमाण और प्रामाण्य दोनों भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं; क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न कार्य हैं, जैसे घट और घस्त । इसलिए यह स्थित हुआ कि प्रामाण्य उत्पत्ति में पर की अपेक्षा रखता है तथा विषय के ज्ञान रूप स्वकार्य में अपने ग्रहण (प्रमाण ग्रहण) की अपेक्षा नहीं रखता है, यह एकान्त नहीं है । क्वचित् किसी अभ्यस्त-

१. अप्रतिषेधकत्वात् ।

२. प्रामाण्योत्पन्नी गुणाः व्याप्रियन्ते, अनुमानात् प्रतीतिविषयाः कियन्ते ।

३. प्रमाणग्रहणम् ।

नात् । अनभ्यस्ते तु जलमरीचिकासाधारणप्रदेशे जलज्ञानं यथापेक्षमेव । मत्यसिद्धं जलम्, विशिष्टाकारभारित्वात्, घटचेति कापेटक-दुर्दराग-तरोजग्नवरत्राच्च; परिदृष्टजलवहित्यकूमानज्ञानादर्थक्लियाज्ञानाच्च स्वतः १सिद्धप्राप्ताण्यात् प्राचीन-ज्ञानस्य यथार्थत्वमाकलमवकलयत् एव । यद्यप्यपिभवत्—प्रामाण्यग्रहणोत्तर-कालमूल्यस्थवस्थातः परिच्छित्तेविशेषोऽनावभासत इति । तत्र यद्यम्यस्यविषये नावभासत इत्युच्यते, तत्रा तदित्यत् एव । तत्र प्रथमसेव निःसंशयं विषयपरिच्छित्तिविशेषाभ्युपगमत् । अनभ्यस्तविषये तु तद्ग्रहणोत्तरकालमूल्येव विषयाधारणस्वमावपरिच्छित्तिविशेषः, पूर्वे प्रमाणाप्रमाणसाधारणा एव परिच्छित्तेवस्ते । ननु प्रामाण्य-परिच्छित्तस्योत्तरभेदात्कर्त्रं पौर्वार्थमिति ? नैवम्, न हि

प्रदेश में ही पर की अपेक्षा नहीं होती, ऐसी व्यवस्था है । अनभ्यस्त जल और मरीचिका वाले साधारण प्रदेश में जलज्ञान (अनुमानादि) पर की अपेक्षा से ही उत्तम होता है । यह जल सत्य है; क्योंकि वह विशिष्ट बाकार का धारक है । यही पनिहाँरिनों का समूह है, मेहकों की अविनि हो रही है, कमलों की मूलनि आ रही है । इन सब कारणों से भी जल की सत्यता स्पष्ट है । जैसे कि प्रत्यक्ष देखे हुए जल का ज्ञान सत्य होता है । इस प्रकार के अनुमान ज्ञान से और जल की स्नान फानादि रूप अर्थ-क्रिया के ज्ञान से स्वतः सिद्ध प्रामाण्य (प्रत्यक्षानुमानलक्षणज्ञान) से पूर्वे में उत्पन्न हुए (जल) ज्ञान की परमार्थता कल्पकाल पर्यन्त निश्चित होती है ।

जो यह कहा था कि प्रामाण्य के ग्रहण के उत्तरकाल में उत्पत्ति अवस्था से लेकर अनुमान सापेक्ष परिच्छित्ति विशेष का अवभासन नहीं होता है सो यदि अनभ्यस्त विषय में प्रतिभासित नहीं होता, ऐसा कहा जाता है तो यह हमें इष्ट ही है । वहीं पर प्रथम ही निःअन्वेष रूप से विषय की परिच्छित्ति विशेष स्वीकार की गई है । अनभ्यस्त विषय में तो प्रभाग के ग्रहण के उत्तरकाल में विषय के निवचय करने रूप स्वभाव वाली परिच्छित्ति की विशेषता प्रतिभासित होती ही है; क्योंकि (अनभ्यस्त विषय में) पहले प्रभाग और अप्रभाग में समान रूप से रहने वाली ही परिच्छित्ति उत्पन्न होती है ।

**पौर्वासक—प्रामाण्य और परिच्छित्ति में अभेद होने से पौर्वार्थ कैसे है ?**

१. प्रत्यक्षानुमानलक्षणज्ञानात् ।
२. अनुमानसापेक्ष परिच्छित्तिविशेष ।

सबौद्धि परिच्छित्तिः प्रामाण्यात्मिकः; प्रामाण्यं तु परिच्छित्त्वात्मकमेवेति न  
शोषः । यद्युक्तम्—‘आप्तकारणदोषज्ञानाभ्यां प्रामाण्यमपोचत इति’ तदपि  
फलगुभाषितमेव; अप्रामाण्येऽपि तथा वक्तुं वाक्यत्वात् । तथा हि—प्रथम  
प्रमाणमेव ज्ञानमुत्पन्नते, पश्चादवाधदोषगुणज्ञानोत्तरकाळं तदपोचत  
इति । तस्मात्प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा ‘स्वकार्यं क्वचिदभ्यासानन्ध्यासापेक्षया स्वतः  
परस्तचेति निर्णयत्वमिति ।

देवस्य सम्भवतमपाश्तसमस्तदोषं  
बोक्षय प्रपञ्चसहचिरं रचितं समस्तः ।  
माणिक्यनन्दिविभूता शिशुबोधहेतो—  
मनिरवरूपममूर्ता<sup>१</sup> स्फुटप्रभ्यधायि ॥ ६ ॥  
इति परीक्षामुखलघुवृत्तो प्रमाणस्य स्वरूपोद्देशः ॥ १ ॥

जैन—ऐसा नहीं कहना चाहिए । समस्त परिच्छित्तियाँ प्रामाण्या-  
त्मक नहीं होती हैं, किन्तु प्रामाण्य परिच्छित्त्वात्मक ही होता है, अतः  
कोई दोष ( विरोध ) नहीं है ।

जो कहा गया है कि ज्ञानावरणादि वाधक कारण और (कान्तकाम-  
लादि) दोष के ज्ञान से (परिच्छित्त्वात्मक) प्रामाण्य का निराकरण कर  
दिया जाता है, वह भी सार रहित है; क्योंकि अप्रामाण्य के विषय में  
भी वेसा कहना सम्भव है, क्योंकि प्रथम अप्रमाण ही ज्ञान उत्पन्न होता  
है, पश्चात् वाधा रहित ज्ञान और गुण का ज्ञान उत्पन्न होता है । बाद में  
उसके उत्तरकाल में उस अप्रमाण रूप ज्ञान का निराकरण होता है ।  
अतः प्रमाणता और अप्रमाणता अर्थ की परिच्छित्ति लक्षण स्वकार्य में  
क्वचित् अभ्यास दशा की अपेक्षा स्वतः और अनन्ध्यास दशा की अपेक्षा  
परतः उत्पन्न होती है, ऐसा निर्णय करना चाहिए ।

भट्टाकलेकदेव के द्वारा जो सम्भव है, जिसमें समस्त दोषों का निरा-  
करण कर दिया है, जो विस्तृत और सुन्दर है, ऐसे प्रमाण के स्वरूप को  
माणिक्यनन्दी स्वामी ने देखकर शिशुओं के बोध के लिए ( परीक्षामुख-  
तामक प्रत्यय में ) संक्षेप से रचा । उसी को मुझ अनन्तवीर्य ने स्पष्ट रूप  
से कहा है ॥ ६ ॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुकृति में प्रमाण के स्वरूप का कथन  
करने वाला प्रथम उद्देश समाप्त हुआ ।

## ●

१. अर्थपरिच्छित्तिलक्षणे । २. अदस्तु विप्रकृष्टं द्वूरतरं तेष्म, अनन्तवीर्यं मया ।

## द्वितीयः समुद्रदेशः

बथ प्रमाणस्वरूपविप्रतिपत्ति निरत्येऽन्नो भद्रल्याक्षिप्तिपर्वते  
सकलप्रमाणभेदसन्दर्भसंक्षेपत्र प्रमाणेयता प्रतिपादकं वाक्यं भाव—

तद् द्वेषा ॥१॥

तद्विलेन प्रमाणं परामूर्यते । तदप्रमाणं स्वरूपेणावगतं हेत्या द्विग्रकारभेद,  
सकलप्रमाणभेदानावैवान्तभवित् ।

तद्विल्लिप्तमध्यक्षानुभासप्रकारेणापि सम्भवतीति सदाचार्युनिराकरणार्थं सकल-  
प्रमाणभेदसङ्गप्रक्षेपालिनो संख्यां प्रव्यक्तीकरोति—

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

प्रत्यक्षं वक्त्यप्रमाणलक्षणम्, इतरतरगोशम्, तत्त्वां भेदात् प्रमाणस्येति शेषः ।  
न हि परवरिक्तिपत्तिक्तिप्रतिचतुष्पञ्चप्रमाणसंख्यानिधिमें निजिक्तिप्रमाणभेदाना-

### ( द्वितीय समुद्रदेश )

प्रमाण के स्वरूप की विप्रतिपत्ति का निराकरण करके इस समय  
संख्या विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए प्रमाण के समान भेदों के  
सन्दर्भ का संग्रह करने वाले और प्रमाण की संख्या का प्रतिपादन करने  
वाले वाक्य को कहते हैं—

बहु प्रमाण दो प्रकार का होता है ॥ १ ॥

‘तद्’ शब्द से प्रमाण का परामर्श किया गया है । जिसका स्वरूप  
जान लिया गया है, वह प्रमाण दो प्रकार का ही है, क्योंकि प्रमाण के  
समस्त भेदों का वही अन्तर्भुव होता है ।

ये दो भेद प्रत्यक्ष और अनुभास प्रकार से भी मन्त्रित हैं, इस प्रकार की  
आर्थिका के निराकरण के लिए प्रमाण के समस्त भेदों का संग्रह करने  
वाली संख्या को प्रकृष्ट रूप से व्यक्त करते हैं—

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का होता है ॥२॥

प्रत्यक्ष का लक्षण हम आगे कहेंगे । प्रत्यक्ष से भिन्न परोक्ष है । उनके  
भेद से प्रमाण के दो भेद हैं । चार्यकृ, सीगत, सांख्य, न्याय-वैशेषिक-  
प्राभाकर-भाष्टु के द्वारा परिकल्पित एक, दो, तीन, चार, चाँच और छह

१. परस्परापेक्षाणां पदानां निरपेक्षसमूहाणो वाक्यम् ।

अन्तर्भीविभावना शक्त्या कर्तुम् । तथा हि—प्रत्यक्षीकप्रमाणवादिनेन्द्रावकिस्म  
नाध्यक्षे लैङ्गिकस्यान्तर्भीवो युक्तः; तस्य लद्विलक्षणत्वात्, सामग्री-स्वरूपमेदात् ।

अथ नाप्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति, विसंबादसम्भवत् । निविष्टतार्थिनाभावालिङ्गालिङ्गानि आनुमानिक्यानुमानिक्यास्त्रभूमि, तथा च स्वभावलिङ्गस्य बहुलमन्य-  
भाष्यम् भावो दृष्टवते । तथाहि—कथायरसोनेतानामभूलकनामेतद्वेषकालसम्बन्धिनां  
दर्शनेऽपि देशान्तरे कालान्तरे इत्यान्तरमध्यन्ये चाभ्याम् एष दर्शनात्स्वभावहेतुवर्ण-  
भित्तियेष, लताचूतवल्लनार्थिष्ठादिसम्भावनाच्च । तथा कार्यलिङ्गमपि गोपाल-

प्रकार की प्रमाण संख्या के नियम में प्रमाण के समस्त भेदों का अन्तर्भीवि  
करना सम्भव नहीं है । इसी बात का सुलासा करते हैं—एक प्रत्यक्ष की  
ही प्रमाण मानने वाले आवाक् के प्रत्यक्ष में अनुमान का अन्तर्भीवि करना  
युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान से विलक्षण है, दीनों की  
सामग्री और स्वरूप में भी भेद है । प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री इन्द्रियों हैं  
और उसका स्वरूप वैश्वद्य है । अनुपान ज्ञान की सामग्री लिङ्ग (हेतु) है  
और उसका स्वरूप अवैश्वद्य है ।

**आवाक्**—अप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है; क्योंकि उसमें विसंबाद सम्भव  
है । निविष्टत अविनाभावी लिङ्ग से ( बीद्वमत में लिङ्ग तीन प्रकार का  
होता है—१. स्वभाव लिङ्ग २. कार्य लिङ्ग ३. अनुपलविधि लिङ्ग ) लिङ्गो  
(साध्य) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है, ऐसा अनुमान-  
वादियों का कहना है । बीद्वों के मत में स्वभावलिङ्ग के प्रायः अन्यथा-  
भाव ( साध्य के बिना भी सद्भाव ) दिखाई देता है । इसी बात की  
स्पष्ट करते हैं—इस देश और काल सम्बन्धी अविलों के कसैले रस से  
युक्त दिखाई देने पर भी देशान्तर और कालान्तर में अन्य द्रव्य का सम्बन्ध  
मिलने पर अन्यथा स्वभाव भी देखा जाता है, अतः स्वभाव हेतु व्यभिचारी  
होती है । तात्पर्य यह कि दुरधादि द्रव्य का सिद्धन करने पर किसी देश  
और काल में अविलो मधुर रस रूप भी परिणामित हो जाते हैं, अतः  
स्वभाव हेतु व्यभिचारी है । 'यह वृक्ष है, आम्रपाना पाए जाने से,' यही  
आम धर्मी है, वृक्ष है, यह साध्य है, आम्रपाना हेतु है । जो जो आम होता  
है, वह वृक्ष होता है, यह नियम नहीं है; क्योंकि आम्रलता से व्यभिचार  
पाया जाता है, क्योंकि आम्र लताकार भी होता है । यह वृक्ष है, विश-  
पात्व के कारण, यही देशान्तर में सम्भव शिशुपा लता से व्यभिचार है;  
१. उत्पादकारणं प्रत्यक्षस्य इन्द्रियं सामग्री, वैश्वद्य स्वरूपम् । अनुमानस्य लिङ्गं  
सामग्री, अवैश्वद्य स्वरूपम् ।

वटिकारो चूमस्य शक्मूचिन् चान्यथापि भावालाभक्षयभिक्षार्थेव । अतः प्रत्यक्ष-  
मेवैकं प्रभाणमस्यैवाविसंबोधकत्वादिति ।

तदेव बालविलसितपिवाभाति; उत्पत्तिशून्यत्वात् । तथाहि—किमप्रत्यक्ष-  
स्योत्पादककारणभावादालम्बनभावादः प्रायाण्यं निविष्टते? सत्र न साधनाकरनः  
पश्यतः; तदृत्पादकस्य सुनिषिद्धतान्यथानुपपत्ति<sup>१</sup>-निषत्तनिष्ठव्यञ्जकाणस्य साधनस्य  
सद्भावात् । मौखिक्युद्धीचीनः पश्यतः; तदालम्बनस्य पावकादेः सकलविवराचतुर-  
वेतसि सर्वता प्रमैरापानवात् । यदपि स्वभावहेतोर्ध्वमिक्षारसम्भानुपूर्णम्,  
तद्यनुचितमेव; स्वभावमात्रत्वात् । अत्यर्थस्य व्यापकव्यभिवारित्वम्; व्याप्तविरोध-  
प्रमुच्छात् ।

क्योंकि देशान्तर में लक्ष रूप विजया (शीशम) होता है । बेत का बीज  
जलाए जाने पर कदलीकाण्ड को उत्पन्न करता है । कटहल का बीज  
कदलीकाण्ड को उत्पन्न नहीं करता है । अतः स्वभाव हेतु व्यभिचारी है ।  
तथा कार्यक्रिया भी व्यभिचारी है । इन्द्रजालिया के घट आदि में तथा  
बीबी में अथ के बिना भी चुओं दिखाई देता है । अतः चुओं को अग्नि का  
कार्य मानना व्यभिचार है । ( स्वभाव हेतु और कार्य हेतु में अविनाभाव  
के अभाव से, इनके द्वारा उद्भूत अनुमान की प्रभाणता चूँकि चटित नहीं  
होती है ) अतः प्रत्यक्ष ही एक प्रभाण है, क्योंकि उसमें अविसंबोधकता  
पायी जाती है ।

यह कथन बाल विलास के समान प्रतिभासित होता है; क्योंकि यह  
युक्ति से दून्य है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—अथ उत्पादक कारण  
के अभाव से अथवा आलम्बन के अभाव से अप्रत्यक्ष की प्रभाणता का  
निषेध किया जा रहा है? इनमें से पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि  
जिसकी अन्यथानुपपत्ति सुनिष्ठत है, ऐसे लक्षण वाले अनुमान के उत्पादक  
साधन का सद्भाव पाया जाता है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि  
अप्रत्यक्ष रूप अनुमान के विषय रूप आलम्बन अग्नि आदिक समस्त  
विचार चतुर लोकों के चित्त में सदा प्रतीत होते हैं । जो स्वभाव हेतु में  
व्यभिचार की सम्भावना के विषय में कहा है, वह भी अनुचित ही है;  
क्योंकि स्वभावभाव हेतु नहीं है । व्याप्त ( शिशास्त्र ) रूप स्वभाव को  
ही व्यापक ( वृक्षत्व ) के प्रति गमकपना माना गया है । व्याप्त के व्यापक  
से व्यभिचारपना भी नहीं है । व्याप्तत्व के साथ विरोध का प्रसङ्ग

१. साध्यमन्तरेण साधनानुपपत्तिः ।

किञ्चिंवेदादिनोऽनाभ्यर्थं प्रमाणं व्यवतिष्ठते; तत्राप्यसंबादस्मागीणत्वस्य च स्वभावहेतुः प्राप्ताणां विनाभाविकेन निश्चेतुमशक्यतात् । यस्त्र कार्यहेतोरप्यन्य-  
पापि सम्भावनम्; तदप्यक्षिणिलक्षितम्, सुविवेचितस्य कार्यस्य कारणाव्यभिचार-  
रित्वत् । यदृशो हि वूमो उथलमकार्यं भूषरनितमवादावतिष्ठलघवलतया प्रभव-  
स्तुपक्षयते, न तदृशो गोपाल-त्रिकादाविति । यदप्युक्तम्—‘शक्रमूलिं धूमस्या-  
न्यकापि भाव इति तत्र विभयं शक्रमूलीं अग्निस्वभावोऽन्यथा वा? अग्निस्वभाव-  
स्तदाऽग्निरेति कथं तदद्भवत् ‘धूमस्थान्यथाभावात्’ लग्नयते रुद्राग्निम् । अग्निस्वभिन-  
स्वभावस्तदा तदुक्तभवो धूम एव न भवतीति कथं तत्र तस्य तदुच्चभिचारित्वमिति ।  
तथा चौकतम्—

अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्द्धा चेदग्निरेव सः ।

अथाग्निस्वभावोऽसी धूमस्तच्च कथं भवेत् ॥ ? ॥ इति ।

किञ्चन—प्रत्यक्षं प्रमाणभिति कथमयं परं प्रतिपादयेत्? परस्य प्रत्यक्षेण  
उपस्थित होंगा । अर्थात् यदि व्यभिचार हो तो व्याप्त्य नहीं कहा जा  
सकता है ।

दूसरी बात यह है कि अनुमान को प्रमाण नहीं मानने वाले तथा  
स्वभावहेतु को व्यभिचारी कहने वाले चार्चाक के मत में प्रत्यक्ष भी  
प्रमाण नहीं ठहरता है; क्योंकि प्रत्यक्ष में भी अविसंबादकता और  
अगीणता ये दोनों अनुमान के माने विना निश्चित नहीं की जा सकती ।  
और जो कार्यहेतु के अन्यथा अर्थात् अग्नि के विना भी होने की सम्भावना  
की है, वह भी अविक्षित जैसा प्रतीत होता है; क्योंकि सुनिश्चित कार्य का  
कारण के साथ व्यभिचार नहीं पाया जाता है । जैसा अग्नि का कार्य  
धूमाँ पर्वत के तटमाण आदि में अति सधम और धबल आकार रूप से  
फैलता हुआ प्राप्त होता है, वैसा धूमाँ ऐत्यजालिक के घड़े आदि में नहीं  
प्राप्त होता है । जो कहा गया है—बाँबी में धुयें का अन्यथा भी सदभाव  
देखा जाता है, तो उम्म विषय में छूमारा कहना है कि यह बाँबी अग्नि-  
स्वभाव है या अग्नि स्वभाव नहीं है? यदि अग्नि स्वभाव है तो अग्नि ही  
है, तो कैसे उसके निकले हुए धुयें का अन्यथाभाव ( अग्निव्यभिचारित्व )  
कल्पित किया जा सकता है । यदि बाँबी अग्निस्वभाव नहीं है तो उससे  
उत्पन्न धूमाँ ही नहीं है, कैसे वहाँ पर धुयें का व्यभिचारपना है?  
कहा भी है—

यदि बाँबी अग्निस्वभाव है, तो वह अग्नि ही है और यदि वह अग्नि-  
स्वभाव नहीं है तो वहाँ धूमाँ कैसे हो सकता है?

दूसरी बात यह कि प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाला चार्चाक्

प्रहोतुभशक्यत्वात् । व्यवहारादिकार्यप्रदर्थनात्सं प्रतिष्ठेतेति चेदगतां तद्हि कार्य-  
स्मारणानुभानम् । अथ लोकव्यवहारापेक्षये एव एवानुभानमपि, परलोकादावेदान-  
स्मृपत्वामात्रावभावादिति कथं तदभावोऽनुपलब्धेति चेत् तदाऽनुपलब्धिभिलिङ्गविस-  
मनुभानकमपरमाप्तितमिति । प्रत्यक्षप्रामाण्यमपि स्वभावहेतुजातानुसिद्धिमन्तरेण  
नोपपत्तिमियतेऽति ग्रामेवोक्तमित्युपरम्यते । यदप्युक्तं<sup>१</sup> धर्मकोतिना—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेस्त्वयित्यो गते ॥

प्रमाणान्तरसङ्कावः प्रतिषेधात्त्वं कस्यचित् ॥ २ ॥ इति ॥

शिष्यादि को प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिपादन करेगा ? क्योंकि पर पुण्य का  
आत्मा प्रत्यक्ष से प्रहृण करना शक्य नहीं है । व्यवहार ( बचत चारुर्य )  
आदि कार्य के देलख से पर की बुद्धि आदि को जान लेगा, यदि ऐसा कहो  
तो कार्य से कारण का अनुभान आ गया । यदि कहो कि लोक व्यवहार  
की अपेक्षा अनुभान इष्ट होने पर श्री परलोक आदि में उसे हम नहीं  
मानते हैं; क्योंकि परलोकादि का अभाव है । तो उस पर हमारा कहना  
है कि परलोकादि का अभाव कैसे है ? यदि कहो कि परलोकादि का  
अभाव अनुपलब्धि से है तो अनुपलब्धि रूप लिङ से जवित एक अन्य  
अनुभान आ गया । प्रत्यक्षप्रामाण्य भी स्वभाव हेतु जनित अनुभान के  
बिना युक्ति संगतता को प्राप्त नहीं होता, यह बात हम कह लुके हैं,  
अतः विराम लेते हैं । जैसा कि ( प्रमाण विनिष्ठत्व में ) धर्मकोति ने  
कहा है—

प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति होने से, शिष्यादि  
की बुद्धि के ज्ञान से और ( अनुपलब्धि हेतु से ) परलोकादि के प्रतिषेध  
से प्रमाणान्तर अर्थात् अन्य प्रमाणरूप अनुभान का सदभाव मिछ्द  
होता है ॥ २ ॥

**विशेष—**अविसंवादित्व-विसंवादित्व स्वभाव रूप दो लिङ्ग के बिना  
प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति नहीं बनती है । तथा  
व्यवहारादि कार्यलिङ्ग के बिना दूसरे की बुद्धि का निष्ठत्व मम्भव नहीं  
है तथा अनुपलब्धि रूप लिङ के बिना परलोकादि का निषेध घटित नहीं  
होता है, इस प्रकार प्रमाण सामान्य और अप्रमाण सामान्य की स्थिति,  
शिष्यादि की बुद्धि का ज्ञान और परलोकादि के प्रतिषेध से प्रमाणान्तर  
अनुभान की समीचीनता सिद्ध होती है ।

१. प्रमाणविनिष्ठत्वे (?) ।

ततः प्रत्यक्षमनुमानभिति प्रमाणद्वयमेवेति सीमतः । सोऽपि न युक्तवादी; स्मृतेरविसंबादिन्यास्तृतीयायाः प्रमाणभूतायाः सद्भावात् । न च तस्या विसंबादादप्रामाण्यम्; वलग्रहादिविलोपपत्तेः ।

अथानुभूयमानस्य विषयस्याभावात् स्मृतेरप्रामाण्यम्? न, तथापि अनुभूतेनार्थेन सावलम्बमत्योपपत्तेः । अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यमनिवार्य रूपात् । स्वविषयावभावेन स्मरणेऽप्यवशिष्टभिति । किञ्च—स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्तापि मुर्लभा; तथा उपस्तेरविषयदीकरणे सदुस्थानायोगादिति । तत इदं वक्तव्यम्—‘स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यानुपपत्तेरिति तैव प्रत्यक्षानुमानस्वरूपतया प्रमाणस्य द्वित्वसङ्क्षयान्तियमं विघटयतीति ति’ इति॒न्यमयः ।

चौकि चार्वाक के प्रति अन्य प्रमाण की प्राप्ति का प्रतिपादन किया अतः प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण होते हैं, ऐसा बोझ कहता है। वह बोझ भी युक्त बात कहने वाला नहीं है, क्योंकि अविसंबादिनी स्मृति के रूप में तृतीय प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है। विसंबाद होने के कारण स्मृति प्रमाण नहीं है, ऐसा भी नहीं है। यदि स्मृति प्रमाण नहीं मानी जायगी तो देने और ग्रहण करने के बिलोप की आपत्ति आती है।

बौद्ध—अनुभूयमान विषय का अभाव होने से स्मृति प्रमाण नहीं है ।

जैन—यह बात उचित नहीं है । अनुभूयमान विषय का अभाव मानने पर भी ( स्वग्राम तड़ाग आदि ) अनुभूत पदार्थ के सावलम्बनता बन जाती है, अन्यथा प्रत्यक्ष के अनुभूत अर्थ का विषय होने से अप्रमाणता अनिवार्य हो जायगी । अपने विषय का जानना स्मरण में भी समान है । दूसरी बात यह है कि स्मृति की प्रमाण न मानने पर अनुमान की प्रमाणता की बात करना भी दुर्लभ हो जायगी । स्मृति से साध्य साधन सम्बन्ध रूप व्याप्ति के अविषय करने पर अवश्य स्मरण न करने पर अनुमान के प्रामाण्य का स्थान भी नहीं होगा ? तो यह कहना चाहिए—स्मृति प्रमाण है, अन्यथा अनुमान को प्रमाणता नहीं बन सकती । वह स्मृति ही प्रत्यक्ष और अनुमान रूप से दो प्रमाण होने के नियम का विघ्नकर देती है । अतः हमें चिन्ता करने से क्या लाभ है ?

स्मृति के समान प्रत्यक्षिज्ञान भी बीदों की प्रमाण संख्या का विघटन करती ही है । प्रत्यक्षिज्ञान का बीदों के हारा माने गये प्रत्यक्ष और अनुमान में अन्तर्भव नहीं होता है ।

बौद्ध—‘तत्’ यह स्मरण है, ‘इदम्’ यह प्रत्यक्ष है, इस प्रकार दो ज्ञात ही हैं । स्मरण और प्रत्यक्ष से भिन्न प्रत्यक्षिज्ञान नामक अन्य प्रमाण

तथा प्रत्यभिज्ञानमपि सौमतीकप्रमाणसङ्क्षयो विषट्यस्येव; तस्यापि प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तरभवित् । ननु लदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षमिति अत्य-  
द्वयमेव, न ताम्यो विभिन्नं प्रत्यभिज्ञानार्थं कर्त्त प्रतिपद्माम ग्रामाणास्तरभूपल-  
भामहे । कर्त्त तेऽपि प्रमाणास्तराधिकादितिति? स्वयमदित्तगते, यतः  
स्मरणप्रत्यक्षाऽप्यापि प्रत्यभिज्ञानविषयस्यार्थस्य ग्रहीकुमारविषयत्वात् । पूर्वोत्तरविष्ट-  
वत्येकद्वार्थं हि प्रत्यभिज्ञानविषयः, न च तस्मरणेषोपलभ्यते, तस्यानुभूतविषय-  
त्वात् । नापि प्रत्यक्षेण, तस्य वर्तमानविवरांवित्तवात् । यद्यपुक्तम्—  
‘ताम्यां भिन्नमप्यद्व ज्ञानं वास्तीति’ तस्यागुक्तम्, अभेदपरामर्शस्त्वमिति; विभिन्न-  
विषयत्वात् । न चैतत्<sup>१</sup>प्रत्यक्षेज्ञानर्थविति, अनुभावे च; तयोः पूर्वोत्तरविष्टवत्य-  
विषयत्वेनाविनाभूतलिङ्गसम्भावितार्थविषयत्वेन च पूर्वोत्तरविष्टवरच्छायेनाविषय-  
विषयत्वात् । नापि स्वरणे, तेनापि तदेकत्वस्याविषयीकरणात् ।

हम प्राप्त नहीं करते हैं अतः प्रत्यभिज्ञान से प्रमाण की संस्था का विषट्य  
कैसे होता है?

**जीव**—यह कठत भी घटित नहीं होता; क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्ष  
से प्रत्यभिज्ञान के विषय रूप पदार्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है । पूर्वोत्तर  
परामर्शवर्ती एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञान का विषय है । वह स्मरण से प्राप्त नहीं  
होता है; क्योंकि स्मरण का विषय अनुभूत पदार्थ है । प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष  
से भी प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि वह वर्तमान पर्याय को विषय करता  
है । जो यह कहा है कि स्मरण और प्रत्यक्ष से भिन्न अन्य ज्ञान नहीं है,  
यह कहना भी ठीक नहीं है । (पूर्वोत्तरविष्टवत्यार्थपरामर्शरूप)  
अभेद की परामर्श करने (जानने) के कारण प्रत्यभिज्ञान में भिन्न का ही  
अवभासन होता है । स्मरण और प्रत्यक्ष हम दोनों में से एक में भी  
अभेद परामर्शकत्व नहीं है; क्योंकि उनका विषय भिन्न-भिन्न है । प्रत्यभि-  
ज्ञान का न तो प्रत्यक्ष में अनुभव होता है, न अनुमान में । प्रत्यक्ष और  
अनुमान दोनों सामने अवस्थित पदार्थ को विषय करने और अविनाभाव  
रूप लिंग से सम्भावित पदार्थ को विषय करने से पूर्वोत्तरविकार (पर्याय)  
व्यापी एकत्व को विषय नहीं करते हैं । स्मरण में भी प्रत्यभिज्ञान का  
अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि स्मरण भी एकत्व को विषय नहीं  
करता है ।

बथ संस्कार<sup>१</sup> हपरणसहकृतमिन्द्रियमेव प्रत्यभिज्ञानं जनयति, इन्द्रियजं प्राप्त्यक्षमेवेति न प्रमाणान्तरमित्थपरः । सोऽथतिवालिष एव, स्वविषयाभिमुख्येन प्रवर्त्तमानस्येन्द्रियस्य सहकारिशतसम्बन्धानेऽपि विषयान्तरप्रवृत्तिक्षणातिव्याप्तेगान् । विषयान्तरं अतीत साम्प्रतिकावस्थाव्याप्तेकद्वयमिन्द्रियाणां रूपादिगीचराचरित्वेन चरितार्थवाच्च । नाप्यदृष्ट-सहकारिसव्यपेक्षा विन्द्रियमेकत्वविषयम्, उक्तश्चोषादेव । किञ्च—अदृष्टसंस्कारादिसव्यपेक्षाद्वाऽन्तरस्तदिक्षानभिति किम कल्पते ? दृश्यते हि स्वप्न<sup>२-३</sup>सारस्वत-<sup>४</sup>चाण्डालिकाविषयासंस्कृतावस्थनो विशिष्टज्ञानोरपत्तिरिति ।

योग—संस्कार ( धारण ज्ञान रूप एक प्रत्यक्ष विशेष ) तथा स्मरण से सहकृत इन्द्रिय श्री महामित्तान की उत्पन्न करती है और इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, अन्य प्रमाण ( प्रत्यभिज्ञान ) नहीं है ।

जैन—ऐसा कहने वाला भी अत्यन्त मूर्ख है । अपने विषय की ओर अभिमुख होकर प्रवर्त्तमान इन्द्रिय के सैकड़ों सहकारी कारणों के सन्तुष्टान होने पर भी विषयान्तर में प्रवृत्ति करने रूप अतिशय का होना असम्भव है । विषयान्तर, अतीत और वर्तमान कालवर्ती अवस्थाओं में रहने वाला द्रव्य है; क्योंकि इन्द्रियों अपने रूपादि विषयों में प्रवृत्ति करके चरितार्थ होती है । ( पुण्य पाप लक्षण ) 'अदृष्ट के सहकारीपने की अपेक्षा इन्द्रिय एकत्व को विषय कर लेती, यदि ऐसा कही तो ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर उक्त दोष ही आता है । दूसरी बात यह है कि अदृष्ट और संस्कारादि सहकारी कारणों की अपेक्षा से आत्मा के ही एकत्व को ग्रहण करने वाला वह विज्ञान ( प्रत्यभिज्ञान रूप विशिष्टज्ञान ) ही क्यों नहीं मान लेते । ऐसा दिखाई देता है कि ( अतीत, अनागत, वर्तमान, लाभ, अलाभादि की सूचना देने वाली ) स्वप्नविज्ञा, ( असाधारण वादित्व, कवित्व आदि प्रदान करने वाली ) सारस्वतविज्ञा ( नष्ट मुष्टि आदि की सूचना देने वाली ) चाण्डालिका आदि विज्ञाओं से संस्कृत आत्मा के विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

१. प्रत्यक्षविशेषो धारणाज्ञानं संस्कारः । स्वाश्रयस्य प्राग्दृष्टमूलावस्थासमानवस्थाभृतरापादकोऽतीतिन्द्रियो त्रिमो वा संस्कारः ।
२. अतीतानागतवर्तमानशाश्वाभालाभादिसूचनी या सा स्वविषया ।
३. असाधारणवादित्वं कवित्वादिविज्ञायिनी सारस्वतविज्ञा ।
४. नष्टमुष्ट्यादिसूचिका चाण्डालिका विज्ञा, भृतविशेषः ।

ननु अङ्गनादिसंस्कृतमस्यि चक्षुः सातिशयमूपलभ्यते इति चेन्म्, तथा  
स्वार्थान्तिकमेषौवातिशयोपलब्धेऽन् विषयान्तरप्राप्ताणांस्तोषातिशयम् । तथा  
चोक्तन्त्रम्—

यथाप्यस्तिशयो दृष्टः स स्वार्थान्तिकङ्गवनात् ।

दूर-सूक्ष्मादिदृष्टीं स्थानं रूपे श्रोत्रवृत्तितः ॥ ३ ॥

नन्दिलय वातिकस्य मर्बज-प्रतिषेषपरत्वाद्विषमे दृष्टान्ते इति चेन्म्;  
इग्निद्याजारं विषयान्तरप्रकृत्यावतिशय—तत्त्वात्त्वे साकृत्यात् दृष्टान्तवैद्यन्तरे । त  
हि सर्वो दृष्टान्तवर्णो वाष्टर्णितिके भवितुमर्हति, अन्यथा दृष्टान्तं एव न  
स्थान्ति ।

ततः स्थितम्—प्रत्यक्षानुमानाभ्यामर्थान्तरं प्रत्यभिज्ञानं सामग्री-स्वरूप-  
भेदादिति । त चैतदप्रमाणम्, ततोऽर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्थार्थक्रियायाम-

योग—अञ्जनादि से संस्कृत नेत्र के भी सातिशयपना प्राप्त होता है ।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है । वह चक्षु अपने सम्मिहित, वर्तमान  
रूपादि विषय का अतिक्रमण न करके ही अतिशयधने की प्राप्ति होती है,  
विषयान्तर को ग्रहण करने रूप लक्षण वाला अतिशय उसमें नहीं दिखाई  
देता है । मीमांसा इलोकवातिक में कहा है—

( गृद्ध, वराहादि के नेत्रादि में; क्योंकि गृद्ध के चक्षु प्रबल होते हैं,  
वराह के कान प्रबल होते हैं ) जहाँ भी अतिशय दिखाई देता है, वह  
अपने विषय का उल्लंघन न करके ही दिखाई देता है ( अविषय में नहीं ) ।  
दूर-सूक्ष्मादि पदार्थों के देखने में जो विशेषता होती है, वह मर्यादा के  
भीतर ही है । रूप के विषय में श्रोत्र इन्द्रिय का अतिशय दिखाई नहीं  
देता है ।

योग—यह वातिक सर्वज्ञ के निषेध के प्रसंग में कहा गया है । अतः  
यह दृष्टान्त विषम है ।

जैन—यह बात ठीक नहीं है । हम जैसे लोगों की इन्द्रियों की विषया-  
न्तर में प्रवृत्ति करने रूप अतिशय के अभाव मात्र में सादृश्य होने से,  
यह दृष्टान्त युक्तियुक्त है । दृष्टान्त के सभी धर्म दाष्टर्णित में हो, ऐसा  
नहीं है, अन्यथा दृष्टान्त ही नहीं रहेगा ।

चूंकि पूर्वोत्तर विवरविर्ती एकत्व प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं  
है अतः यह बात सिद्ध हुई कि प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रत्यभिज्ञान  
है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान की सामग्री दर्जन और स्थरण है तथा स्वरूप 'स  
एव' इस रूप सञ्चलन है । प्रत्यभिज्ञान को ( सीप में रखत ज्ञान के

विसंवादात् प्रत्यक्षविदिति । न वैकल्पिकापे बन्ध-मोक्षादिव्यवस्था, अनुमान-व्यवस्था च । एकत्वाभावे बद्धस्यीन मोक्षादेवृहीन-सम्बन्धस्यीन लिङ्गाद्यादर्शनात्, अनुमानस्य च व्यवस्थायोगादिति । न चास्य विषये बाधक-प्रमाणसङ्कलनादादप्रामाण्यम्, तद्विषये प्रत्यक्षस्य लैंगिकस्य चाप्रवृत्तेः प्रवृत्ती चा प्रत्युत 'साधकत्वमेव, न बाधकत्वमित्यलमतिप्रसंगेन ।

तथा सौगतस्य प्रमाणसङ्कल्पाविरोधिव्यवस्थावाचं तेकाद्यमुण्डीकत एव । न अस्तप्रत्यक्षेऽन्तर्भवति; साध्य-साधनयोव्यप्तिय-व्यापकभावस्य साकल्येन प्रत्यक्षा-विषयस्थात् । न हि तदियतो व्यापारान् कर्तुं शक्नोति; अविचारकस्थात् सन्ति-हितविषयस्थाच्च । नाथनुमाने; तस्यापि देशादिविषयविशिष्टत्वेन व्याप्त्य-

समान ) अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उससे पदार्थ को जाहाजार प्राप्तुता हुए, पुढ़े उनी अर्थक्रिया में प्रत्यक्ष के समान विसंवाद नहीं पाया जाता है । एकत्व का अपलाप करने वाले बोद्धमत में बन्ध, मोक्षादि की व्यवस्था अथवा अनुमान व्यवस्था नहीं बनती है । एकत्व का अभाव मानने पर जो बंधा था, वही छूटा इस प्रकार साधन रूप लिंग का साध्य के साथ जो अविनाभाव है, उसका ग्रहण नहीं होगा । ऐसा न होने पर अनुमान की भी व्यवस्था नहीं बनेगी । प्रत्यक्षिज्ञान के एकत्व के विषय में बाधक प्रमाण के सङ्क्लाव में अप्रमाणता भी नहीं है । प्रत्यक्षिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है । यदि इन दोनों की प्रवृत्ति ही भी तो यह साधक ही है अर्थात् प्रत्यक्षिज्ञान ने जिसे विषय बनाया है उसे प्रत्यक्ष साधता है या अनुमान साधता है तो ये दोनों साधक ही हैं, बाधक नहीं हैं । अतः इस प्रसंग में अधिक कहने से बस ।

तथा बौद्धों की प्रमाण संख्या का विरोध, बाधा रहित तर्क नाथिक प्रमाण आकर उपस्थित है । इसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भौत नहीं होता है; क्योंकि साध्य-साधन का व्याप्ति-व्यापक भाव रूप सम्बन्ध ( देशान्तर और कालान्तर के ) साकल्य से प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता । और न प्रत्यक्ष ( जिसने भा धूम है, वे सब अपि से जन्म हैं, अपि से भिन्न से उत्पन्न नहीं हैं ) इतने व्यापारों को करने में समर्थ है; क्योंकि वह वह अविचारक ( बोद्ध मत में निविकल्पक ) है और उसका विषय सम्बन्ध-

१. प्रत्यक्षिज्ञानेन विषयीकृतं प्रत्यक्ष साधयति, अनुमान साधयति, तदा साधकस्वम् ।
२. तीर्थसे संशय-विषयाद्यावधेनेति उक्तः ।
३. अनियतदिव्येशकालादिविषया व्याप्तिः ।

विषयत्वात् । तद्विषयत्वे वा प्रकृतानुभावानुभावन्तरशिक्तप्रद्वयान्तिकमात् । तथा प्रकृतानुभावेन व्याप्तिप्रतिपत्तावितरतराश्रयत्वप्रसंगः—व्याप्ति हि प्रतिपन्नाप्याम् सूमानभावानभावानादयति, तदास्मल्लभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । अनुभावन्तरेणाविनाभावप्रतिपत्तावनवस्थाच्चमूरी परपक्षचमूरी वज्रमीतीति नानुभावगम्या व्याप्तिः ।

ताति नानुभवादिग्रन्थिं लिहीरण्डोग्नेऽपान्नाप्यप्रद्वयाभावैः साकल्येनाकिनाभावावगतिः तेषां समय सद्गुहीसप्ताद्वयानन्वयाभूताभावविषयत्वेन व्याप्त्यविषयत्वात् परस्ताऽनन्वयुपगमाच्च ।

अथ प्रत्यजपृष्ठभाविविकल्पात् साकल्येन साध्य-साधनभावप्रतिपत्तेन प्रमाणान्तरं तद्वर्थं भूयधित्यपरः । सोऽपि न युक्तवादी; विकल्पस्याध्यक्षगुहीतविषयस्य

हित पदार्थं है । अनुभाव में भी तर्क प्रमाण का अन्तर्भवि नहीं होता है; क्योंकि अनुभाव देशादि के विषय से विशिष्ट व्याप्ति को विषय नहीं करता है । ( अनियत दिग्देश कालादि विषय वाली व्याप्ति हीतो है ) । व्याप्ति को अनुभाव का विषय मानने पर प्रकृत अनुभाव व्याप्ति को विषय करेगा या द्वासरा अनुभाव ? प्रकृत अनुभाव के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण करने पूर्ण इतरेतराश्रय वीष का प्रसंग आता है । व्याप्ति को स्वीकार कर लेने पर अनुभाव स्वरूपलाभ करने और अनुभाव के स्वरूप लाभ करने पर व्याप्ति का ग्रहण होता है । अन्य अनुभाव से अविनाभाव मानने पर अनवस्था नामक व्याप्ति परपक्ष रूपी सेना को चबा ढालेगी, अतः व्याप्ति अनुभावगम्य नहीं है ।

सांख्य, नैयायिक, अक्षपाद, प्राभाकर और जीभिनीय के द्वारा परिकल्पित आगम, उपमान, अधिपति और अभाव प्रमाणों के द्वारा सामर्थ्य रूप से अविनाभावरूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है; क्योंकि उन आगमादि के संकेत द्वारा वस्तु को ग्रहण करना, सादृश्य को ग्रहण करना, अनव्यथाभूत अर्थ को ग्रहण करना तथा अभाव को विषय करना ( पाथा जाता ) है । ये सब व्याप्ति को विषय नहीं करते हैं तथा इन सब मत वालों ने उन्हें व्याप्ति को विषय करने वाला माना भी नहीं है ।

बौद्ध—प्रत्यक्ष के पीछे होने वाले विकल्प से ( देशान्तर कालान्तर रूप ) सामर्थ्य से साध्य-साधन भाव की जानकारी होने से व्याप्ति ग्रहण के लिए अन्य प्रमाण की खोज नहीं करना चाहिए ।

१. प्रसिद्धसाधभूदिप्रसिद्धस्य साधनमुपमानम् । उक्तक्षेत्र—उपमानं प्रसिद्धार्थ-साधभूतिसाध्यसाधनमिति ।

तदगुहीतविषयात् एव सदृश्यदर्शनमात्रम् ? उहो पक्षे दर्शनस्त्रियं दाता नरभाविनिर्णयस्थापि नियतविषयत्वेन व्याप्त्यगोचरत्वात् । द्वितीयपक्षेऽपि विकल्पवृत्तमुपलीकृत एव—तद्विकल्पज्ञाने प्रमाणमन्वया कैति ? प्रथमपक्षे प्रमाणान्तरमनुमन्तरम्; प्रमाणद्वयेऽनन्तरभवित् । उत्तरपक्षे तु न 'ततोऽनुमानवृत्तम्' न हि व्याप्तिज्ञानस्याप्रामाण्ये तत्पुर्वकमनुमानं प्रामाण्यमास्कन्दति, सन्दिग्धादिलिङ्गाद्युत्पत्त्यान्तस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात् । ततो व्याप्तिज्ञाने सविकल्पमविसंबद्धकं च प्रमाणं प्रमाणद्वयान्यदम्नुपगमन्वयमिति न सौवित्राभिमलप्रमाणसङ्ख्यानियमः ।

एतेनानुपलम्भात् कारण व्यापकानुपलम्भावच कार्यकारण-व्याप्त्यव्याप्तकभाव-संवित्तिरिति बद्धनपि प्रत्युक्तः; अनुपलम्भस्य प्रत्यक्षविषयत्वेन कारणानुपलम्भस्य च लिङ्गत्वेन तत्त्वान्तिरितस्यानुमानत्वात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यो व्याप्तिग्रहणपक्षीपक्षिपत्तेवात् ।

जेन—वह बोढ़ युक्तिवादी नहीं है। प्रत्यक्ष से गृहीत विषय वाले विकल्प को आप व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं या प्रत्यक्ष से जिसका विषय गृहीत नहीं है, ऐसे विकल्प को व्याप्ति का व्यवस्थापक मानते हैं ? आदि पक्ष में दर्शन के समान उसके पीछे होने वाले विकल्प रूप निर्णय के भी विशिष्ट देश-काल के आधार से नियत विषयपक्षे के कारण व्याप्ति का ज्ञान ही नहीं होता है । दूसरे पक्ष में दो विकल्प प्राप्त होते हैं—वह विकल्पज्ञान प्रमाण स्वरूप है या अप्रमाण ? प्रथम पक्ष में अन्य प्रमाण मानना चाहिए; क्योंकि उसका दो प्रमाणों में अन्तर्भव नहीं होता है । उत्तर पक्ष मानते पर अर्थात् अप्रमाण सविकल्प मानने पर उससे अनुमान की व्यवस्था नहीं होती है । व्याप्ति ज्ञान के अप्रमाण्य होने पर व्याप्ति ज्ञानपुर्वक होने वाला अनुमान प्रमाणता को प्राप्त नहीं करता है । सन्दिग्ध, विपर्यस्त आदि लिंग से उत्पन्न होने वाले अनुमान को भी प्रमाण मानने का प्रसंग आता है । अतः तर्क नामक व्याप्ति ज्ञान की सविकल्पक, अविसंबद्धक और प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दोनों से भिन्न अन्य ही प्रमाण मानना चाहिए । इस प्रकार बौद्धाभिमत प्रमाण संख्या का नियम नहीं ठहरता है ।

प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा व्याप्ति के ग्रहण के निराकरण के रूप स्वभावानुपलम्भ से, कारणानुपलम्भ से और व्यापकानुपलम्भ से कार्यकारणभाव और व्याप्त्य-व्याप्तकभाव का ज्ञान होता है । ऐसा कहने वाले बीदों का भी निराकरण हो जाता है; क्योंकि स्वभावानुपलम्भ तो प्रत्यक्ष का ही विषय है और कारणानुपलम्भ तथा व्यापकानुपलम्भ लिंग रूप हैं ॥

एतेन प्रत्यक्षफलेनोहापोहविकल्पजातेन व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यपास्तम् । प्रत्यक्षफलस्यापि प्रत्यक्षानुभावोरत्यतरत्वे व्याप्तेरविषयोकरणात् लक्ष्यत्वे च प्रभागान्तरत्वमनिवार्यमिति ।

अथ व्याप्तिविकल्पस्य कल्पकात्म प्राप्ताप्यमिति न युक्तम्; फलस्वाप्यनुभावं लक्षणफलहेतुतया प्रभागत्वाविरोधात् । तथा 'सन्ति कर्वन्ते फलस्यापि विदोषवाज्ञानस्य विदोषवाज्ञानलक्षणफलापेक्षया प्रभागत्वमिति न वैशेषिकाभ्युपग्रहोहापोहविकल्पः प्रभागान्तरत्वमतिवर्तते ।

एतेन त्रिचतुर्व्यक्त्येण अट्प्रभागवादिनोऽपि साहृद्याकाराद-अभाकर-जैमिनीयाः हस्तप्रभागसङ्घर्षां न व्यवस्थापयितुं अमा इति प्रतिपादितमवग्रहत्यम् ।

तथा उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुभाव नहीं है, अतः प्रत्यक्ष और अनुभाव से व्याप्ति के ग्रहण करने के पक्ष में जो दोष प्राप्त होते थे, उनकी प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित होता है ।

अनुपलभ्म आदि के द्वारा व्याप्ति के ग्रहण में प्रत्यक्ष और अनुभाव पक्ष में उपक्रिया दोष के दर्शन से प्रत्यक्ष के फल ( पूर्व पूर्व प्रभाग होने पर उत्तर उत्तर फल होता है ) रूप ऊहापोह विकल्प ज्ञान के द्वारा व्याप्ति की जानकारी होती है, इस प्रकार कहने वाले वैशेषिकों के मत का भी सम्बन्ध हो जाता है । प्रत्यक्ष के फल की प्रत्यक्ष और अनुभाव में से किसी एक रूप मानने पर उनके द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जा सकती । प्रत्यक्ष और अनुभाव से भिन्न मानने पर भिन्न प्रभाग मानना अनिवार्य है ।

**नैत्याग्निक—व्याप्ति का पाहक तर्क फल होने के कारण प्राप्ताप्य नहीं है ।**

जैन—यह ठोक नहीं है । फल रूप होते हुए भी कह अनुभाव का हेतु है और अनुभाव उसका फल है, अतः उसे प्रभाग मानने में विरोध नहीं है तथा ( इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध रूप ) सन्ति कर्व के फल रूप भी विदोषण के ज्ञान को विदोषण ज्ञान के लक्षणरूप फल की अपेक्षा प्रभाग मानने पर वैशेषिकों के द्वारा माना गया ऊहापोह विकल्प रूप ज्ञान भी तर्क ज्ञान रूप अन्य प्रभाग का उल्लंघन नहीं करता है ( निराकरण नहीं करता है ) ।

बौद्ध की प्रभागसंख्याप्रतिपादन की असामर्थ्य के समर्थन द्वारा तीन, चार, पाँच, छह प्रभाग कहने वाले सांख्य, असपाद, प्रभाकर और जैमिनीय अन्यों प्रभाग की संख्या को व्यवस्थापित करने में समर्थ नहीं हैं,

१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्ति कर्वः ।

उक्तन्यामेन स्मृति-प्रत्यभिज्ञान-सकणिं तदभ्युपगतप्रमाणसङ्क्षयापरिधन्वित्वा द्विक  
प्रत्यक्षेतरभेदाद् हैं एव प्रमाणे इति स्थितम् ।

अयेदानीं प्रथमप्रमाणभेदस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह—

### विशदं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

आनभित्यनुवर्तते । प्रत्यक्षभिति चमिनिर्देशः । विशदज्ञानात्मकं साध्यम् । प्रत्यक्षस्वादिति हेतुः । तथाहि—प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकमेव, प्रत्यक्षत्वात् । यत्क्ष  
विशदज्ञानात्मकं तत्क्ष प्रत्यक्षम्, वया परोक्षम् । प्रत्यक्षं च विवादापन्नम् । तस्या-  
विशदज्ञानात्मकमिति । प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्धो हेतुरिति चेत् का युनः प्रतिज्ञा  
कदेशक्षेत्रो वा ? अमि धर्मसमुदायः प्रतिज्ञा । कदेशक्षेत्रो धर्मो धर्मी वा ? हेतुः  
प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्ध इति चेत्त, असिद्धत्वायोगात् । तस्य पक्ष-  
प्रयोगकालबद्वेतुप्रयोगेऽप्यसिद्धत्वायोगात् ।

ऐसा प्रतिपादित समझना आहिए । उक्त व्याय से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान  
और तर्कप्रमाण सांख्यादि के द्वारा मानी गई प्रमाण संख्या के विरोधी  
हैं । इस प्रकार यह बात शिद्ध हूँदि कि प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो  
ही प्रमाण हैं ।

अब इस समय प्रमाण के प्रथम भेद प्रत्यक्ष का स्वरूप निरूपण करने  
के लिए कहते हैं ।

### सूत्रार्थ—विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ ३ ॥

इस सूत्र में ज्ञान पद की अनुवृत्ति होती है । प्रत्यक्ष यह धर्मों का  
निर्देश है (साध्य धर्म का आधार रूप धर्मी पक्ष है) । विशद ज्ञानात्मकता  
साध्य है, प्रत्यक्षत्वात् यह हेतु है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—प्रत्यक्ष  
विशदज्ञानात्मक ही होता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष है । जो विशदज्ञानात्मक  
नहीं होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं होता है, जैसे परोक्ष । और प्रत्यक्ष  
विवादापन्न है, इसलिए वह विशद ज्ञानात्मक है ।

### शब्दरूप—यहाँ हेतु प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्ध है ।

प्रतिज्ञाङ्का—प्रतिज्ञा क्या है और उसका एकदेश क्या है ?

सम्बाधान—धर्म ( साध्य ) और धर्मी ( पक्ष ) का समुदाय प्रतिज्ञा  
है । उसका एकदेश धर्म अथवा धर्मी है । उनमें से एक को हेतु बनाने पर  
वह प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है ।

प्रतिसम्बाधान—यह बात ठीक नहीं है । धर्मी को हेतु बनाने पर  
असिद्धपना नहीं प्राप्त होता है । पक्षप्रयोग काल में धर्मी के जैसे

वर्मिणो हेतुत्वे अनन्यक दोष हति जेन्; विशेषस्य वर्मित्वात्, सामान्यस्य च हेतुत्वात् । तस्य च विशेषेऽसुगमो विशेषनिष्ठत्वात्सामान्यस्य ।

अथ साध्यधर्मस्य<sup>१</sup> हेतुत्वे प्रतिज्ञार्थकदेशसिद्धत्वमिति । तदप्यसम्मतम्, साध्यस्य स्वरूपेणीवासिद्वत्वात् प्रतिज्ञार्थकदेशत्वेन तस्याभिष्ठवत्वम्, वर्मिणा व्यभिचारात् ।

सप्तको वृत्यभावाद्वेतोरसम्बय इत्यप्यसत्, सर्वभावानो अणभज्ज्ञसञ्ज्ञमेवाक्षं शृङ्खारमज्जीकुर्वतां साथागतानां सरवाविहेतुमामनुदयप्रसाङ्गात् । न विषेषे बाधकं प्रमाणभावात्, पश्यापकस्वाच्छान्वयत्वं प्रकृतेऽपि समानम् ।

इदानीं स्वोक्तमेव विशेषत्वं व्याचार्ते—

**प्रतीत्यन्तराध्यवधानेन विशेषवत्त्वा चा प्रतिभासने वैश्वानम् ॥४४॥**

असिद्धपना नहीं है, उसी प्रकार हेतु प्रयोगकाल में भी उसके असिद्धपना नहीं आ सकता ।

**शब्दः**—धर्मों को हेतु बनाने पर ( यह पर्वत अग्निवाला है; क्योंकि यह पर्वत है, इत्यादि के समान ) अनन्य दोष प्राप्त होता है ।

**समाधानः**—यह बात ठीक नहीं है । प्रत्यक्ष विशेष यहीं धर्मों है और प्रत्यक्ष सामान्य हेतु है । सामान्य का अपने विशेषों में अन्य रहता है; क्योंकि सामान्य अपने सभी विशेषों में रहता है ( ऐसा योग ने माना है ) ।

**शब्दः**—साध्य रूप धर्म को हेतु बनाने पर प्रतिज्ञार्थकदेशसिद्ध हेत्वाभास हो जायगा ।

**समाधानः**—यह बात भी असम्भव है । साध्य के स्वरूप से ही असिद्ध होने से प्रतिज्ञार्थ के एक देश होने से असिद्धता नहीं है, अन्यथा धर्मों के द्वारा व्यभिचार आता है ।

**शब्दः**—( साध्य-साधन धर्म-धर्मी संप्रक्ष है, उस ) सप्तक में हेतु के न रहने से और अन्य दृष्टान्त के न पाए जाने से आपके अनन्य दोष प्राप्त होता है ।

**समाधानः**—यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि समस्त पदार्थों के ज्ञानभंग संगमरूप शृङ्खार को अज्ञेकार करने वाले दीदों के सत्त्वादि हेतुओं के अनुदय का प्रसंग प्राप्त होता है । विषज्ञ में बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से तथा पक्ष में व्यापक होने से सर्व हेतु के अनन्यदूषण नहीं प्राप्त होता है, यह बात प्रकृत में भी समान है ।

प्रत्यक्ष के विशदज्ञानात्मकत्व का समर्थन करने के अनन्तर अपने हारा कहे गए विशदत्व के विषय में कहते हैं—

१. साध्यधर्म धर्मः साध्यधर्मः ।

एकस्याः प्रतीतेरन्या प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरम् । तेन व्यवधानं तेन प्रतिभासनं वैशद्धम् । यद्यप्यकायस्यादग्नेहापनीयिः याऽप्यन्यः लक्षणिः न परोक्षत्वम्; विषयविषयिणोभेदेना प्रतिपत्तेः । यथा विषय-विषयिणोभेदे सति व्यवधानं सत्र परोक्षत्वम् ।

तर्हीनुमानाव्यवचिष्यवस्थैकात्मग्राह्यस्याभेदिनस्योपलग्भादव्यक्षात्य परोक्ष-  
तेति । तदप्ययुक्तम्, भिन्नविषयस्थाभावात् । विसद्गुणसामग्रीजग्नभिन्नविषया प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरमुच्यते, नान्यदिति न दोषः । न केवलमेतदेव, विशेषवस्या वा प्रतिभासनं सविशेषवर्णसंह्यानादिप्रहणं वैशद्धम् ।

**सूत्राचं**—दूसरे ज्ञान के व्यवधान से और विशेषता से होने वाले प्रतिभास को वैशद्ध कहते हैं ।

एक प्रतीति से भिन्न दूसरी प्रतीति को प्रतीत्यन्तर कहते हैं । उससे व्यवधान का न होना, उससे प्रतिभासन होना वैशद्ध है । यद्यपि अवाय का अवग्रह और इहा रूप को प्रतीतियों से व्यवधान है, फिर भी परोक्षपता नहीं है; क्योंकि यहाँ पर विषय ( पदार्थ ) और विषयी ( ज्ञान ) की भेद रूप से प्रतीति नहीं है । जहाँ विषय और विषयी में भेद होने पर व्यवधान होता है, वहाँ पर परोक्षपता भाना जाता है ।

**विशेष**—जो पदार्थ अवग्रह का विषय है, वही इहा और अवाय का विषय है । एक ही विषयभूत पदार्थ को जानने से ये सभी ज्ञान एक विषयरूप हैं ।

**शास्त्रा**—जैसे अवग्रह ज्ञान प्रत्यक्ष है उसी प्रकार अवग्रह और इहा से व्यवधान होने पर भी अवायज्ञान की भी प्रत्यक्षता उसी क्रम से ही है । यदि ऐसा है तो प्रथम अग्निज्ञान परोक्ष है; क्योंकि धूमज्ञान से व्यवधान है । बाद में सभीप में जाकर देखता है, उसका प्रत्यक्षपता भी परोक्ष होता है; क्योंकि उसमें प्रतीत्यन्तर रूप अनुमान ज्ञान से व्यवधान है तथा प्रथम धूम दर्शन अन्य विषय है, पश्चात् अग्निज्ञान भिन्न है । अतः भिन्न विषयों की उपलब्धि के कारण इस प्रकार उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष ज्ञान के भी परोक्षपता प्राप्त होता है ।

**समाधान**—यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ पर भिन्न विषयपते का अभाव है । विलक्षण सामग्री से जन्य भिन्न विषय वाली प्रतीति प्रतीत्यन्तर कहलाती है, अन्य नहीं, अतः दोष नहीं है । दूसरे ज्ञान के व्यवधान से रहितपता ही वैशद्ध नहीं है, अपितु विशेषता से

'तत्त्वं प्रत्यक्षं देवा, मुख्यं संव्यवहारभेदादिति भनति कुल्य प्रथमं सांब्यवहारिकं प्रत्यक्षोत्पादिकं सामग्रीं तद्भेदं च प्राह—'

**'इन्द्रियानिन्द्रियं निमित्तं वेशासः सांब्यवहारिकम् ॥५ ॥**

विशदं ज्ञानमिति ज्ञानवर्तनते । वेशासो विशदं ज्ञानं सांब्यवहारिकमित्यर्थः । समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः, तत्र भवं सांब्यवहारिकं । पुनः किम्भूतम् ? इन्द्रियानिन्द्रियमित्यस्मृतः । इन्द्रियं चक्षुरादि, अनिन्द्रियं भनः ते निमित्तं कारणं यस्य । समस्तं व्यस्तं च कारणमस्युपगम्यत्यम् । इन्द्रियप्राचाचान्यादनिन्द्रियवलोचनादुपज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम् । अनिन्द्रियादेव ३विषुद्धिमध्येकादुपज्ञायज्ञानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।

तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षमवश्यादिवारणापर्यन्तसदा चतुर्विषयमयि वस्तुपरिदृशसमेवसद्गहने वाला प्रतिभास, विशेषतः ते युक्तं एव संत्यानादि का व्यहण वैश्यम् ।

वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, मुख्य प्रत्यक्ष और सांब्यवहारिक प्रत्यक्ष, इस प्रकार मन में रखकर प्रथम सांब्यवहारिक प्रत्यक्ष को उत्पादक सामग्री और उसके भेद को कहते हैं ।

**सूत्रार्थ—** इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एकदेश विशद ज्ञान को सांब्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ ५ ॥

सूत्र में विशद और ज्ञान की अनुवृत्ति आती है । एकदेश विशद ज्ञान सांब्यवहारिक है । समीचीन प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं, उसमें होने वाले ज्ञान को सांब्यवहारिक कहते हैं । पुनः सांब्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसा है ? इन्द्रिय और मन जिसके कारण हैं । इन्द्रियाँ चक्षुरादि हैं और अनिन्द्रिय मन है, वे जिसके निमित्त = कारण हैं । इन्द्रिय और मन ये समस्त भी सांब्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण हैं और पृथक्-पृथक् भी कारण हैं, ऐसा मानना चाहिए । इन्द्रिय की प्रधानता से और मन की सहायता से उत्पन्न ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है । ज्ञानावरण और वीयन्तिरण के क्षयोपगम संक्षण वाली विषुद्धि की अपेक्षा सहित केवल मन से ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष इन दोनों के मध्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का होने-

१. इन्द्रियति परमैश्वर्यमनुभवतीति इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् ।
२. ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियम् ।
३. ज्ञानावरणवीयन्तिरणवायोपधामलक्षणा विषुद्धिः ।

चत्वारिंशत्सदूर्लयं प्रतीन्द्रियं प्रतिपत्तव्यम् । अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य जोनप्रकारेणाद्य-  
चत्वारिंशत्सदूर्भेदेन मनोनयनरहितानां चतुर्णामिथीनिद्रियाणां व्यञ्जनावग्रहस्याद्यत्वा-  
रिंशत्सदूर्भेदेन च समुद्दितस्येनिद्रियप्रत्यक्षस्य वर्द्धिताद्युत्तरा विशेषी धर्मदूर्लया  
प्रतिपत्तव्या ।

ननु स्वसंबेदनभेदव्यव्यवदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत्कथं नोन्नप्रिति न वाच्यम्; तस्य  
सुखादिज्ञानस्वरूपसंबेदनस्य मानसप्रत्यक्षस्त्वात्, इन्द्रियज्ञानस्वरूपसंबेदनस्य चेन्द्रिय-  
समक्षस्त्वात् । अन्यथा तस्य स्वव्यवसायायांगात् । स्मृत्यादिवरूपसंबेदनं मानसभे-  
वेति नापरं स्वसंबेदनं नामाव्यक्तमस्ति ।

ननु प्रत्यक्षस्योत्पादकं कारणं बदला ग्रन्थकारेणोन्द्रियवद्यलोकादपि कि न  
कारणत्वेनास्तो ? सप्तपञ्चकारणात् व्यञ्जनावग्रहादिसिद्धानामोह एव स्थात्

पर भी बहु आदि बारह विषयों के भेद से अड़तालीस भेद रूप प्रत्येक  
इन्द्रिय के प्रति ज्ञानना चाहिए । अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के उक्त प्रकार  
अड़तालीस भेद के साथ ( अप्राप्यकारी होने से ) मन और नयन से रहित  
ओष्ठ, त्वक्, जिह्वा और ध्याणेन्द्रियों के व्यञ्जनावग्रह के ४८ भेद के  
साथ एकत्रित इन्द्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष की ३३६ संख्या ज्ञाननी चाहिए ।

**विशेष—**सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप मति ज्ञान के ३३६ भेद होते हैं ।  
पाँच इन्द्रियाँ और मन छहों के अधीवग्रह आदि चार चार के हिसाब  
से छोटीस भेद हुए तथा उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यञ्जना-  
वग्रह जोड़ने से अट्ठाईस हुए । इन सबको बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध  
आदि बारह-बारह भेदों से गुणा करने पर ३३६ भेद होते हैं । भेदों की  
यह गणना स्थूल दृष्टि से है । वास्तव में तो प्रकाश आदि की सफुटता,  
असफुटता, विषयों की विविधता और क्षयोपशम की विचित्रता के आधार  
पर तरतम भाव वाले असंख्य होते हैं ।

**ज्ञौङ्ग—**स्वसंबेदन नामक एक अन्य भेद भी है, वह क्यों नहीं कहा ?

**जैन—**ऐसा नहीं कहना चाहिए । सुखादि ज्ञानस्वरूप उस संबेदन  
का मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भवि होता है । इन्द्रिय ज्ञान स्वरूप संबेदन का  
इन्द्रिय प्रत्यक्ष में अन्तर्भवि होता है, अन्यथा स्वसंबेदन ज्ञान के स्वव्यव-  
सायकता नहीं बन सकती है । स्मृति आदि स्वरूप संबेदन मानस प्रत्यक्ष  
ही है, इससे भिन्न स्वसंबेदन नाम का कोई प्रत्यक्ष नहीं है ।

**नैयायिक—**प्रत्यक्ष के उत्पादक कारण बतलाते हुए ग्रन्थकार ने  
इन्द्रिय के समान अर्थ और आलोक को कारण के रूप में क्यों नहीं कहा ?

वदियस्त्रिनवधारणात् । न च भगवतः परमकारणिकस्य चेष्टा तद्व्यापोहाय  
अभवतीत्याशक्त्वायभूयते—

### नाथालोकी कारणं परिच्छेद्यस्वास्तमोवस् ॥६॥

सुगममेतत् । ननु बाह्यालोकाभावे विहाय तमसोऽन्यस्याभावात् साधनविकले  
दृष्टान्तं हति ? नैवम्, एवं सति बाह्यालोकस्यापि तमोऽभावादन्यस्यास्तमभवासेजो-  
द्वयस्यासम्भव इति विस्तरेणीतदक्षुरे प्रतिपादितं बोध्यम् ।

अर्थात् साध्ये हेतुन्तरमाह—

सदन्यय-व्यतिरेकात्मुविधानाभावात्तथा केशोऽप्युक्तश्चनवन्तरतत्त्व-  
ज्ञानवचन्नम् ॥७॥

अत्र अपाप्तिः—यदस्यान्यव्यव्यतिरेकी नानुविदवाति, न तत्त्वकारणकम्, यथा

इनके नहीं कहने से कारणों के साकल्य का संग्रह नहीं होने से व्यापोह ही  
होगा; क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति के कारणों की संख्या का अवधारण नहीं होगा ।  
भगवान् परम कारणिक ग्रन्थकर्ता आचार्य की प्रवृत्ति शिष्यों के अभ्यासोह के  
लिए नहीं हो सकती, ऐसी आशक्त्वा होने पर कहते हैं ।

सूत्रार्थ—अर्थ और आलोक सांघविकारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं हैं;  
क्योंकि वे ज्ञेय हैं, जैसे—अन्धकार ॥ ६ ॥

यह सूत्र सुगम है ।

शक्त्वा—बाह्य आलोक के अभाव को छोड़कर अन्य कोई अन्धकार  
नहीं है, अतः आपका दृष्टान्त साधनविकल है ।

समाधान—यह बात ठोक नहीं है । ऐसा होने पर बाह्य प्रकाश को  
भी अन्धकार का अभाव कह सकते हैं । इस प्रकार प्रकाश के असम्भव  
हो जाने से तेजोद्रव्य का मानना भी असम्भव हो जायगा । यह बात  
विस्तार से प्रमेयकमलमात्तिष्ठ में प्रतिपादित जाननी चाहिए ।

इसी साध्य के विषय में दूसरा हेतु करते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मी ज्ञान का कारण अर्थ और आलोक नहीं हैं; क्योंकि  
ज्ञान का अर्थ और आलोक के साथ अन्यव्यव्यतिरेक रूप सम्बन्ध का  
अभाव है । जैसे केश में होने वाले उण्डुक (मच्छर) ज्ञान के साथ तथा  
नस्तंचर उलूक आदि को रात्रि में होने वाले ज्ञान के साथ ॥ ७ ॥

अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं हैं, इस विषय में अपाप्ति है—  
जो कार्य जिस क्षारण के साथ अन्य और व्यव्यतिरेक को ज्ञान नहीं

केष्ठोष्टुकज्ञानम् । नाभुविषत्ते च ज्ञानमर्थीन्वयव्यतिरेकाविति । तथाऽऽलोकेऽपि ॥  
एतावान् विज्ञेयस्तत्र नवतञ्च दृष्टान्तं इति । नवतञ्च ता माजीरादयः ।

ननु विज्ञानमर्थं जनितमर्थाकारं धार्यस्य ग्राहकम्; तदुत्पत्तिमन्तरेण विषयं प्रसि-  
नियमायोगात् । तदुत्पत्तेरालोकादावविशिष्टत्वात्तदूपर्यहिताया एव तत्त्वात्मा-  
प्रति नियमहेतुत्वात्, भिन्नकालत्वेऽपि ज्ञानज्ञेययोर्योग्याह्यप्राहुकभावाविरोधात् । तथा-  
चोकम्—

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञास्तदाकारार्पणक्षमम् ॥४॥

इत्याशङ्कायामिदमाह—

**अतञ्चन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥**

अथाजिन्यमर्थव्यर्थप्रकाशकभित्यर्थः । अतञ्चन्यत्वमुपलक्षणम् । तेनातदाकारमपि-

करता है, वह तत्कारणक नहीं है । जैसे केश में होने वाला उष्टुक का ज्ञान  
अर्थ के साथ अन्वय व्यतिरेक की धारण नहीं करता । आलोक में भी  
ज्ञान के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है । इतना विशेष है कि यहीं  
नवतञ्चर दृष्टान्त है । माजीर आदि नवतञ्चर हैं । आदि शब्द से अज्ञान  
से संस्कृत चक्षु भी ग्रहण करना चाहिए ।

योगात्मार औदृढ़ का कहना है कि अर्थ से जनित और अशक्तिर  
विज्ञान अर्थ का ग्राहक है; क्योंकि तदुत्पत्ति के विना विषय के प्रति कोई  
नियम नहीं बन सकता । तदुत्पत्ति को ही नियामक मानने पर तदुत्पत्ति  
आलोक आदि में भी समान है । अतः तादृश सहित तदुत्पत्ति को ही  
विषय के प्रति नियामक माना गया है । यदि माना जाय कि ज्ञान और  
ज्ञेय भिन्न क्षणवर्ती हैं तो भी ज्ञान और ज्ञेय में ग्राहा और ग्राहक भाव  
का विरोध नहीं होगा । जैसा कि कहा गया है—

इकोकार्थ—यदि कोई पूछे कि भिन्नकालवर्ती पदार्थ ग्राह्य कैसे हो  
सकता है तो युक्ति के जानने वाले आचार्य ज्ञान में तदाकार के अर्थण  
करने की क्षमता वाले हेतुत्व को ही ग्राह्यता कहते हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार शङ्का होने पर यह कहते हैं—

सूत्रार्थ—अर्थ से नहीं उत्पन्न होने पर भी ( अर्थ प्रकाशन स्वभाव  
होने के कारण ) ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है, दीपक के समान ॥ ८ ॥

ज्ञान अर्थ से जन्य न होने पर भी अर्थ का प्रकाशक होता है । अत-  
ज्ञन्यता उपलक्षण है, उससे अतदाकारधारित्व स्वयं अर्थ का ग्रहण होता

तथ्यः । उभयधारि प्रदीपी दृष्टान्तः । मध्या प्रदीपस्यासज्जन्यस्याप्तदाकारधारिषोऽपि  
तदप्रकाशकत्वम्, तथा ज्ञानस्यापीत्यर्थः ।

ननु यद्यपि दिजातस्यार्थरूपात्मुक्तारिणो ज्ञानस्यार्थसाक्षात्कारित्वं तदा नियत-  
दिग्देशकालविधार्थप्रकाशप्रतिनियमे हेतोरभ्यासर्वं विज्ञानप्रतिनियतविषयं  
स्यादिति ज्ञानायामाह—

**स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं**

**स्यावस्थापद्यति ॥ ९ ॥**

स्वानि च तान्यावरणाति च स्वावरणाति । तेषां क्षये उदयाभावः । तेषां  
मैय सद्बस्था उपशमः,<sup>३</sup> तावेच लक्षणं यस्या योग्यतायास्तया हेतुभूतया प्रति-

है । जैसे—कौओं से वही की रक्षा करो, ऐसा कहने पर गृद्धों से भी  
रक्षा करो, केवल कौओं से नहीं । इसी अतदाकारधारित्व उपलक्षण  
थोड़ा है । अतजजन्यता और अतदाकारता दोनों में दीपक का दृष्टान्त  
है । जैसे दीपक पदार्थ से नहीं उत्पन्न होने पर भी पदार्थ का आकार  
न धारण करने पर भी पदार्थ का प्रकाशक होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी  
पदार्थ से उत्पन्न कहोने पर भी और पदार्थ कर आकार धारण न करके  
भी पदार्थों को जानता है ।

**बौद्ध—**यदि अर्थ से नहीं उत्पन्न हुए और अर्थ के आकार को भी  
नहीं धारण करने वाले ज्ञान के अर्थसाक्षात्कारित्व है तो नियतदिशावर्तीं,  
नियतदेशवर्तीं और नियतकालवर्तीं पदार्थों को जानने के प्रतिनियम में  
तदुत्पत्ति वीर तादूष्य हेतु के अभाव से सभी ज्ञान अप्रतिनियत विषय वाले  
हो जायेंगे ? ( तब प्रत्येक ज्ञान, अतीत, अनागत, व्यवहित, दूरवर्ती  
तथा अन्तरित पदार्थों को जानने लगेगा ) । इस प्रकार की शङ्खा होने  
पर कहते हैं ।

**सूत्रार्थ—**अपने आवरण के क्षयोपशम लक्षण वाली ( अर्थग्रहण शक्ति  
रूप ) योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदार्थों के जानने को व्यवस्था  
करता है ॥ ९ ॥

अपने आवरण स्वावरण हैं । उनके उदय के अभाव को क्षय कहते हैं ।  
अनुदय प्राप्त उन्हीं कमीं की सद् अवस्था उपशम है । वही लक्षण जिस

१. मतिज्ञानावरणवीथस्तिरायकमेदव्याप्तिं अनुभावस्य सर्वातिस्पर्धकामः मुदया-  
धावः क्षयः ।

२. तेषामेवानुदयप्राप्तानां सद्बस्था उपशमः ।

नियतभयं अवस्थापयति प्रत्यक्षमिति शेषः । हि यस्माद्धर्थे । यस्मादेव ततो नीजादोष इत्यर्थः ।

इदमत्र तात्पर्यम्—कल्पयित्वापि ताद्रूपं तदुत्पत्तिं तदध्यवसायं च योग्यताऽब्द-  
हयाऽप्युपगमन्त्वा । ताद्रूपास्य समानार्थस्तदुत्पत्तेरितिक्रयादिभिस्तद्वृद्ध्यस्यापि  
समानार्थसमन्वयत्वप्रत्ययैस्तदित्यस्यापि शुद्धके शब्दे पीताकारज्ञानेन व्यभिचाराद  
प्रोप्तात्रयणमेव श्रेण इति ।

एतेत यदुत्पत्तं परेण—

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वाऽर्थेषुपताय ।

तस्मात्प्रमेयाधिगतेः प्रभार्ण मेयरूपता ॥ ५ ॥

इति तन्निरस्तम्; समानार्थकारनामाज्ञानेषु मेयरूपतायाः सद्मावत् । न च  
परेणां रासुप्यं नामास्ति वद्युभूतमिति योग्यतावैवार्थप्रतिनियम इति स्थितम् ।

इदानीं कारणत्वात्परिच्छेदोऽर्थं इसि मतं निराकरोति—

योग्यता का है, हेतुभूत उससे प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था  
करता है। 'हि' यस्मात् के अर्थ में है। चूंकि ऐसा है, अतः उक्त दोष नहीं है।

यही तात्पर्य यह है—ताद्रूप, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय की कल्पना  
करके भी यहीं योग्यता अवश्य माननी चाहिए। ताद्रूप का समानार्थों  
के साथ, तदुत्पत्ति का इतिक्रयादिकों के साथ, इन दोनों का समानार्थ सम-  
नन्वत्व प्रत्यय के साथ और ताद्रूप, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय इन तीनों  
का शुद्धक शब्द में पीताकर ज्ञान के साथ व्यभिचार आता है, अतः योग्यता  
का आधार लेना ही श्रेयस्कर है।

ताद्रूप आदि के व्यभिचार प्रतिपादन करने से बौद्ध द्वारा जो यह  
कहा गया है—

इलोकार्थ—अर्थ रूपता को छोड़कर अन्य कोई निर्विकल्पक प्रत्यक्ष  
वृद्धि अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है। अतः प्रभार्ण के विषय-  
भूत पदार्थ को जानने के लिए मेयरूपता ( पदार्थ के आकार वाली तदा-  
कारता ) ही प्रभार्ण है ॥ ५ ॥

यह कथन निरस्त हो जाता है; क्योंकि समान अर्थकार वाले ताना  
ज्ञानों में मेयरूपता (तदाकारता) पायी जाती है। बौद्धों के यहीं सदृश  
परिणाम लक्षण वाला सामान्य पदार्थ जैसा सारूप्य नहीं है। अतः योग्यता  
ही विषयके प्रतिनियम का कारण है।

इस समय पदार्थ को ज्ञान का कारण होनेसे परिच्छेद ( श्रेण ) कहते  
हैं। इस मत का निराकरण करते हैं—

**कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिमा व्यभिचारः ॥ १० ॥**

करणादिकारणं परिच्छेद्यभिति तेन व्यभिचारः । न ब्रूमः कारणाद्यात्परिच्छेद्यत्वम्, अपि तु परिच्छेद्यत्वात्कारणत्वभिति वेनः तथापि केषोऽनुकादिना व्यभिचारात् ।

इदामीमतीन्द्रियप्रत्यक्षां व्याचये ॥

**सामग्रीविशेषविवलेवितास्तिलावरणमतीन्द्रियमशेषतोभूलयम् ॥ ११ ॥**

सामग्री<sup>१</sup> द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणा, तट्या विशेषः समरनालक्षणः । तेन विवलेवितान्यस्तिलावरणात्मा येन तत्त्वधोषम् । किंविशिष्टम् ? अतीन्द्रियमिन्द्रियाभ्यतिकालम् । पुनरपि कीदृशम् ? अशेषतः सामस्येन विशेषम् । अशेषतो वैश्यादे कि कारणमिति वेत् प्रतिबन्धाभावः इति ब्रूमः । तत्रापि कि कारणमिति

**सूत्रार्थ—कारण को परिच्छेद ( ज्ञेय ) मानने पर करण आदि से व्यभिचार आता है ॥ १० ॥**

करणादि ज्ञान के कारण हैं, अतः परिच्छेद ( ज्ञेय ) है, इसलिए इन्द्रियादि से व्यभिचार सिद्ध है ।

**धीरु—**हम योग अर्थ की ज्ञान का कारण होने से ज्ञेय नहीं कहते हैं, बल्कि परिच्छेद होने से उसे ज्ञान का कारण कहते हैं ।

**जैन—**फिर भी केशोऽनुक आदि से व्यभिचार आता है । तात्पर्य यह कि जिस व्यक्ति को सिर पर मच्छर उढ़ते देखकर केशों के उड़ने का ज्ञान हो रहा है, उसके बे मच्छर ज्ञान के कारण नहीं होते हैं ।

इस समय अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**सामग्री की विशेषता से दूर हो गये हैं समस्त आवरण जिसके, ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णतया विशद ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ ११ ॥

योग द्रव्य, धेन, काल और भाव की प्राप्ति की सामग्री कहते हैं । उसका विशेष सम्यक्ता लक्षण वाला है । उस सामग्री विशेष से विशिष्टित कर दिये हैं, समस्त आवरण जिसने, ऐसा वह ज्ञान है । पुनः कैसा है ? इन्द्रियों का उल्लंघन करके प्रबूत हुआ है । पुनः कैसा है ? सम्पूर्ण रूप से विशद है । सम्पूर्ण रूप से विशद होने में क्या कारण है ? ऐसा पूछो तो हम कहते हैं कि विशद होने में प्रतिबन्ध का अभाव कारण है । प्रति-

१. कर्मकाययोग्योत्तमसंहृनोत्तमप्रदेशोत्तमकालोत्तमसम्यक्षर्त्तमा! यिपरिणयतिस्वाल्पा-सामग्री ।

चेदतीन्द्रियत्वमनावरणत्वे चेति शून्यः । एतद्वयि कुतः ? इत्याह—

### साध्यरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥ १२ ॥

मन्यवधि-मनःपर्यथोरनेनासदृश्यहाद्याप्यकमेतलक्षणमिति न जात्यभू; सथोरमि स्मद्विषयेऽद्वैषो विशदत्वादिवर्गमभवात् । न चैव मति-श्रुतयोरित्यतिथ्यादिपरिहारः । लदेतदतीन्द्रियमवधि-मनःपर्यय-केवलप्रभेदात् त्रिविधमपि मुख्यं प्रत्यक्ष-मात्रमिति । तथा विद्यांश्च ।

नन्दयोषविषयविषयादाक्षभासिज्ञानस्य तदन्तो वा प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रबन्धाविषय-स्वेनाभावप्रमाणविषयमविषयवरदिव्यस्तसाकरत्वात् कस्य मुख्यत्वम् ? तथा हि— नाभ्यक्षमशेषवज्ञविषयम्, तस्य रूपादिनियतगोपरचारित्वात् सम्बद्धवर्तमानविषय-त्वाच्च । न चाशेषवेदो सम्बद्धो वर्तमानहेति । नाभ्यनुमानालरित्विदिः । अनुमानं

बन्ध के अभाव में भी क्या कारण है ? अतीन्द्रियता और निवारणता कारण है, ऐसा हम कहते हैं । यह भी क्यों ? इसके विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**आवरण सहित और इन्द्रिय जनित मानसे पर ज्ञान का प्रतिबन्ध सम्भव है ॥ १२ ॥

**शब्दः—**इस सूत्र से अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का संग्रह नहीं होता, अतः यह लक्षण अव्याप्ति है ।

**समाधान—**ऐसा नहीं कहना चाहिए । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भी अपने विषय में सम्पूर्ण रूप से विशदत्वाद धर्म सम्भव हैं । चौंकि मति और श्रुति में ऐसा नहीं है बतः अतिक्षाप्ति दोष का निराकरण हो जाता है । इस प्रकार यह अतीन्द्रिय मुख्य प्रत्यक्ष अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से लीन प्रकार का होने पर भी मुख्य प्रत्यक्ष आत्मा की सन्त्वनिधि मात्र की अपेक्षा से होता है ।

**शब्दः—**सम्पूर्ण विषयों को विशद रूप से अवधासित कराने वाला ज्ञान अथवा उस प्रकार का ज्ञानवाद् पुरुष चौंकि प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का विषय नहीं है और अभाव प्रमाण विवर विषयवर सर्व के समान उसकी सत्ता को विद्यवस्तु करता है, अतः किसके मुख्यफल है ? इसी बात को स्पष्ट करते हैं—प्रत्यक्ष प्रमाण तो अशेषज्ञ ( सर्वज्ञ ) की विषय नहीं करता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो रूपादि नियत विषयों को ही विषय करता है तथा उसका विषय सम्बद्ध और वर्तमान है । सर्वज्ञ सम्बद्ध और वर्तमान नहीं है । अनुमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है । साध्य-साधन के सम्बन्ध को जिसने ग्रहण किया है ऐसे पुरुष के ही एकदेश धूर्ये के देखने से

हि गृहीतसम्बन्धस्यैकदेशादर्थानांदसन्निकृष्टे वुद्धिः । न च सर्वज्ञसद्भावादिनाभाविकार्यलिङ्गं सद्भावलिङ्गं वा सम्प्रश्यामः । लज्जपते पूर्वं तत्स्वभावस्य तत्कार्यस्य वा तत्सद्भावादिनाभाविनो मिश्चेसुमणवते । नाप्यागमसत्तत्सद्भावः । स हि नित्योऽनित्यो तत्सद्भावं भावयेत् ? न तात्त्वनित्यः, तस्यार्थवादरूपस्य कर्मविशेषसंस्तुत्यमपरत्वेन पुरुषविशेषावबोधकत्वायोगात् । अनादेतागमस्यादिसत्यरूपवाचकत्वाद्यनाच्च । नाप्यनित्यं आगमः सर्वज्ञं साधयति, तस्यापि तत्प्रणीतस्य तन्मिश्चयमन्तरेण प्रामाण्यानिवच्यादितरेतराश्रयत्वाच्च । इतरप्रणीतस्य<sup>१</sup> त्वनामादिते प्रमाणभाव-ह्याशेषज्ञप्रस्तुपरत्वं नितरामसम्भाव्यमिति । सर्वज्ञसद्भावस्यादरस्य ऋहुणामभ-

असन्निकृष्ट ( दूरवर्ती ) पदार्थ में जो वुद्धि होती है, उसे अनुमान कहते हैं । सर्वज्ञ के सद्भाव का अविनाभावी कार्यलिङ्गं अथवा ( अक्षादि ) स्वभावलिङ्गं भी नहीं देखते हैं, क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान के पूर्वं उसके सद्भाव का अविनाभावी सर्वज्ञ का और उसके कार्य का निश्चय नहीं किया जा सकता है । लक्ष्मा, आगम से भी सर्वज्ञ का सद्भाव नहीं सिद्ध किया जा सकता है । वह ( वेदरूप ) नित्य आगम सर्वज्ञ को बतलाता है या ( स्मृति अक्षादि ) अनित्य आगम सर्वज्ञ को बतलाता है ? नित्य आगम से बतला नहीं सकता; क्योंकि वह ( याग प्रवृत्तिसावादस्तुतिनिर्दा रूप ) अर्थवाद युक्त है, ( यक्षादि ) कर्मविशेषों का संस्तवन करने वाला है, अतः उसके द्वारा सर्वज्ञ रूप किसी पुरुषविशेष के सद्भाव का ज्ञान होने का योग नहीं है । अनादि आगमका आदिभान् पुरुष का वाचक होना धृष्टिं नहीं होता है । अनित्य आगम भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं करता है । ( अनित्य आगम सर्वज्ञ को यदि सिद्ध करता है तो वह सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत है या किसी अर्थ के द्वारा, इस प्रकार दो विकल्प मन में रखकर दोष उपस्थित करते हैं ) । अनित्य आगम का निश्चय उसके प्रणेता के निश्चय के द्विती नहीं हो सकता, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष आता है । तात्पर्य वह कि सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत होना सिद्ध होने पर आगम प्रामाण्य की सिद्धि हो और प्रामाण्य का निश्चय होने पर सर्वज्ञ की सिद्धि हो, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष आता है । यदि असर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम सर्वज्ञ को सिद्ध करे तो जिसे प्रमाणता प्राप्त नहीं है, ऐसे आगम की सर्वज्ञ का निरूपण करने वाला मानना असम्भव है । सर्वज्ञ के सदृश अन्य किसी व्यक्ति

१. असर्वज्ञप्रणीतस्य ।

२. अप्राप्त ।

वाच्च नोपमानम् । अनन्यथाभूतस्यार्थं ह्याभावान्नाथपिस्तिरपि सर्वज्ञाव्योगिकेति  
षमाद्युपदेशात्परं व्यामोहादपि सम्भवात् । द्विविधो ह्युपदेशः—सम्यक्षिद्योपदेश-  
भेदात् । सत्र मन्वादीनां सम्यगुपदेशो यथार्थज्ञानोदयवेदमूलत्वात् । बुद्धादीनां  
तु व्यामोहपूर्वकः, सदमूलत्वात् तेषामवेदार्थज्ञत्वात् । ततः प्रमाणपञ्चकाविषय-  
त्वात्प्रभावप्रभाणहयैकं प्रवृत्तिस्तेभं व्यापाव एव ज्ञायते; भावांशे प्रत्यक्षादिप्रमाण-  
पञ्चकात्परं व्यापारादिति ।

का ग्रहण असम्भव होने से उपमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती । तात्पर्य है कि सर्वज्ञ के समान यदि कोई वर्तमान समय में दिखाई दे तो हम उपमान से सर्वज्ञ को जानें । अनन्यथाभूत अर्थ के अभाव से अर्थप्रिति भी सर्वज्ञ की व्योगिका नहीं है; क्योंकि धर्मादि का उपदेश व्यामोह से भी सम्भव है । अर्थात् अनुपत्तिगान वर्ती दोषेत्कार इत्येतत्पात्रक वर्ती की कल्पना करना अवधिकता है । जैसे कि देवदत्त दिन में नहीं खाता है, परन्तु मोटा है, ऐसा देखने था सुनने पर ( उसके ) रात्रिभोजन की कल्पना कर ली जाती है ( क्योंकि ) दिन में न खाने वाले का मोटा होना रात्रिभोजन के बिना नहीं बन सकता है । इसलिए अन्यथा ( अर्थात् रात्रिभोजन के बिना ) पीनत्व की अनुपपत्ति ही ( उसके ) रात्रिभोजन में प्रमाण होती है और वह ( अर्थप्रिति ) प्रमाण रात्रिभोजन के प्रत्यक्षादि का विषय न होने से प्रत्यक्षादि से भिन्न अलग हो प्रमाण है, ऐसा अर्थप्रिति प्रमाण मानने वाले कहते हैं ।

उपदेश दो प्रकार का है । १—सम्यक् उपदेश और २—मिथ्या उपदेश । उनमें से मन्वादि का उपदेश सम्यक् उपदेश है; क्योंकि उनके वेदमूलक यथार्थ ज्ञान का उदय पाया जाता है । बुद्ध आदि का उपदेश व्यामोहपूर्वक है; क्योंकि वह वेदमूलक नहीं है । बुद्ध आदि वेद के अर्थ का ज्ञाता नहीं है । अतः पाँच प्रमाणों का विषय न होने से अभाव प्रमाण की ही प्रवृत्ति होती है, उससे अभाव हो जाना जाता है । ( वस्तु के सद्भाव को ग्रहण करके और प्रतियोगी का भी समरण करके मानस नास्तिता ज्ञान होता है, जिसमें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती है । जहाँ पर पाँच प्रमाणों के द्वारा वस्तुरूप का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, वहाँ पर वस्तु की असत्ता के बोध के लिए अभाव प्रमाणता होती है । इन्द्रिय के द्वारा 'नहीं है', इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, इन्द्रिय में भावांश को जानने की ही योग्यता है । अभाव प्रमाण की प्रत्यक्षादि से उत्पत्ति नहीं होती है । ) भावांश में ही पाँच प्रमाणों का व्यापार होता है ।

अत्र प्रतिविधीयते—यत्तद्दुष्म्—‘प्रत्यक्षादिप्रमाणादिप्रत्यक्षमशेषजस्येनि’ तद्युक्तम्; तद्यन्ताहकस्यानुभावस्य सम्भवात्। तथाहि—कदिच्तुरुपः महल-पदार्थसाक्षात्कारी, तद्यग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्यक्षात्। यथाज्ञ-गततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि। तद्यग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्ध-

यहाँ पर भाद्रमत का जैन आचार्य प्रतिवाद करते हैं—जो आपने कहा है कि सर्वज्ञ प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है, यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ का ग्राहक अनुभाव सम्भव है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

कोई पुरुष समस्त पदार्थों का साक्षात्कार करनेवाला है अर्थात् रूपादि से युक्त प्रतिनियत वर्तमान, सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती समस्त पदार्थों का कोई पुरुष प्रत्यक्षद्रष्टा है; क्योंकि उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्यय ( कारण ) वाला है। अर्थात् उसके ज्ञान के द्वारा सभी प्रतिबन्ध क्षीण हो गए हैं। जैसे तिमिर से रहित लोचन रूप का साक्षात्कार करने वाला है। तद्यग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्यय वाला विवाद ग्रस्त कोई पुरुष विद्येष है।

विजेय—‘प्रक्षीण प्रतिबन्ध ज्ञान वाला होने से’ यह कहने पर योग के द्वारा परिकल्पक मुक्त जीव से व्यभिचार आता है, अतः कहा गया है—‘उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावी होकर। योग ( न्यायवेशोधिक ) के द्वारा परिकल्पित मुक्त जीव के प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्व है, पदार्थ ग्रहण स्वभाव नहीं है, अतः उसके निराकरण के लिए ‘उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावी होकर, ऐसा कहा है। ‘उन पदार्थों का ग्रहण करना स्वभाव होने से’ ऐसा कहे जाने पर काच कामलादि से युक्त नेत्र से व्यभिचार आता है, अतः ‘प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्’ ऐसा कहा है। ‘यतस्तद्य-ग्रहणस्वभावत्वात्’ इतने मात्र कहे जाने पर काच कामलादि दोष से मुक्त चक्षु में तद्यग्रहण स्वभाव है, ग्रहण नहीं है, इस प्रकार भाद्र के प्रति कहा गया।

विघ्न इस प्रकार होगा—प्रक्षीणद्वासी प्रतिबन्धशब्द से एव प्रत्ययः कारणं यस्य स, तस्य भावस्तुतवस्म्। प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्वात् ऐसा कहने पर प्रतिबन्ध से रहित अग्नि में व्यभिचार आता है, अतः उसके निराकरण के लिए ‘तद्यग्रहणस्वभावत्वे सति, ऐसा कहा गया है। अतः सब ठीक कहा गया है।

पाँच अवयव में से योग चार, भीमासक तीन, सांख्य दो तथा जैन

प्रत्ययक विवादापनः कविष्ठिति । सकलपदार्थं च हणस्वभावस्वं नात्मनोऽसिद्धम्;  
चौधनातः सकलपदार्थं परिज्ञानस्याभ्युगात्, अम्बुजे अहृदयश्च द्विप्रतिपत्तेभिरिति ।  
व्याप्तिज्ञानीत्पसिवलाच्चार्थं विषयज्ञानसम्भवः । केवलं वैश्यो विवादः, तत्र  
आवरणपरगम एव कारणे रजोनीहाराच्चावृताश्चानस्वेव तदपगम इति ।

प्रश्नीणप्रतिकर्षप्रत्ययत्वं कथमिति चेदुच्यते—दोषादरणे<sup>१</sup> क्वचिन्निमूलं प्रलयमुपकरणः, प्रकृत्यमाणहानिकत्वात् । यस्य प्रकृत्यमाणहानिः स क्वचिन्न-

---

और बौद्ध एक ही हेतु का प्रयोग करते हैं । मीमांसक के प्रति यहाँ चार ही अवयवों का प्रयोग किया गया है ।

आत्मा का समस्त पदार्थों का अहण स्वभाव होना असिद्ध नहीं है; अन्यथा वेद वाक्य से समस्त पदार्थों का परिज्ञान नहीं हो सकेगा । जैसे कि अन्ये का दर्पण से भी अपने रूप का ज्ञान नहीं होता है । तात्पर्य यह कि मीमांसक ऐसा मानते हैं कि वेदवाक्य ( पुरुष विशेष को ) भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सूक्ष्म, द्वूरवर्ती आदि सभी पदार्थों की ज्ञानकारी करने में समर्थ है, ऐसा कहता हुआ मीमांसक समस्त पदार्थ को ज्ञानने का स्वभाव रखने वाला आत्मा नहीं मानता है तो वह स्वस्थ कैसे है ? मीमांसक यस में ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है । कथन्वित् भेद मानने पर दूसरा मत स्वीकार करने का प्रसङ्ग आयेगा । अतः आत्मा का ज्ञान स्वभावी होना सिद्ध है । आत्मा को समस्त पदार्थों का ज्ञानस्वभावी न मानों तो समस्त पदार्थों की ज्ञानकारी सम्भव नहीं है । वेद से समस्त पदार्थों का ज्ञानापन पुक्त नहीं है ।

जो सतत्करूप है, वह सब अनेकान्तात्मक है, इत्यादि व्याप्ति के ज्ञान से समस्त विषयों ( अग्नि आदि ) का ज्ञान सम्भव है, अन्यथा अनियत विषय तथा स्थान में स्थित अग्नि का परिज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है । केवल वैश्य में हम दोनों का विवाद है, उसमें आवरण का अभाव ही कारण है । जैसे रज और नीहार ( वर्फ ) आदि से आवृत्त गदार्थ का स्पष्ट ज्ञान उसके आवरण दूर होने पर होता है ।

**शङ्का**—ज्ञान के प्रतिबन्धक समस्त कारण कैसे क्षोण हो सकते हैं ?

**समाधान**—दोष और आवरण रूप भाव तथा प्रव्य कर्म कहीं पर निमूल रूप से विनाश को प्राप्त होते हैं; क्योंकि इनकी बढ़ती हुई चरम सीमा को प्राप्त हानि देखी जाती है । जिसकी प्रकृत्यमाण हानि होती है,

१. भावद्व्यक्तिमणो ।

**मूर्ले** प्रलयमुपचारति । यथाऽग्निकुट्याकापसारितकिटकालिकाश्चारञ्जवहिरञ्ज-  
मलञ्जयात्मानि हेम्नि भलभिति । निष्ठुमितिक्षयवतो च दोषावशेणे इति ।

कथं पुनविवादाद्यासितस्य ज्ञानस्यावरणं सिद्धम्, प्रतिष्ठेष्य विषिष्यवक्तव्य-  
दिति । अत्रोच्यते—विवादापन्नं ज्ञानं सावरणम्, विशदतत्त्वं स्वविषयानवक्षेप-  
कर्त्तवाद् रजोनीहाराद्यन्तरितार्थं आत्मवादिति । न ज्ञात्वन्नाऽमूलत्वादावारकाङ्गुष्ठयोगम्;  
अमूर्तया अपि चेतनागक्तेष्वदिरामदनकोट्टवादिभिरावरणोपाल्लः । न चेत्तिष्ठ-  
तैरावरणम्, इन्द्रियाणामवृत्तनामामप्यनामृतप्रकृमस्यात् स्मृत्यादिप्रतिष्ठायीमात् ।  
नापि मनसस्त्वैरावरणम्; आत्मव्यक्तिरेकेष्वपरत्य समस्ते निषेष्यसामन्त्वात् । अतो  
नामृतस्याऽवरणाभावः । अतो तासिद्धं तद्याहुणस्वभावत्वे सति प्रशीष्यप्रतिष्ठन्त-

वह कहीं पर तिमूर्ल प्रलय को प्राप्त होता है । जैसे अद्विन-पूट के पाक से दूर कीट और कालिया आदि अन्तरञ्ज और बहिरञ्ज ये दोनों मल जिसके भीतर से ऐसा सुवर्ण मल रहित हो जाता है । इसी प्रकार अत्यन्त निमूर्ल विनाश रूप अतिशय वाले दोष और आवरण हैं ।

**बीड़**—विवादापन्न ज्ञान का आवरण कैसे सिद्ध है ? क्योंकि प्रतिष्ठेष्य विषिष्यवक्तव्यक ही होता है ।

**जैन**—इस विषय में कहा जाता है—विवाद को प्राप्त ज्ञान आवरण सहित है; क्योंकि वह विशद रूप से अपने विषय को नहीं जानता है । जैसे कि रज और तीहार आदि से आच्छादित पदार्थ का ज्ञान विशद रूप से अपने विषय को नहीं जानता है ।

**भाद्रु**—आत्मा अमूर्त होने से उसके आवरण करने वालों ( ज्ञानावरणादि ) का अयोग है ।

**जैन**—अमूर्त भी चेतन शक्ति का मदिरा, मदनकोट्टव ( वह कोदों, जिसके खाने से मतवाले हो जाते हैं ) आदि से आवरण होना पस्ता जाता है ।

**भाद्रु**—मदिरा, मदनकोट्टव आदि से इन्द्रियों का आवरण होता है ।

**जैन**—अचेतन इन्द्रियों का आवरण अनावरण के तुल्य है । आत्मा के आवरण का अभाव मानने पर मदोन्मल के समरण हो, चूंकि स्मरण नहीं होता है अतः मदिरादि से आत्मा का हो आवरण सिद्ध है ।

**भाद्रु**—मदिरा आदि से मन का आवरण होता है ।

**जैन**—आत्मा के अतिरिक्त रूप मन का हम आगे निषेध करेंगे । अतः अमूर्त के आवरण नहीं होता है, ऐसा नहीं है । अतः तद्य ग्रहण

प्रत्ययत्वम् । नापि विरुद्धम्; विषरीतनिश्चिताविनाभावाभावात् । नाप्यनैकान्तिकम्; देशातः सामस्येन वा विषक्षे बृहथभावात् । विषरीतार्थोपस्थापकप्रत्यक्षागमां सम्भवान् कालात्ययापदिष्टत्वम् । नापि सत्प्रतिपक्षम्; प्रतिपक्षसावनस्य हेतोरभावात् ।

**अशेषदमस्त्येव—विवादापनः** पुण्यो नाशेषज्ञे वक्तृत्वात्मुक्तत्वात्पाप्यादिस्त्वात्मच; रुद्धापुरुषबविति । नैतच्च ए; वक्तृत्वादेवसम्यग्वेतुत्वात् । वक्तृत्वं हि वृद्धेष्टविरुद्धार्थवक्तृत्वं तदविरुद्धवक्तृत्वं वक्तृत्वसामान्यं वा; गत्यस्तराभावात् । न तावत् प्रथमः पक्षः; सिद्धसाध्यतानुषङ्गात् । नापि द्वितीयः पक्षः; विरुद्धत्वात् । तदविरुद्धवक्तृत्वं हि ज्ञानातिशयमन्तरेण नोपपद्धत इति । वक्तृत्वसामान्यमपि विषयाविरुद्धत्वाम् प्रकृतसाध्यसाध्यनायाम्, ज्ञानाप्रकर्त्त्वे वक्तृत्वापकर्त्त्वादर्जनात् ।

**स्वभावत्व होकर प्रश्नीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्व असिद्ध नहीं है, न विरुद्ध है;** क्योंकि विषरीत के साथ निश्चित अविनाभाव का अभाव है । यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि एकदेश से अथवा सर्वदेश से उसके विषक्ष में रहने का अभाव है । ( अग्नि उष्ण नहीं है इत्यादि के समान ) विषरीत अर्थ की स्थापना करने वाले प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण का अभाव होने से उक्त हेतु कालापदिष्ट भी नहीं है । ( प्रत्यक्ष और आगम से बाधित होने के काल के अनन्तर प्रयुक्त होने के कारण कालात्ययापदिष्ट कहलाता है ) । सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है; क्योंकि प्रतिपक्ष का साधन करने वाले हेतु का अभाव है ।

**भीमासक—प्रतिपक्ष का साधन करने वाला हेतु यहाँ पर ही है—** विवाद को प्राप्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है और हाथ आदि अङ्गों का धारक है, जैसे—गली में धूमने वाला पुरुष ।

**जैन—** यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि वक्तृत्व आदि हेतु सम्यक् नहीं है । वक्तृत्व का अर्थ प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध वक्तापन आपके अभीष्ट है या अविरुद्ध वक्तापन; क्योंकि अन्य त्रिकल्प सम्भव नहीं है । प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है; क्योंकि सिद्धसाध्यता दोष का प्रत्यक्ष आता है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह विरुद्ध हेत्वाभास रूप है । प्रत्यक्ष और अनुमान में अविरुद्ध वक्तापन ज्ञानातिशय के विना नहीं ज्ञन सकता । वक्तृत्व सामान्य भी विषय ( सर्वज्ञ ) का विरीष्टी व होने से असर्वज्ञत्व रूप साध्य का साधन करने में समर्थ नहीं है; क्योंकि ज्ञानातिशय होने पर वक्त को हानि नहीं देखी जाती है । प्रत्युत ( ऐसा देखा

प्रत्युल जानातिशयकतो वचनातिशयस्यैव सम्भवात् ।

एतेन पुरुषत्वमपि निरस्तम् । पुरुषत्वे हि रागादिदीप्तदूषितम्, तदा सिद्ध-साध्यता । तदूषितं तु विकृष्टम् वैराग्यजानादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्याशेषस्वभवत्सरेणामोगात् । पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिक्षित्विग्रहश्चिप्रतिक्रियात् सकलप्रकारसाधात्कारित्वे कल्पश्चित्पुरुषस्यातोऽनुमानात् । इसि न 'प्रभाषणपञ्चकाविषयस्वमरीयमस्य ।

अथास्मिन्ननुमानेऽहं: सर्वविस्त्रमनहंतो का? अनहंतस्येद्दृढाक्षयमप्रभावीस्यात् । अहंतस्येद्दृढिं न अस्या सामर्थ्येन वाऽनुगान्तुं पार्यते । स्वशक्त्या दृढात्

जाता है कि) जो जानातिशय वाले पुरुषे के कारणों का अतिराच सम्भव है ।

बक्तुत्व असर्वज्ञपने का साधन है, इसके निराकरण द्वारा पुरुषत्व हेतु का भी निराकरण हो गया । पुरुषत्व से तात्पर्य आप रागादि दीप्ते से दूषित पुरुष से है या रागादि दीप्ते से रहित पुरुष से है या पुरुष सामान्य से है । यदि पुरुषत्व का अभिप्राय रागादि दीप्ते से दूषित पुरुष से है तो सिद्ध साध्यता है । यदि पुरुषत्व से अभिप्राय रागादि दीप्ते से अदूषित पुरुष से है तो अहं हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जाता है, क्योंकि राग का अभाव वीतरागता को, द्वेष का अभाव शान्त मनोवृत्ति को संष्ठा मोह का अभाव सर्वज्ञता को सिद्ध करता है । वैराग्य, जानादिगुण युक्त पुरुषप्ले का सर्वज्ञत्व के बिना योग नहीं होता है । पुरुषत्व सामान्य संदिक्षित्विषयव्याख्याति है; क्योंकि असर्वज्ञता का विग्रह सर्वज्ञता है, उसका किसी पुरुष में रहना सम्भव है । अतः विश्व से व्याख्याति सन्दिक्षित है । इस प्रकार कोई पुरुष समस्त पदार्थों का माध्यात्मकारी है, क्योंकि उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावों होकर प्रतिवन्ध प्रत्यय ( शान् ) वाला है, इस अनुमान से किसी पुरुष का समस्त पदार्थ साक्षात्कारित्व सिद्ध है । अतः सर्वज्ञ प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अथधिति इन पाँच प्रमाणों का विषय नहीं है, ऐसा नहीं है ।

इसका—इस अनुमान में सर्वज्ञत्व अहंत् के है या अनहंत ( द्रुढादि ) के है? यदि सर्वज्ञपना अनहंत् के है तो अरहन्त भगवान् के बाक्ष्य अप्रमाण हो जायेंगे । यदि वह सर्वज्ञपना अनहंत् के है तो वह अरहन्त आगम अथवा अविनाभावित्व रूप सामर्थ्य से नहीं जाना जा सकता । स्वशक्ति ( अविनाभावीलिङ्ग ) से अथवा ( तिमिर रीम रहित लोचन )

१. प्रत्यक्षानुमानाद्यमोष्मानार्थपित्तप्रमाणपञ्चकम् ।

त्वानुश्रहेण वा हेतोः पक्षान्तरेऽपि तुलयवृत्तिरत्वादिति ।

तदेतत्परीषां स्ववधाय कुत्योत्थापनम्; एवंविष्वविशेषप्राङ्मनस्य सर्वज्ञसामान्याभ्युपगमस्युर्वक्त्वात् । अन्यथा न कस्याप्यशेषशत्वमित्येवं वक्तव्यम् । प्रसिद्धानुमानेऽप्यस्य दोषस्य सम्भवेन जात्युत्तरत्वाच्च । तथाहि—नित्यः शब्दः, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्; इत्पुक्ते व्यापकः शब्दो नित्यः प्रसाध्यते, अव्यापको वा ? यद्यव्यापकः, तदा च्यापकं त्वेतोऽप्यत्मानो न कर्त्तव्यं पूछनाति । अथ व्यापकः, सोऽपि न अत्यापासम्भ्येन वाऽवगम्यते । स्ववाक्या दृष्टान्तानुश्रहेण वा पक्षान्तरेऽपि तुलयवृत्तिरत्वादिति सिद्धतो निर्दोषात्साधनादवक्षेपक्षस्वमिति ।

यस्याभावप्रमाणक्वलितसत्त्वाकल्पमशेषज्ञत्वस्येति, तदयुक्तमेव; अनुमानस्य

रूप का साक्षात्कारी होता है, इस प्रकार के ) दृष्टान्त के बल से कहें तो उदग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीणबन्ध प्रत्ययत्व हेतु ( हरि हरि हिरण्यगर्भ आदि ) पक्षान्तर में भी समान रूप से रहता है ।

**समाप्तान—**भाद्र नामक असर्वज्ञवादियों का यह कथन अपने वध के लिए कुत्या ( मार ) के उठाने के समान है; क्योंकि इस प्रकार के विशेष अद्वय सर्वज्ञ सामान्य की स्वीकृतिपूर्वक ही पूछे जा सकते हैं । अन्यथा किसी के भी सर्वज्ञपता नहीं है ऐसा कहना चाहिए । आपके मत में उभयव्यादिप्रसिद्ध अनुमान में भी ( अर्हत् के सर्वज्ञपता है या अनर्हत् के ) यह दोष सम्भव होने से जाति नाम दूषण रूप उत्तर होता है ( असत् उत्तर को जाति कहते हैं ) ।

प्रसिद्ध अनुमान में भी यह दोष कैसे संभव है ? इसकी व्याख्या करते हैं । शब्द नित्य है; क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है, ऐसा कहे जाने पर व्यापक शब्द के नित्यता सिद्ध करते हैं या अव्यापक के ? यदि अव्यापक के नित्यता सिद्ध करते हैं तो व्यापक के रूप में कल्पना किया गया शब्द किसी अर्थ को पूछ्द नहीं करता है । यदि व्यापक शब्द के नित्यता है तो उसकी व्यापक रूप नित्यता श्रुति और सामर्थ्य से नहीं जाती जाती है । स्वविक्षण से या दृष्टान्त के अनुग्रह से कहने पर अव्यापक नित्य शब्द रूप पक्षान्तर में भी हेतु का रहना समान है । इस प्रकार ( उद्ग्रहण स्वभावत्वे सति प्रक्षीण प्रतिबन्ध प्रत्ययत्वात् रूप ) निर्दोष साधन से सर्वज्ञता सिद्ध है ।

आपने जो कहा कि सर्वज्ञता की मत्ता सो अभाव प्रमाण से कवलित

तदपाहृकन्य नदूरादे सति व्रभावं कालान्तरमुद्देश्यावदात् उपस्थित्यापना-  
योगात् ।

भृहीत्वा वस्तुसद्भावं समृत्वा च प्रतियोगितम् ।  
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽध्यानपेक्षया ॥ ६ ॥

इनि च भावत्को वर्णनम् । तथा च कालव्याप्ति-त्रिलोकलक्षणं वस्तुसद्भावप्रहृष्टे-  
न्यकान्यदा भृहीतसमरणे च मर्वजनास्तिताज्ञानप्रभावप्रमाणं युक्तम्, नापरत्था । न  
च कालव्याप्तिर्विद्याशक्ति उपस्थित्यावालज्ञानमुपपद्यते, सर्वज्ञातीनिद्रियस्य चा ।  
सर्वज्ञते हि चेतोबन्धतयाऽतीनिद्रियम्, तदपि न प्रहृतपुरुषविषयमिति कश्चमभाव-  
प्रमाणमुद्देश्यमासादयेत् ; असर्वज्ञस्य तदुलापद-सामग्र्या असम्भवात् । सम्भवे वा  
तथा ज्ञातुरेव सर्वज्ञत्वमिति । अवाद्युना पश्चभावसामग्र्यमित्यपि न युक्तम्; सिद्ध-  
साध्यतानुषङ्गात् । ततः सिद्धं मुख्यमतीनिद्रियज्ञानमधोक्षो विशदम् ।

है, यह बात ठोक नहीं है; क्योंकि जब सर्वज्ञता के ग्राहक अनुभाव का  
सद्भाव पाया जाता है, तब प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों का अभाव जिसका  
मूल है, ऐसे अभाव प्रमाण के उपस्थित का अयोग है अर्थात् अभाव  
प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ।

**इलोकार्थ—**वस्तु के सद्भाव को ग्रहण कर ( घट रहित भूतल को  
ग्रहण कर ) और प्रतिविष्टी ( घट ) का स्मरण कर ( वात्य ) इन्द्रियों को  
अपेक्षा से रहित मानस ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

ऐसा आप लोगों का मत है । ऐसा होने पर त्रिकाल, त्रिलोकदर्तीं  
समस्त वस्तुओं के सद्भाव को ग्रहण करने पर अन्यक्ष-ज्ञेयान्तर में और  
अन्यदा-कालान्तर में जाते हुए सर्वज्ञ का स्मरण होने पर सर्वज्ञ की  
नास्तिता को जो ज्ञात हो, उसे अभाव प्रमाण मानना युक्त है, अन्यथा  
नहीं । किंचित् ज्ञानने वाले के त्रिकाल का ज्ञान नहीं हो सकता । वह  
सर्वज्ञ और अतीनिद्रिय ज्ञान का ज्ञानकार हो सकता है । सर्वज्ञता चित का  
घर्म होने के कारण अतीनिद्रिय है । वह भी साधारण पुरुष का विषय नहीं  
हो सकती । अतः अभाव प्रमाण की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? असर्वज्ञ  
के अभाव प्रमाण की उत्पत्ति करने वाली सामग्री का मिलना असम्भव है ।  
यदि असर्वज्ञ के सर्वदेश और सर्वकाल का ज्ञान मानकर सर्वज्ञ के अभाव  
की प्रतिपादक सामग्री का सद्भाव सम्भव माना जाय तो ज्ञाता पुरुष के  
ही सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है । यहाँ पर अब सर्वज्ञ नहीं है, यदि ऐसा  
कहते ही तो वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्ध साध्यता-

सर्वज्ञानस्यातीनिद्रियत्वादशुक्ष्यादिदर्शनं तद्रसास्वादनदोषोऽपि परिहृत एव ।  
कथमतीनिद्रियज्ञानस्य वैश्यमिति चेत्—यदा सत्यस्वप्नज्ञानस्य भावनाज्ञानस्य  
चेति । दृश्यते हि भावनाबलादनदिवशब्दस्तुनोऽपि विशददर्शनमिति ।

पिहिते कारागारे तमसि च सूक्ष्मिकापद्मेभ्योऽपि ।  
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तानन व्यवतम् ॥ ७ ॥

इति दहुलभुपलभात् ।

ननु च नावरणविश्लेषादशोषज्ञत्वम्; अपि तु तनुकरणभूवनादिनिमित्तत्वेन ।  
म चात्र तत्वादीनां बुद्धिमङ्गेतुकर्त्तव्यसिद्धम्; अनुमानादेत्तस्य सुप्रसिद्धत्वात् ।  
तथाहि—विमत्यधिकरणभावापन्नं” उवीपर्यत्तस्तत्त्वादिकं बुद्धिमङ्गेतुकम्, कार्य-  
त्वादपेतनोपादानत्वात्सम्बन्धवेश विशिष्टत्वाप्ना वस्त्रादिविति ।

का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । अतः सिद्ध हुआ कि अतीनिद्रिय और सम्पूर्ण  
रूप से विशद ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष है ।

सर्वज्ञ ज्ञान के अतीनिद्रिय होने से अशुचि आदि दर्शन तथा अशुचि-  
पदार्थों के रूप के आस्वादनका दोष भी निराकृत हो गया । ( इनिद्रिय ज्ञान  
के ही अशुच्यादि रसास्वादन का दोष है, अतीनिद्रिय ज्ञान के नहीं ) । अती-  
निद्रियज्ञान के वैश्यम क्यों है ? यदि ऐसा कोई प्रबन्ध करे तो उसका उत्तर यह  
है कि जैसे सत्य स्वप्नज्ञान के और भावनाज्ञान के सम्बन्ध है । देखा जाता  
है कि भावना के बल से भिन्न देशवर्ती भी विशद दर्शन पाया जाता है ।

इलोकार्थ—कारागार का द्वार बन्द है और अन्धकार सुई के अग्र-  
भाग से भी नहीं भेदा जा सकता है, जैसे अपने नेत्र बन्द किए हुए हैं, फिर  
भी कान्ता का मुख व्यक्त है ॥ ७ ॥

इस प्रकार इनिद्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध का अभाव होने पर भी  
विशदता की प्राप्ति होती है ।

पीठ—आवरणों के अलग हीने से सर्वज्ञता नहीं होती है, अपितु  
शरीर, इनिद्रिय, भुवन आदि के निमित्त से सर्वज्ञता होती है । यहाँ पर शरीर  
आदि का बुद्धिमान् पुरुष के निमित्त से होना असिद्ध नहीं है; क्योंकि  
अनुमानादि प्रमाणों से उसका हीना सुप्रसिद्ध है । इसी बात को स्पष्ट  
करते हैं—विवाद के विषयभूत पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीरादि बुद्धिमङ्गेतुक  
हैं; क्योंकि वे कार्य हैं; क्योंकि उनका उपादान अनेतर है; क्योंकि वस्त्रादि  
के समान उनकी रचना विशेष है । आगम भी उस बुद्धिमान् पुरुष का

१. विविक्षा मतयो विमत्यः, विमतीनामधिकरणं तस्य भावमापन्नं प्राप्तं विम-  
त्यधिकरणभावापन्नम्, विवादापन्नमित्यर्थः ।

आगमोऽपि लक्षणेदकः शून्यते—

विश्वतश्चक्षु स्त विश्वतो मुखो विश्वतो वाहृत विश्वतः पात् ।

सम्भाहुभ्यां धर्मति सम्पत्त्वैविवाभ्यां जनयन् देवै एकः ॥ ८ ॥  
ऐसा इति प्रददान्तः ॥

अज्ञो जन्मुरनीशोऽथमात्मतः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा इवभ्रमेव वा ॥ ९ ॥

न चाचेतनैरेव परमाण्वादिकारणः पर्याप्तित्वाद् बुद्धिमतः कारणस्यासर्थक्यम्  
अचेतनानां स्वयं कार्योत्पत्तौ व्यावाराणीयास्तुर्विदितः । न चैव चेतनस्याणि वेत्त-  
नास्त्ररपूर्वकत्वादनप्रस्थाः तस्य सकलपुरुषं योग्यत्वान्वित्विषयत्वात्सर्वतीजस्य  
क्लेशकर्मविद्याकाशपैरप्रामुण्टत्वादनादिभूतानस्त्ररप्तिसम्भवाद्य ।

यदाह पतञ्जलिः—

“क्लेशकर्मविद्याकाशपैरप्रामुण्टः पुरुषविद्येष ईश्वरः । तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ-  
बीजम् । स पूर्वेवामपि गुहः, कालेनात्मविच्छेदादिति च ॥”

कथन करने वाला सुना जाता है—

**इलोकार्थ—**—वह सब और नेत्र वाला है, सब और मुख वाला है, सब  
और भूजाओं वाला है, सब और पैर वाला है, वह पुरुष-पाप रूप सम्बा-  
हुओं से संयोजन करता है, और जो परमाणुओं से चुलोक और भूमि की  
उत्तमन करता हुआ एकदेव ( ईश्वर ) है ॥ ८ ॥

व्यास के वचन भी ईश्वर के पोषक है—

**इलोकार्थ—**—यह अज्ञ प्राणी अपने सुख-दुःख का स्वामी नहीं है । वह  
ईश्वर से प्रेरित होकर कभी स्वर्ग को जाता है, कभी नरक को ॥ ९ ॥

अचेतन परमाणु आदि कारणों के पर्याप्त होने से बुद्धिमात् कारण  
की अनर्थकता है, ऐसा नहीं है । अचेतनों के स्वयं कार्योत्पत्ति में व्यावार  
का अयोग है—तुर्विदि के समान । इस प्रकार चेतन भी अन्य चेतन पूर्वक  
होने से अनवस्था दोष नहीं आत्मा है; क्योंकि सर्वज्ञता का बीज वह  
समस्त पुरुषों में ज्येष्ठ है और अतिशयों की परमप्रकृता से रहित है,  
तथा क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित है और उसके अनादिभूत  
अविनाश्वर ज्ञान पाया जाता है ।

जैसा कि पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है—

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से सर्वथा रहित पुरुषविद्येष ईश्वर  
है । वह निरतिशय सर्वज्ञ-बीज है । वह पूर्वों ( हिरण्यगर्भादि ) का भी  
गुह है; क्योंकि उसका काल की अपेक्षा विच्छेद नहीं होता है ।

१. ईश्वरः ।

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनितावशितेन्द्रिधेषु ।  
आत्मनितकं सुखमनावरणा च शक्तिज्ञनिं च सर्वविद्ययं भगवंस्तवैव ॥१०॥  
इत्यवधूतवचनाच्छ ।

न चात्र कार्यत्वमसिद्धम् सावद्यत्वेन कार्यत्वसिद्धेः । तापि विश्वम्, विष्णो

**विद्वाव—**अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं । इनमें से विद्वाव ज्ञान अविद्या है । अनित्य, अज्ञाचि और दुःखात्मक वस्तुओंमें नित्य, ज्ञाचि और सुखरूप ज्ञान अविद्या है, जित्यादि चार में अनित्यादि चतुष्टय बृद्धि, पापादि में पूष्यबृद्धि भी विविधता है; क्योंकि वे भी संसार की हेतु अविद्या स्वरूप हैं । अहो, मैं हूँ, इस प्रकार का अभिमान अस्मिता है, दृष्टि और दर्शन को शक्ति की एकात्मता अस्मिता है । राग और द्वेष, सुख और दुःख तथा उनके साधनों के रूप में प्रसिद्ध हैं । सुखानुशयी राग है । सुख और सुख के साधन मात्र विषयक क्लेश राग है । दुःखानुशयी द्वेष है । आप्ता और ईश्वर के भज्ज का भय और दुरापह का नाम अभिनिवेश है । स्वरसवाही विद्वाव का भी उस प्रकार आरूढ़ होना अभिनिवेश है । जाते होकार से ही हो जाता है, उसे स्वरसवाही कहते हैं । अब अविद्यान् के समान विद्वाव के भी स्वरसवाही हेतु से प्रसिद्ध है । यही अभिनिवेश है । अश्वभेद ऋह्यहृत्यादिक कर्म हैं । कर्म के फल विपाक हैं । कर्म के फल रूप जाति, आयु और भोग को विपाक कहते हैं । देवत्व, मनुष्यत्वादि जाति है । प्राण नामक वायु का काल की अपेक्षा परिमित सम्बन्ध आयु है । स्व से सम्बन्ध सुख दुःख का साक्षात्कार भोग है । ज्ञानादि की वासना आशय है । संसार से वासित चित्त का परिणाम आशय है । जब तक निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक जो आत्मा में घयन करता है, उसे आशय कहते हैं ।

अवधूत के वचन भी इस विषय में प्रभाग है—

**इलोकार्थ—**हे भगवन् ! आपका ऐश्वर्य अप्रतिहत है, विराग स्वाभाविक है, तुल्य स्वाभाविक है, इन्द्रियों में वशिता है, आपका सुख विनाश रहित है, शक्ति अनावरण है, तथा ज्ञान सर्वविद्यक है ॥ १० ॥

तनु आदि में कार्यत्वपना असिद्ध नहीं है । सावद्यत्व होने से कार्यत्व की सिद्धि होती है ।

**विद्वाव—**पृथिवी आदि समवायि, असमवायि और निमित्त तीन कारणों से उत्पन्न हैं; क्योंकि वे वस्त्रादि के समान कार्य हैं । चार प्रकार के परमाणु समवायिकारण हैं, परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण है,

वृत्त्यभावात् । नाप्यनीकान्तिक्यः विष्णो परमार्थादावप्रवृत्तेः । प्रतिपक्षमिदिनिक-  
न्यनस्य साधनान्तरस्याभावान्न प्रवरणसम्भवः । अथ 'तम्भादिकं बुद्धिमद्वेतुकं न  
भवति, दृष्टकर्तुकप्राप्तादादिविलक्षणत्वादाकाशाभत्' इत्यस्त्वेष प्रतिपक्षमात्मनमिति ।  
नित्यशुभम्; हेतोरसिद्धत्वात् 'सत्त्विषेषविशिष्टत्वेन प्राप्तादादिसमानजातीयत्वेन  
तम्भादीनामुपरभावः' । अथ प्रादृजः प्राप्तादादो सत्त्विषेषविशेषो दृष्टो न लाक्षण-  
स्तान्वादीविति चेत्तः; सत्तिमना सदृशस्य कस्यचिदप्यभावात् । सातिशब्दमित्वेतो  
हि साक्षिधर्थं कलार्थं गमयति, प्राप्तादादिवत् । न च दृष्टकर्तुकत्वादृष्टकर्तुक-  
त्वाभ्यां बुद्धिमत्तिमित्तेरत्वसिद्धिः, कृत्रिमैर्थणिमुक्ताफलादिभिर्विषयादात् ।

ईश्वर, आकाश, काल निमित्त कारण हैं, क्योंकि ये अनादि निधन हैं और  
आदि तथा अन्त से रहते हैं, इत्यादि अनुमान में कार्यत्व असिद्ध नहीं  
होता है । पृथिव्री आदि कार्य हैं; क्योंकि सावधन हैं । जो सावधन होता  
है, वह कार्य होता है, जैसे—महल आदि । चूंकि यह सावधन है । अतः  
कार्य है ।

तनु आदि में कार्यत्व हेतु विरुद्ध भी नहीं है; क्योंकि बुद्धिमत्तिमित्तकत्व-  
रूप साध्य विष्ण (अबुद्धिमत्तिमित्तक नित्य परमाणु आदि में) नहीं  
रहता है । विष्णपरमाणु आदि में प्रवृत्त नहीं होने से यह हेतु अनेकान्तिक  
भी नहीं है । प्रतिपक्ष की सिद्धि जिसमें कारण है, ऐसे अन्य साधन के  
अभाव के कारण यहाँ प्रकरणसम भी नहीं है ।

**शरीर**—शरीर आदि बुद्धिमत्तिमित्तक नहीं होते हैं; क्योंकि जिनका  
कर्त्ता दिखाई देता है ऐसे प्राप्तादादि से ये विलक्षण हैं, जैसे—आकाश ।  
इस प्रकार यहाँ प्रतिपक्ष का साधन है ही ।

**समाधान**—यह ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ हेतु असिद्ध है; क्योंकि  
रचना विशेष के कारण प्राप्तादादि के समानजातीय शरीरादि की उप-  
लब्धि होती है ।

**प्राप्तादादि**—प्राप्तादादि की जैसी रचनाविशेष दिखाई देती है, वैसी तनु-  
आदि की नहीं होती है ।

**समाधान**—ऐसा नहीं है । जो सब प्रकार से दूसरे के समान हो,  
ऐसी किसी भी वस्तु का अभाव है । सातिशय रचना सातिशय कर्त्ता का  
ज्ञान कराती है । जैसे—प्राप्तादादि । जिनका कर्त्ता दिखाई देता है और  
जिनका कर्त्ता दिखाई नहीं देता है, इन दोनों में बुद्धिमत्तिमित्त और  
अबुद्धिमत्तिमित्त की सिद्धि नहीं होती है, कन्यथा कृत्रिम भणि मुक्ताफलादि

एतेनाचेतनोपादानत्वादिकभवि समर्थितमिति सूक्तं बुद्धिमत्तेषुकत्वम्, तत्त्वं सर्व-  
वेदित्वमिति ।

तदेतत्त्वमत्तुमानमुद्गाद्धिष्ठानदरिद्रवचनमेव, कार्यरवाधेरसम्बाधेतुत्वेन तजज्ञित-  
ज्ञानस्य मिद्यारूपत्वात् । तथाहि—कार्यत्वं स्वकारणसत्तासमवायः<sup>१</sup> स्यात्,  
अभूत्वाभावित्वम्, अकियादर्शिनोऽपि कृतबुद्ध्युत्पादकत्वम्, कारणव्यापारानुविधा-  
यित्वं वा स्वत्त्, गत्यन्तराभावात् ।

अथाधः पश्यस्तदा योगिनामद्वेषकमक्षये पक्षान्तप्राप्तिनि हेतोः कार्यत्वलक्षण-  
स्याप्रवृत्तभीमासिद्धत्वम् । न च तत्र सत्तासमवायः स्वकारणसमवायो वा समदितः  
तत्प्रकायस्य प्रवृत्तसंहेत्वेन सत्तासमवायोरभावात्, सत्ताया प्रवृत्तगुणक्रियाऽप्यत-

---

से व्यभिचार आता है । इस प्रकार कार्यत्व हेतु के समर्थन से अचेतनो-  
पादानत्व आदि का समर्थन होता है । इस प्रकार बुद्धिमत्तित्व और  
उससे सर्वज्ञपता ठीक ही कहा है ।

ज्ञेन—यह सब कथन अनुमान मुद्दा रूप धन से रहित दरिद्र पुरुष  
के वचन के समान है; क्योंकि कार्यत्व आदि असम्यक् हेतु हैं, अतः उनसे  
जनित ज्ञान भी मिथ्या रूप ही है । वह इस प्रकार है—( चार विकल्प  
कर पूछते हैं ) ? स्वकारण ( मिथ्याद्य वस्तु का कारण ) सत्ता समवाय  
( सत्ता से मिलन ) को कार्यत्व कहते हैं या अभूत्वाभावित्व को या  
अकियादर्शी के कृतबुद्ध्युत्पादकत्व ( किसी के करने को बुद्धि उत्पन्न  
होना ) को अथवा ( परमाणवादि ) कारण व्यापारानुविधायित्व ( व्यापार  
के अनुसार कार्य होना ) को कार्यत्व कहते हैं ? क्योंकि इनसे भिन्न अन्य  
गति का अभाव है ।

यदि वापको आद्य पक्ष स्वीकार है तो 'योगियों के समस्त कर्मों का  
क्षय' के पक्ष के अन्तर्गत आ जाने पर हेतु कार्यत्व लक्षण के प्रवृत्त न होने  
पर भागासिद्ध नामक दोष आता है । अर्थात् ततु करणभूवनादि पक्ष के  
अन्तर्भूती होने पर योगियों के समस्त कर्मों के प्रवृत्तसामावरणाता के  
कारण स्वकारण सत्ता समवाय लक्षण कार्य रूप हेतु की प्रवृत्ति युक्त  
नहीं है । पक्ष के अन्तर्गत आने वाले पर्वतादि में स्वकारण सत्ता समवाय  
के प्रवृत्त होने पर और समस्त कर्मों के क्षय के प्रवृत्त न होने पर  
स्वकारण सत्ता समवाय लक्षण हेतु पक्ष के एकदेश में असिद्ध है । कर्मक्षय  
कार्य में न तो सत्ता समवाय है और न स्वकारण समवाय है । योगियों

१. अशुत्सिङ्गानामावार्यवारभूतनामिहेऽप्रत्यपलिङ्गो यः सम्बन्धः स समवायः ।

स्वाभ्यनुगानात् । समवायस्य च परीक्षिण्डिपञ्चपदार्थवृत्तिस्वाभ्युपगमात् ।

अथभावपरित्यागेन भावस्वैव विवादाभ्यासितस्य पश्चोकरणान्वार्यं दोषः प्रवैषभागिति चेत्तद्विषयकथिनां तदर्थमीश्वरादाधनमनर्थकमेव स्यात्, तत्र कल्पा-किञ्चित्करत्वात् । सत्तासमवायस्य विचारमधिरोहतः अतथा विशोर्यमाखत्वात् स्वरूपासिद्धं च कार्यत्वम् । स हि समृत्यमातां भवेदुत्पद्मानान्तां चा ? यदुत्पद्मानाम्; सत्तामसतां [चा] ? न तावदसताम्, खरविषाणादेवपि तत्प्रसङ्गात् । सतो चेत् सत्तासमवायात् स्वतो चा ? न तावत्सत्तासमवायात्, अनवस्थाप्रसाङ्गात्, प्रागुक्तविकल्पद्वयानतिवृत्ते । स्वतः सतां तु सत्तासमवायानार्थक्यम् ।

अथोत्पद्मानाम् सत्तासम्बन्ध-निष्ठासम्बन्धयोरेककालत्वाभ्युपगमादिति अतम्,

का कर्मक्षय प्रधबंसाभाव रूप है अतः उसके साथ सत्ता और समवाय का अभाव है । आए लोगों ने सत्ता की द्रव्य, गुण और किया का आधार माना है तथा समवाय को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थों में रहने वाला माना है ।

यौग—अभाव का परित्याग कर विवाद को प्राप्त भाव को ही पक्ष बताने से यह दोष नहीं है ।

जैन—मोक्ष के चाहने वालों का ऐसी स्थिति में मोक्ष के लिए ईश्वर की आराधना करला निरर्थक होगा; क्योंकि मोक्ष का चाहने वाले के समस्त कर्मों का क्षय होने पर ईश्वर की आराधना निरर्थक होगी । सत्ता समवाय रूप हेतु को विवार श्रेणी पर चढाने से वह सैकड़ों रूपों में छिन्न-भिन्न हो जाता है, अतः कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है । सत्ता समवाय उत्पन्न हुए पदार्थों के है अथवा उत्पद्मान पदार्थों के है ? यदि उत्पन्न हेतु पदार्थों के है तो वे पदार्थ सत् हैं या असत् ? यदि समुत्पन्न असत् पदार्थों के सत्ता समवाय है तो वह खरविषाणादि के भी होगा; क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है । यदि सत् पदार्थों के सत्ता समवाय कहोगे तो वह सत्ता समवाय अन्य सत्ता समवाय से है या स्वतः ? अन्य सत्ता समवाय से मानने पर अनवस्था दोष आता है । पहले कहे गये दोनों विकल्प यहाँ भी होगे । स्वतः सतों के मानने पर सत्ता समवाय अनर्थक हो जाता है ।

यौग—उत्पद्मान पदार्थों का सत्ता सम्बन्ध और निष्ठा सम्बन्ध इन दोनों का एक ही काल स्वीकार किया गया है ।

१. अङ्गीकरणात् ।

तथा सत्सासम्बन्ध उत्पादाचिभावः कि वाऽभिन्न इति ? यदि भिन्नस्तदोत्पत्ते-सम्बन्धाचिशेषादुत्पत्त्यभावयोः किञ्चतो भेदः ? अथोत्पत्तिभावाकालवस्तुस्त्वेनोत्पत्ति-रपि तथा व्यष्टिदिश्यत इति मतम्, सबै अतिजाग्रध्वविलापमेव, उत्पत्तिसत्त्वप्रति-विवादे वस्तुसत्त्वस्यातिदुर्घटत्वात्, इतरेतत्प्रयोगदीप्तिचेति उत्पत्तिसत्त्वे नस्तुमें तदेककालीनसत्तासम्बन्धाचिभावः, तदवगमे च तत्रत्वसत्त्वेनोत्पत्तिसत्त्वनिष्ठय इति । अर्थात् द्वोपपरिज्ञीर्णया तयोरेक्यमप्यनुज्ञायते, तद्विं तत्सम्बन्ध एव कार्यत्वमिति । ततो बुद्धिमद्वेतुकत्वे गणनादिभिरनेकान्तः ।

एतेन स्वकारणसम्बन्धोऽपि चिन्तितः । अर्थोभवसम्बन्धः कार्यत्वमिति भवति, साधि न युक्ता; तस्मिन्बन्धस्यापि कादाचित्कल्पे समवायस्यानित्यत्वप्रसञ्जात् घटादिकल् । बकादाचित्कल्पे सर्वद्वोपलम्भप्रसंगः । अष्ट वस्तुत्पादककारणात्मा

**जैन**—तब सत्ता सम्बन्ध उत्पाद से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तब उत्पत्ति से असत्त्व में कोई विशेषता नहीं रही । फिर उत्पत्ति और अभाव में क्या भेद रहा ।

**यौग**—उत्पत्ति से युक्त वस्तु के सत्त्व से उत्पत्ति को भी सत् रूप व्यवहार कर दिया जाता है ।

**जैन**—यह कहना असि जड़ पुरुष की बकवाद के समान है । उत्पत्ति के सत्त्व में विवाद होने पर वस्तु का सत्त्व मानना अस्यात् दुर्घट है । ऐसा मानने पर इतरेतराश्रय नामक दोष भी आता है । उत्पत्ति के समय वस्तुओं में सत्ता सम्बन्ध की जानकारी हो और वस्तु सत्त्व की जानकारी होने पर सब वस्तुसत्त्व के द्वारा उत्पत्ति सत्त्व का निश्चय हो । यदि उपर्युक्त दोष का परिहार करने की इच्छा से आप उत्पत्ति और सत्ता सम्बन्ध में एकता मानते हो तो उस सत्ता का सम्बन्ध हो कार्यत्व सिद्ध हुआ । तब सत्ता सम्बन्ध रूप कार्य से बुद्धिमद्वेतुकत्व साध्य मानने पर आकाशादि के द्वारा अनेकान्तिक दोष प्राप्त होता है । सत्ता समवाय सम्बन्ध के निराकरण से स्वकारण सम्बन्ध का भी विचार किया गया समशब्दा चाहिये । यदि स्वकारण समवाय और सत्ता समवाय, इस प्रकार उभय सम्बन्ध कार्यत्व है, ऐसा मानों तो भी ठीक नहीं है । तनु-करणादि के उभय सम्बन्ध को भी यदि कादाचित्क मानेंगे तो घटादि के समान समवाय के अनित्यता का प्रसंग आता है । यदि अकदाचित्क ( सदा होने वाला ) कहेंगे तो तनुकरणादि कार्यों के भी सर्वदा पाथे जाने का प्रसंग आता है ।

सम्भिवानाभावान् सर्वदोपलभ्यप्रसंगः । वस्तु वस्तुत्पत्यर्थं कारणानां व्याप्तिः, उत्पादवच स्वकारणसत्तामवायः, स च सर्वदायस्ति, इति उदर्थं कारणोपादानं-ममर्थकमेव स्यात् ।

अभिव्यक्त्यर्थं वस्तुपादानमित्यपि वार्तम्; वस्तुत्पादोक्त्या अभिव्यक्ते उपादानात् । वस्तुत्पेक्षायाऽर्थमध्यस्ति कारणभूपाताऽप्राप्तिः कार्यवस्तुसद्भावप्रसंगात् । उत्पा-दस्यायायभिव्यक्तिरसम्भाव्यः, स्वकारणसत्तासम्बन्धलक्षणस्योत्पादस्यापि कारण-व्यापारात्प्राक् सद्भावे वस्तुसद्भावप्रसंगात्; तत्त्वक्षणस्वाद्वस्तुसत्त्वस्य । प्राक् सत् एव हि केनचित् तिरोहितस्याभिव्यक्तज्ञकेनाभिव्यक्तिः, तमस्तरोहितस्य घटस्येव प्रदीपादितेति । तन्नामित्यवस्तुर्थं कारणोपादानं युक्तम् । तन्म स्वकारणसत्ता-सम्बन्धः कार्यत्वम् ।

नायमूल्याभावित्वम्, तस्यापि विचारासहस्रात् । अभूत्वाभावित्वं हि भिन्न-

वस्तु के उत्पादक कारणों के सम्बिलान के अभाव से कार्यों के सर्वदा होने का प्रसंग नहीं आएगा, यदि ऐसा कहें तो जीनों का कहना है कि वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारणों का व्यापार होता है और उत्पाद सब कारण सत्ता सम्बन्ध रूप है, वह सर्वदा है ही? इस प्रकार वस्तु की उत्पत्ति के लिए कारणों का उपादान करना अनर्थक होगा ।

वस्तु के कारणों का ग्रहण कार्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है, यह कथन भी असत्य है; क्योंकि वस्तु के उत्पाद की अपेक्षा अभिव्यक्ति का कथन घटित नहीं होता । यदि वस्तु की अपेक्षा से अभिव्यक्ति मानी जाय तो कारण के समागम से पहले भी कार्य रूप वस्तु के सद्भाव का प्रसंग आता है । उत्पाद की अभिव्यक्ति भी असम्भाव्य है; क्योंकि स्व-कारण सत्ता सम्बन्ध लक्षण रूप उत्पाद के भी कारण व्यापार में पूर्व सद्भाव मानने पर वस्तु के सद्भाव का प्रसंग आता है; क्योंकि सत्त्व का लक्षण स्वकारण सत्ता सम्बन्ध है । जो वस्तु पहले सत् हो, बाद में किसी से तिरोहित हो जाय तो उसकी अभिव्यक्तज्ञक कारणों से अभिव्यक्ति होती है । जैसे अन्धकार से तिरोहित घट की प्रदीप आदि से अभिव्यक्ति होती है । अतः अभिव्यक्ति के लिए कारणों का उपादान करना युक्त नहीं है । अतः स्वकारण सत्ता सम्बन्ध रूप कार्यत्व सिद्ध नहीं होता है ।

अभूत्वाभावित्व की भी कार्यत्व नहीं कह सकते; क्योंकि वह भी विचारसह नहीं है । (नैयायिक लोग अस्त्कार्यवादी हैं, उनके मत में परमाणु आदि कारणों में सर्वथा असत् ही दृष्टिजुकादि कार्य उत्पन्न होते

कालक्रियाद्वाधिकरणभूते कर्त्तरि सिद्धे सिद्धिस्थास्ते; कल्पास्तपदविशेषितवा-  
क्यार्थेत्वाद् भुक्त्वा ब्रजतीत्यादिवाक्यार्थवत् । न चात्र भवना भवनयोराधार-  
भूतस्य कल्पस्तुभवोऽस्ति अभवनाधारस्याविद्यमानत्वेन भवनाधारस्य च विद्यमान-  
स्या भावाभावयोरेकाध्यविविरोधात् । अविरोधे च तयोः पर्यायमानेणीकं भेदो न  
वास्तव इति ।

अस्तु वा यथाक्यक्षिदभूत्वाभावित्वम्, तथापि तत्त्वादी सर्वत्रामभ्युपगमाद्  
भागासिद्धम् । न हि मही-महीधराकूपारारामावयः प्राग्मूक्त्वा भवत्योऽभ्युपगम्यन्ते  
परे, लेखो त्वं: सर्वदाऽवस्थामाम्भ्युपगमात् ॥ ५ ॥ अश्च सावयत्वेन लेपामपि सादित्यं

है ) अभूत्वाभावित्व भिन्नकालवर्ती दो क्रियाओं के अधिकरण भूत कर्त्ता के  
सिद्ध हो जाने पर ही सिद्धि को प्राप्त हो सकता है; क्योंकि वृत्त्वा प्रत्यय  
जिसके अन्त में है, ऐसे वाक्य के अर्थ रूप है । जैसे 'भुक्त्वा ब्रजति' अर्थात्  
भोजन करके जाता है, इत्यादि वाक्य का अर्थ है । ( यहाँ भोजन क्रिया  
अलील रूप है । जैसे—यहाँ भिन्नकालाधिकरणभूत कर्त्ता देवदत्त के होने  
पर ही भोजन करके जाता है, यह यूक्त है, उसी प्रकार अभवन और भवन  
दोनों क्रियाओं के अधिकरणभूत कर्त्ता का अनुभव नहीं है । ) यहाँ पर  
विद्यमान और अविद्यमान दो क्रियाओं का आधारभूत कर्त्ता का अनुभव  
नहीं है । अभवन क्रिया का आधार अविद्यमान होने भवन क्रिया का  
आधार विद्यमान होने से भाव और अभाव क्रिया के एक आश्रय का  
विरोध है । यह दोष साववादियों का ही है, स्थाद्वादियों का नहीं; उनके  
यहाँ अभाव भी भावान्तर रूप है । अस्तु भावाभावात्मक मानी गई है ।  
एक आश्रय होने पर यदि भाव और अभाव में विरोध न हो तो उन दोनों  
में नाम मात्र का भेद रहेगा, वास्तविक नहीं ।

अथवा जिस किसी प्रकार अभूत्वाभावित्व मान भी लिया जाय  
तथापि तनु आदि सब जगह स्वीकार न करने से भागासिद्ध हो जायगा ।  
हम ( जैन ) लोग पृथिवी, पर्वत, कुर्मी, उद्यान आदि को पहले नहीं हीकर  
होते हुए नहीं मानते हैं; किन्तु इनका हमने सर्वदा ही अवस्थान माना है ।  
( काल, यद्यज्ञनाथ, जीव, लोक तथा आगम ये सभी अनादिनिधन हीकर  
द्रव्य रूप में स्थित हैं । ) यदि सावयव होने के कारण उन पृथिवी, पर्वता-  
दिकों का भी सादित्व सिद्ध क्रिया जाता है तो यह भी अशिक्षित व्यक्ति

१. कालः सर्वज्ञाधरस्त्वं जीवो लोकस्तथाऽऽज्ञानः ।

अनादिनिधना होते अव्यरुपेण स्थिताः ॥ १ ॥

प्रसाद्यते, सदप्यशिष्यितक्षितम् अवयवेषु वृत्तेऽवयवैरारभ्यत्वेन च सावयवत्वा-  
नुपत्तेः । प्रथमपक्षे सावयवसामान्येनानेकान्तात् । द्वितीयपक्षे साध्याविधि-  
ष्टत्वात् ।

अथ सन्निवेश एव सावयवत्वम्, तच्च घटादिकृ पृथिव्यादिवृप्तिभ्यत इत्य-  
भूत्वाभावित्वमभिर्विते । सदप्यगेशलम्; सन्निवेशस्यापि विचारलहृत्वात् । स हि  
अवयवसम्बन्धो भवेद् रचनाविशेषो वा? यद्यावयवसम्बन्धस्तथा गणनाविमाने-  
कान्तः; सकलमूलितमद्वद्वयसंयोगमिवधनप्रदेशनानात्वस्य सद्भावात् । अथोप-  
चरिता एव तत्र प्रदेशा इति चेत्तहि सकलभूतमद्वद्वयसम्बन्धस्याप्युपचरित-  
त्वात् सर्वगतहर्मप्युपचरितं स्यात्; श्रोत्रस्यार्थक्रियाकारित्वं च न स्यापुष्विते-  
प्रदेशलृपत्वान् । धर्मादिना संस्कारात्मतः सेत्युक्तम् । उपचरितस्यासद्वृप्त्य तेऽपि-  
कारायोगात्, ऊरविषाणस्येच । ततो न किञ्चिदेतत् । अथ रचनाविशेषस्तदा पर-

के कथन के समान है । अवयवों में अवयवी रहे अथवा अवयवों से  
प्रारम्भ किये जाने, दोनों ही प्रकार से सावयवपना नहीं बनता है । प्रथम  
पक्ष के मानने पर सावयव सामान्य से अनेकान्त दोष आता है । द्वितीय  
पक्ष में साध्यसम है ( क्योंकि अवयवों से आरभ्यत्व और कार्यत्व इन दोनों  
का अर्थ समान ही है ) ।

यदि सन्निवेश ही सावयवत्व हो और वह घटादि के समान पृथ्वी  
आदिक में भी पाया जाता है । यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि  
सन्निवेश के भी विचार का असहृपना है अर्थात् विचार करने पर वह  
कोई वस्तु नहीं ठहरता । प्रश्न है कि अवयवों के साथ सम्बन्ध होने का  
नाम सन्निवेश है अथवा रचनाविशेष का नाम सन्निवेश है? यदि अवयव  
सम्बन्ध का नाम सन्निवेश है तो आकाशादि से अनेकान्त दोष आता है;  
क्योंकि समस्त मूलितमान् द्रव्यों के संयोग का कारण प्रदेशोंका नानात्व  
आकाशादि में पाया जाता है । यदि कहें कि आकाशादि में तो प्रदेश उप-  
चरित हैं, तब तो समस्त मूलिक द्रव्यों का सम्बन्ध भी उपचरित होने से  
आकाश सर्वव्यापकता उपचरित हो जायगी और श्रोत्र के अर्थक्रियाकारिता  
भी नहीं रहेगी अर्थात् श्रोत शब्द का ग्राहक नहीं रहेगा; क्योंकि आकाश  
के प्रदेश उपचरित हैं । यदि कहों कि पवित्र ओषधादि तथा सुख दुःख का  
अनुभव कराने वाला धर्मधर्म विशिष्ट भभो प्रदेश हो श्रोत्र के रूप में  
भाना गया है तो हमारा कहना है कि उपचरित असद्वृप्त धर्मधर्म से किसी  
प्रकार का उपकार नहीं किया जा सकता । जैसे गधे के सींग का किसी  
पदार्थ से कुछ उपकार नहीं किया जा सकता । अतः अवयव सम्बन्ध रूप

स्त्रिय भागासिद्धत्वं सद्ब्रह्ममेवेति नाभूत्वाभावित्वं विचारं सहते ।

नाथक्रियादविजिनोऽपि कृतबुद्ध्युपादकत्वम्; तद्धि कृतसमयस्यादकृतसमयस्य वा भवेत् ? कृतप्रमाणय चेद् गगनादिरपि बुद्धिमद्देतुकत्वं स्यात्; तत्रापि खननोत्तेचनात् कृतमिति गुहीतयकेतस्य कृतबुद्धिसम्भवात् । सा मिथ्येति चेद्भवदीयापि कि न स्यात्; बाधासद्भावस्य प्रतिप्रभाषणविरोधस्य चान्यत्रापि समानत्वात्, प्रत्यक्षेणोभयत्रापि कर्तुर्यग्नेत् । क्षित्यादिकं बुद्धिमद्देतुकं न भवति; अस्मद्वाच्यनवशाहृपरिमाणाद्वारत्वात् गगनादिविदिति प्रमाणस्य साधारणत्वात् । तत्त्वं कृतसमयस्य कृतबुद्ध्युपादकत्वम् । नाथकृतसमयस्य; आंसदत्त्वादविप्रतिप्रतिप्रतिप्रसङ्गात् ।

सन्निवेश कुछ भी वस्तु सिद्ध नहीं होता है । यदि रचना विशेष मानें तो जैनों के प्रति भागासिद्धता पूर्वकत् हो जायगी ( क्योंकि महीधरादि की आदि है; क्योंकि वे घट के समान साक्षव नहीं हैं, यहाँ चूंकि सुखादि रचनाविशेष नहीं है, अतः भागासिद्धपना है ) । इस प्रकार अभूत्वाभावित्व विचार को नहीं सहता है अथवा विचार करने पर ठोक नहीं ठहरता है ।

कार्य को नहीं मानने वाले अक्रियादर्शी के यहाँ भी कृतबुद्ध्युपादकत्वलक्षण कार्यपना भी पृथिवी आदि के बुद्धिमन्त्रमित्यकत्व रूप साध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं है । कृत बुद्धि सञ्चेत ग्रहण करने वाली के होगी या जिसने सञ्चेत ग्रहण नहीं किया है, उसके होगी । यदि सञ्चेत ग्रहण करने वाले के होगी तो आकाशादि भी बुद्धिमात् द्वारा किए गए सिद्ध होंगे; क्योंकि मिट्टी के खोदने और निकालने से यह गड्ढा हमने बनाया, इस प्रकार के सञ्चेत को ग्रहण करने वाले के कृतबुद्धि का होना सम्भव है । गगनादि में जो कृतबुद्धि है, वह यदि मिथ्या है तो आपके भी शरीरादि में जो कृतबुद्धि है, वह भी क्यों मिथ्या नहीं होगी ? क्योंकि ( आकाश नित्य है, क्योंकि वह समवाय के समान सत् और अकारणवान् है, इस प्रकार की ) बाधा का सद्भाव और प्रति प्रमाण का विरोध तो तमुकरणादिका में भी समान है । अथवा यदि आप कहते हैं कि आकाश आदि में यदि कृतबुद्ध्युपादकत्व का बाधक प्रमाण है तो वह बाधक प्रमाण अन्यत्र तमु आदि में भी है ही; क्योंकि प्रत्यक्ष से दोनों जगह कर्त्ता का ग्रहण नहीं होता है । पृथिवी आदि बुद्धिमान्मित्यक नहीं हैं क्योंकि हमारे जैसे लोगों के द्वारा उसका परिमाण और आधार ग्रहण नहीं होता है । जैसे आकाश आदि इस प्रकार का प्रमाण दोनों जगह साधारण है । अतः जिसने संकेत ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष के कृतबुद्धि का उत्पादकपना नहीं बनता है और जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया है,

कारणव्यापारानुविधायित्वं च कारणमात्रपेक्षया यदीष्यते तदा विरुद्धं साधनम् । कारणविशेषपेक्षया वेदितरेतराश्रयत्वम् — सिद्धे हि कारणविशेषे बुद्धिमति तदपेक्षया कारणव्यापारानुविधायित्वं कार्यत्वम्; ततस्तद्विशेषप्रिदिरिति ।

सन्निवेशविधिसिद्धत्वमनेत्रोपादानत्वं चोक्तव्योपदृष्टस्वान्म पृथक् विन्द्यते; स्वरूपभागासिद्धत्वादेतत्रापि सुलभत्वात् ।

ऐसे भी पृथक् के कृतबुद्धिपूर्णादत्यत्य रहीं रहता है । यिन्हा लक्षित गद्यान्विते कृतबुद्धि का उत्पन्न होना असिद्ध है ( यह थट है, थट नहीं है, इस प्रकार की विप्रतिपत्ति है परन्तु अगहीत संकेत वाले की उस प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है ) । निःसन्देहपैकी का भी प्रसंग उपस्थित होता है । यदि कृतसंकेत के जैसे कृतबुद्धि सम्भव है, उस प्रकार अकृतसंकेत के भी कृतबुद्धि सम्भव हो तो फिर किसी प्रकार का विवाद हो न हो । चौकि विवाद है अतः विवाद नहीं होने का प्रसंग दोष युक्त है ।

कारणव्यापारानुविधायित्वं ( कारण के व्यापार के अनुसार कार्य होना ) यदि कारण की अपेक्षा से इष्ट है तो साधन विरुद्ध है । ( क्योंकि विषयकीभूत अबुद्धिमन्त्रमितक वस्तु वर्तमान है । इष्टवर नामक इष्ट विशेष कारण की सिद्धि न होने से विरुद्ध साधन है । ) । यदि कारण विशेष को अपेक्षा व्यापारानुविधायित्वं कहें तो इतरेतराश्रय दोष आता है । बुद्धिमान कारण विशेष के सिद्ध होने पर उसकी अपेक्षा कारणव्यापारानुविधायित्वं रूप कार्यत्वं सिद्ध हो, तब उसकी अपेक्षा से कारणविशेष बुद्धिमत्तेनुकृत्य की सिद्धि हो ।

सन्निवेशविधिसिद्धत्वं और अचेतनोपादानत्वं ये दोनों उपर्युक्त दोष से दूषित हैं, अतः उनका पृथक् विचार नहीं किया जाता है; क्योंकि उनमें भी भागासिद्धत्व आदि दोष सुलभ हैं । मुख्यादि से भागासिद्धत्व—सुखादि में रचनाविशेषत्व नहीं है, कार्यत्व है । बुद्धिमन्त्रमितक भी 'अंकुरादिक' किसी कर्ता सहित है अथवा कर्ता के द्वारा बनाए गए हैं; क्योंकि उनका उपादान अचेतन है । यहाँ पर जैतनोपादान के ज्ञानकार्य में प्रवृत्त न होने से अचेतनोपादान रूप हेतु के भागासिद्धपना है । कहीं पर ज्ञानलक्षण रूप कार्य में सचेतन उपादान होने से भागासिद्धपना है ।

( शारीरादि बुद्धिमन्त्रमितक हैं; क्योंकि कार्य है । जैसे—थट । यहाँ पर जैसे वड़ा बुद्धिमान् कुम्भकार के द्वारा बनाया गया है । वह कुम्भकार भी सदारीरी और असर्वज्ञ है । उसी प्रकार समस्त कार्यों का कारण नियत है । दृष्टान्त के सामर्थ्य से तनु प्रादि कार्य भी सदारीर, असर्वज्ञ बुद्धि-

विशदाइकामी<sup>१</sup> हेतुवो दृष्टान्तानुधर्षहेण सशारीरासर्वज्ञपूर्वकत्वसाधनात् । न चूमा-  
त्वावकानुमानेऽप्यर्थ दोषः, तत्र तार्ण-पाणादिविशेषाकाराग्निमात्रव्याप्त्यमृष्य  
दर्शनात् । नैवभव सर्वज्ञात्वंकर्तृविशेषाधिकरणतत्सामान्येन कार्यत्वस्य व्याप्तिः,  
सर्वज्ञस्य कर्तुरतोऽनुमानातप्राप्तिंदद्वात् ।

मन्त्रिमितक हो जायेगे, इस प्रकार इष्ट के विशद साध्य की सिद्धि करने  
पर विशद साधन दोष है । तथा विद्युत आदि से व्यभिचार आता है । )  
कार्यत्व, सम्बिवेश विशिष्टत्व और अचेतनोपादान रूप तीन हेतु विशद  
भी हैं; क्योंकि इनसे सशारीरी, असर्वज्ञ कर्ता की सिद्धि होती है ।

( नैयायिक कहता है कि दृष्टान्त के सामर्थ्य से यदि ईश्वर का  
सशारीरपना और असर्वज्ञपना सिद्ध करते हों तो वैसा होने पर समस्त  
अनुमान का उच्छेद हो जायगा । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—यह पर्वत  
अग्नि युक्त है, धूर्ये वाला होने से, रसोईघर के समान । यहाँ भी  
पर्वतादि में रसोई में देखी हुई खेर, पलाय आदि की अग्नि के लिद्ध होने  
पर इष्ट के विशद साधन होने से विशद साधन है । नैयायिक की इस  
शैका का परिहार करते हैं— )

धूर्ये से अग्नि के अनुमान में यह ( विशद रूप ) दोष नहीं है । धूर्ये से  
अग्नि के अनुमान में तुण सम्बन्धी तथा पत्ते सम्बन्धी आदि विशेष आधारों  
में रहने वाली अग्नि मात्र से व्याप्त धूम का वहाँ भी दर्शन होता है ।  
पृथ्वी, अङ्गुरादि कर्ता से उत्पन्न हैं; क्योंकि कार्य हैं, इस अनुमान में सर्वज्ञ  
और असर्वज्ञ रूप जो कर्ता का विशेष, उसका आधार जो कर्तृत्व सामान्य  
उसके साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति नहीं है तथा कर्तारूप सर्वज्ञ इस अनु-  
मान से पहले असिद्ध है ।

**विशेष—**जैसे हम जैनियों के धूर्ये से अग्नि के अनुमान में तुणादि की  
विशेष अग्नियों का अग्निमात्र आधार ग्रहण है, उसी प्रकार आपके मत  
में विशेषभूत सर्वज्ञ और असर्वज्ञ रूप आधारभूत सामान्य पुरुष का ग्रहण  
नहीं है, जिससे कार्यपने की व्याप्ति हो; क्योंकि तुम्हारे पत में सर्वज्ञ ही  
बुद्धिमात्र है, सामान्य पुरुष नहीं । आपके में सर्वज्ञ साधक तनु आदि बुद्धि-  
मन्त्रिमिलक हैं; क्योंकि वे कार्य हैं, यही अनुमान है । वह इस समय विवाद-  
ग्रस्त है, अतः उससे सर्वज्ञ भिड़ि नहीं होती है । सर्वज्ञ और असर्वज्ञ रूप  
विशेष अधिकारण सामान्य से कार्यत्व हेतु की व्याप्ति नहीं है । अग्नि  
वाली अग्नि सामान्य से धूम की व्याप्ति है ही, अतः यहाँ दोष नहीं है ।

१. कार्यत्वसम्बिवेशविशिष्टत्वाचेतनोपादानत्वरूपाद्यस्यो हेतवः ।

व्यभिचारिणश्चामी हेतवो बुद्धिमत्कारणसन्तरेषापि विद्युदादीमां प्रादुर्भावितम् सम्भवात् । सुप्ताश्वस्थायामबुद्धिपूर्वकस्यापि कार्यस्य दर्शनात् ।

तदवश्यं तथापि भगविष्यं कारणमित्यतिमुख्यशिलसितम्; तदृष्ट्यापारस्याप्यसम्भवादशोरस्यात् । ज्ञानमात्रेण कार्यकारित्वादनात्, इच्छा-प्रयत्नयोः शरीरम् भावेऽसम्भवात् । तदसम्भवत्वं पुरातनीविस्तरेणाभिहृत आप्तपरोक्षादौ; अतः पुनरत्र नौच्यते । यज्च च महेश्वरस्य कलेशादिभिरपरामृष्टत्वं निरतिशयत्वमेवयस्य शुपेतत्वं तत्सर्वमपि गगनाङ्गजसौरभव्यावर्णं तमिव निविष्यत्वादुपेक्षामहेति । ततो न महेश्वरस्यापेष्यत्वम् ।

नापि ब्रह्मणः; तस्यापि सद्भावादेकप्रमाणाभावात् । न तदवत्प्रत्यक्षं तद्वयेदकम् अविज्ञितमित्याश्चात् । न चात् तात् शक्तिभाग्यिलिङ्गाद्यत्वात् । ननु

---

( जैसे घट तथा पट के कर्त्ता कुम्भकार और जुलाहे हैं, उस प्रकार विद्युत् का कोई कर्त्ता नहीं है अतः विद्युत् में बुद्धिमान् कर्त्ता के अभाव रूप कार्य के सद्भाव से व्यभिचारीपना है ) । ये कार्यस्व आदि हेतु व्यभिचारी भी हैं, क्योंकि बुद्धिमान् कारण के बिना भी विद्युदादि का प्रादुर्भावित सम्भव है । सुप्त आदि अवस्था में अबुद्धिपूर्वक भी ( हस्त पादादि सञ्चालनरूप ) कार्य देखा जाता है ।

विद्युदादि तथा सुप्तादि अवस्थाओं में समृत्यन्तं कार्य में सदाशिव नामक कारण है, वह कहना भी अतिमुख्य व्यक्ति के बिलास के समान है; क्योंकि वह सदाशिव अशरीरी है, अतः उसका व्यपार असम्भव है । ज्ञान मात्र से कार्यकारित्व घटित नहीं होता है; क्योंकि इच्छा और प्रयत्न शरीर के अभाव में असम्भव हैं । इस असम्भवता का निरूपण प्राचीन आचार्यों ने आप्तपरोक्षा आदि में किया है, अतः यहाँ पुनः नहीं कहा जाता है । और महेश्वर के जो कलेशादि से अपरामृष्टत्व, निरतिशयत्व और ऐश्वर्य आदि से युक्तत्व कहा है, वह सब आकाश कमल की सुगन्धि के वर्णन के समान निविष्य होने से उपेक्षायोग्य है । इस प्रकार महेश्वर के सर्वज्ञता नहीं है ।

ब्रह्म के भी सर्वज्ञपता नहीं है; क्योंकि उस ब्रह्म के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रभाण का अभाव है । प्रत्यक्ष तो ब्रह्म के अविलेख का साधक ही नहीं सकता; क्योंकि सबको ब्रह्म का दर्शन होना चाहिए, किसी को ब्रह्म में विवाद नहीं होना चाहिए, इस प्रकार का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । अनुमान भी ब्रह्म के अविलेख का साधक नहीं हो सकता; क्योंकि अविनाभाव रखने वाले लिङ्ग का अभाव है ।

प्रत्यक्षं तदन्याहकमस्त्वयेव; अधिविस्फालमानन्तरं निविकल्पकस्य सम्माश्रवित्रि-  
विषयतपोहत्ततः । सत्तायाद्वच परमब्रह्मरूपत्वात् । तथा चोक्तम्—

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निविकल्पकम् ।

बालमूकादिविज्ञानसदृढं तुष्टवागुह्यम् ॥ ११ ॥

न च विधिक्षत् परस्परव्याप्तिरव्यव्यक्ततः प्रतीयत इति द्वैतसिद्धिः तस्य  
निषेद्वाविषयत्वात् । तथा चोक्तम्—

आहुचिद्धात् प्रत्यक्षं न निषेधृ विपरिचतः ।

नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रवाध्यते ॥ १२ ॥

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव । तथा हि—ग्रामाशामादयः पदार्थः  
प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात् । यत्प्रतिभासते तदप्रतिभासान्तःप्रविष्टम्;  
यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभासते च विवादापन्ना इति । तदागमानामपि गुरुप

**शब्दवादी—**प्रत्यक्ष उस ब्रह्म का प्रात्मक है ही; क्योंकि अंत खोलते ही विकल्प ज्ञान से शून्य सत्ता मात्र स्वरूप विधि ( ब्रह्म ) को विषय करने से प्रत्यक्ष को उत्पत्ति होती है । यह निविकल्प सत्ता ही परमब्रह्म रूप है । जैसा कि कहा गया है—

**इलोकार्थ—**प्रथम निविकल्पक आलोचना ज्ञान उत्पन्न होता है,  
जो कि बालक और मूँक आदि के ज्ञान के समान है और शुद्धवस्तुजनित है ॥ ११ ॥

**विशेष—**जो विशेष व्यवहार का अंगभूत नहीं है, ऐसे प्रथमावलोकन रूप ज्ञान को आलोचना ज्ञान कहते हैं ।

जिस प्रकार विधि प्रत्यक्ष का विषय है, उसी प्रकार निषेध भी प्रत्यक्ष का विषय है, अतः द्वैतसिद्धि ही जायगौ, ऐसा नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय निषेध करता नहीं है । जैसा कि कहा है—

**इलोकार्थ—**विद्वान् लोग प्रत्यक्ष को विधि का विषय कहते हैं, निषेध को नहीं । इसलिए एकत्व के विषय में जो आगम है, वह प्रत्यक्ष से आवित नहीं होता है ॥ १२ ॥

अनुमान से भी ब्रह्म का सद्भाव जाना ही जाता है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट हैं; क्योंकि वे प्रतिभासमान होते हैं । जो प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट है, जैसे कि प्रतिभास का स्वरूप । विवाद को प्राप्त ग्राम, उद्यान आदि प्रतिभासित होते हैं, इसलिए वे सब परम ब्रह्म के ही

एवेदं यद् भूतं यच्च भाष्यमिति बहुलमुपलभ्यन् ।

सर्वे वै खल्लिवदं ब्रह्मा नेहुं नानास्ति किञ्चन ।

आराम्भं सत्यं पश्यन्ति न स पश्यति किञ्चन ॥ १३ ॥

इति श्रुतेऽप्य ।

ननु परमब्रह्मण एव परमार्थसत्त्वे कर्त्तव्यमिति ब्रह्मभावत् इति न चौलम्; सर्वस्यापि तद्विवर्तनयोऽवभासनात् । न चाशेषभेदस्य तत्त्विकर्मस्यमिति ग्रन्थः प्रमाण-प्रयित्रस्त्वात् । तथा हि—विवादाभ्यामिति विश्वमेककारणपूर्वकम्, एककल्पनियत्वात् । घट घटी-मरावोदञ्जनादीनां भूद्रवाचितामां यथा मृदैककारणपूर्वकत्वम् । सद्गुणेणान्वितं च निखिलं वस्तिवति । तथाऽऽग्नियोऽप्रसिद्धिः—

अर्णनाम इव ऋग्नां चन्द्रकान्तं इवाम्भसाम् ।

प्ररोहाणामिति एलः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥ १४ ॥ इति  
तदेतत्पविरागस्वादगदगदोदितमिति भद्रनकोद्रवाद्युपयोगकनितश्चामोहमुग्म-

स्वरूप हैं । 'जो हो चुका तथा जो भविष्यकाल में होगा, वह सब पुरुष ही है, इस प्रकार के आगम वाक्य भी बहुलता से पाए जाते हैं ।

श्रुति में भी कहा गया है—

इलोकार्थ—यह सब ब्रह्म ही है, इसके अतिरिक्त इस जगत् में नाना रूप कुछ भी नहीं है । हम लोग उस ब्रह्म के विवर्त को ही देखते हैं, उसे कोई भी नहीं देखता है ॥ १३ ॥

परम ब्रह्म को ही परमार्थ सत् मानने पर घटादि का भेद कैसे प्रतीत होता है ? यह बात नहीं कहना चाहिए; क्योंकि सब कुछ उस ब्रह्म के विवर्तस्वरूप अवभासित होता है । समस्त भेद उस ब्रह्म के विवर्त हैं, यह बात असिद्ध नहीं है; क्योंकि यह बात प्रमाण से प्रसिद्ध है । वह इस प्रकार है—विवादापन्न विश्व एक कारण पूर्वक है; क्योंकि वह एक रूप से युक्त है । जिस प्रकार घट, घटी, सकोटा, ढक्कन आदि जो कि मिट्टी के रूप से युक्त हैं, वे सब एक मिट्टी रूप कारण पूर्वक हैं । समस्त वस्तु इसी प्रकार सत् रूप से युक्त है । उसी प्रकार आगम भी इसमें प्रमाण है—

इलोकार्थ—जैसे मकड़ी अपने निकले हुए तन्तुओं का कारण है, चन्द्र-कान्तमणि जल का कारण है, जैसे बट्टकूप अपने से निकलने वाले प्रतीहों का कारण है, उसी प्रकार वह ब्रह्म समस्त प्राणियों का हेतु है ॥ १५ ॥

जैसा—यह मदिरा के रस के आस्वादन से उत्पन्न गदगद वज्रों के समान है अथवा भद्रनकोद्रव आदि के उपयोग से जनित व्याघ्रोह से महा-

‘विद्विषितमिव निविलमवभासते; विचारसहृद्धात् । तथा हि—यस्प्रत्यक्षसत्ता-विषयत्वमभिहितम्, तथ कि निविषेषसत्ताविषयत्वं गविषेषसत्तावबोधकत्वम् वा ? न सावत् पौरस्यः पक्षः; सत्तायाः सामान्यरूपत्वात्, विषेषनिरपेक्षात्याज्ञवभास-नात्, शावलेयादिविषेषानवभासमे गोत्वानवभासनवत् । ‘निविषेषं हि सामान्यं भवेत्युच्छेषविषयत्वं’ इत्यभिधनात् । सामान्यरूपत्वं च सत्तायाः सत्सदित्यन्वय-बुद्धिविषयत्वेन सुप्रसिद्धमेव । अथ पाइचात्यः पक्षः कथीक्रियते, तथा न परम-पुरुषसिद्धिः, परस्परव्याकृताकारविशेषानामविषयतोऽवभासनात् । यदपि साधन-मम्यवायि प्रतिभासमानत्वं तदपि न साधु; विचारसहृद्धात् । तथाहि—प्रतिभा-समानत्वं स्वतः परतो का ? न सावस्त्वतोऽसिद्धत्वात् । परतस्त्वेऽसिद्धम् । परतः प्रतिभासमानत्वं हि परं विना नोपवशते । प्रतिभासमानप्रयत्निः न सिद्धिमधिकसति, तस्य तद्विषेषानन्तरीयत्वात् । तद्विषेषाम्युपामे च द्वितप्रसन्निः ।

दूसरे मुख्य पुरुष के बचन विलास के समान प्रतिभासित होता है; क्योंकि यह विचार सह नहीं है । वह इस प्रकार है—जो प्रत्यक्ष सत्ता के विषय के रूप में कहा है, उस वाक्य में क्या सामान्यसत्ता का विषयपना अभीष्ट है या सविषेष सत्ता का अवबोधकपना अभीष्ट है ? प्रथम पक्ष तो बनता नहीं है; क्योंकि सत्ता का सामान्य रूप होता है, वह विषेष की निरपेक्षता से प्रतिभासित नहीं हो सकती, जैसे कि शावलेय आदि विषेषों के न अवभासने पर गोत्व सामान्य भी प्रतिभासित नहीं होता है । कहा भी गया है—विषेष रहित सामान्य गत्वे के सींग के समान होता है । सत्ता का सामान्य रूप ‘सत् सत्’, इस प्रकार अन्वय बुद्धि के विषय के रूप में सुप्रसिद्ध ही है । यदि दूसरा पक्ष अंगीकार किया जाता है तो परम पुरुष की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि परस्पर व्याकृत आकार वाले विषेषों का प्रत्यक्ष रूप से अवभासन होता है । प्रतिभासमानत्व रूप जो साधन आपने कहा, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि विचारसह नहीं है । वह इस प्रकार है—प्रतिभासमानपना स्वतः है या परतः ? स्वतः प्रतिभासमानपना नहीं हो सकता है; क्योंकि वह असिद्ध है । परतः प्रतिभासमानपना कहो तो वह विरुद्ध है । परतः प्रतिभासमानत्व दूसरे के बिना नहीं बन सकता । ( पदार्थों का स्वतः प्रतिभासन हो तो नेत्र-सूलने पर प्रकाश के अभाव में भी स्वतः प्रतिभासन हो । परन्तु ऐसा नहीं है, अतः हेतु की असिद्धता है एकत्व के विरोधी द्वैत का प्रसाधक होने से विरुद्ध है ) । सान सामान्य भी सिद्धि की प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि उसका विषेषों के साथ अविनाभाव पाया जाता है । प्रतिभास-

किङ्क—धर्मि हेतु दृष्टान्ता अनुमानोधायभूतः प्रतिभासन्ते न वेति ? प्रथम-पक्षे प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः प्रतिभासबहिभूता वा ? यद्याद्यः पक्षहस्तादा साध्यान्तःप्रतिभासन् ततोऽनुमानम् । तद्बहिभूते तरैव हेतोऽयमिच्चारः । अप्रतिभासमान-त्वेऽपि तद्व्यवस्थाभावात्तो नानुमानमिति ।

अथानाद्यविद्याविजूभिभत्तवात् सर्वमेतदसम्बद्धमित्यनत्यत्तमोविलसितम्; अविद्यायामप्युक्तदीर्घानुष्ठानात् । सकलविकल्पविकलत्यासस्या नैष दोषं द्वयप्यतिमुख्य-भावितम्; केवलपि रूपेण तस्माः प्रतिभासाभावे तत्सरूपात्यवधारणात् । अपरमप्यत्र विस्तरेण देवागमालकुरे विनितमिति नेह प्रतमयते ।

मान के विशेषों को स्वीकार करने पर द्वैत का प्रसंग प्राप्त होता है ।

दूसरी बात यह है कि अनुमान के उपायभूत धर्मी हेतु और दृष्टान्त प्रतिभासित होते हैं या नहीं ? प्रथम पक्ष मानने पर प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट है या बहिभूत है यदि आद्य पक्ष हो तो साध्य के अन्दर प्रविष्ट होने से उससे अनुमान नहीं होगा । द्वितीय पक्ष मानने पर उन्हीं के द्वारा प्रतिभासमानत्व हेतु के व्यभिचार आता है । यदि कहा जाय कि अनुमान के उपायभूत वे धर्मी, हेतु, दृष्टान्त प्रतिभासित नहीं होते तो उन धर्मी आदिकी व्यवस्था का अभाव होने से उससे अनुमान नहीं होगा ।

कहाद्वैतवादी—अनादि अविद्या के व्याप्त होने से धर्मी हेतु आदि प्रतीत होते हैं, वे यथार्थ नहीं हैं, असम्बद्ध हैं ।

जैन—ऐसा कहना महान् अज्ञानात्मकार के विलास के समान है; क्योंकि अविद्या के मानने पर भी उक्त दोषों का प्रसंग आता है । (अविद्या प्रतिभासित होती है या प्रतिभासित नहीं होती है ? यदि प्रतिभासित होती है तो प्रतिभास के अन्तःप्रविष्ट है या बहिभूत है ? यदि प्रतिभास के बहिभूत है ? तो उसी हेतु से व्यभिचार और द्वैत की प्राप्ति होती है । यदि प्रतिभासित नहीं होती है तो अविद्या, इस प्रकार व्यवस्था नहीं बनती है ) ।

कहावादी—अविद्या समस्त विकल्पों से रहित होने से यह दोष नहीं है ।

जैम—यह कहना भी अति मुग्ध पुरुष के कथन के समान है । किसी भी रूप से उस अविद्या के प्रतिभास का अभाव होने पर उसके स्वरूप का निष्ठय नहीं हो सकेगा । इस विषय में और भी देवागम स्तोत्र की

यज्ञव परमज्ञाविवर्तत्वमविलभेदनाभित्युक्तम्; संत्राप्येकरूपेणाग्निवत्वं हेतु-  
रत्वेष्वन्धीयमानद्वयाविवरभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबन्धानीति स्वेऽप्यविधात्वारित्वा-  
द्विरुद्धः । अग्निवत्वमेसहेतुके घटादी, अनेकहेतुके स्तम्भ-कुम्भाभ्योहकादावप्युपलम्यत  
इत्यनीकान्तिकथन ।

किमर्थं चेदं कार्यमसी विवधाति ? अन्येन प्रयुक्तत्वात्, कृपावशात्, क्रीडा-  
वशात्, स्फभावाद्वा ? अन्येन प्रयुक्तत्वे स्वातन्त्र्यहानिर्वृत्तप्रसङ्गश्च । कृपावशादिति  
नोत्तरम्; क्रीडाय दुःखिनामकरणप्रयत्नात् परोपकारकरणनिष्ठत्वात् तस्याः । सृष्टेः  
प्राणनुकम्पविषयप्राणिनामभावात्पच न सा युज्यते; कृपापरस्य प्रलयविधानायो-  
गाच्च । अदृष्टविधात्वात्तिथामेस्वातन्त्र्यहानिः; कृपापरस्य पीडाकारणादृष्टव्यपेक्षा-  
योगाच्च ।

अलंकार स्वरूप अष्टसहस्री में विचार किया गया है, अतः यहाँ उसका  
विस्तार नहीं किया जाता है ।

उग्रता रेशों को जो कि वरुण जहु के विरुद्ध दहा है, वहाँ पर भी  
'एक रूप से अन्वित होना' पढ़ हेतु है । अतः अन्यव सम्बन्ध वाला पुरुष और  
जिनका अन्वय किया जाय, ऐसे पदार्थ, इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध  
होने से वह पुरुषाद्वैत का प्रतिवेद करता है, इस प्रकार अद्वैत का विधात  
करने वाला होने से विरुद्ध है । अन्वितत्व मिहो जिसका एक हेतु है ऐसे  
घटादि में और जिसके अनेक हेतु हैं ऐसे स्तम्भ, कुम्भ और कमल आदि  
में पाया जाता है, इस प्रकार अनेकान्तिक हेत्वाभास भी है ।

वह ब्रह्मा किसलिए इस जगत् रचना रूप कार्य को करता है ? अन्य  
के द्वारा प्रयुक्त होने से, कृपा के वश से, क्रीडा के वश से अथवा स्वभाव  
से ? अन्य के द्वारा प्रयुक्त मानने पर स्वतन्त्रपने की हानि होती है, और  
द्वैत का प्रसंग भी उपस्थित होता है । यदि कृपा के वश जगत् का निर्माण  
करता है तो वह कोई उत्तर नहीं है । यदि कृपा है तो दुःखियों की रचना  
ही नहीं करना चाहिए; क्योंकि कृपा तो एकमात्र परोपकार करने में  
संलग्न रहती है । सृष्टि के पूर्व अनुकम्पा के विषय प्राणियों के न होने से,  
वह कृपा सम्भव नहीं है । जो कृपापरायण है, वह प्रलय भी नहीं कर  
सकता । अदृष्ट ( पाप ) के वश प्रलय करने पर अथवा पाप पुण्य के  
वश जगत् का निर्माण करने पर उसके स्वातन्त्र्य की हानि होती है ।  
कृपापरायण ब्रह्मा के पीड़ा के कारणभूत अदृष्ट की अधेशा भी नहीं  
बनसी है ।

क्रीडाक्षणोऽप्रवृत्ती न प्रभुत्वम्; क्रीडोपायव्यवेक्षणाद् बालकवत् । क्रीडोपायस्य  
तत्साध्यस्य च युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गवत् । सति समर्थं कारणे कार्यस्यावश्यम्भवाद्यतः;  
अन्यथा क्रमेणापि सा ततो न स्थात् । अथ स्वभावादसौ जगन्तिपिनोति; व्याप्तिनि-  
र्धहति, वायुवर्तीति भवतः; तदपि बालभावितमेव, पूर्वोक्तदोषानिवृत्तेः । तथाहि—  
क्रमवृत्तिविद्यतेजानभिलमणि युगलदुत्पद्यते; अपेक्षणीयस्य महाकारिणोऽपि तत्साध्य-  
त्वेन यीगद्वायम्भवात् । उदाहरणवैकरणे च; कन्हादेः कादाचित्कस्वहेतुजनिमस्य  
निष्ठत्वात्यात्मकत्वोपास्तेरव्यथा निष्ठ-व्यापि-समर्थेकस्वभावकारणजान्यवेम देश-  
कालप्रतिनियमस्य कार्ये दुरुपयादात् ।

तदेवं ब्रह्मणोऽसिद्धौ विद्वानो तत्सुरत-प्रवृद्धावस्थात्वप्रतिपादनं परमपूर्णास्य-

क्रीडा के वश जगत् के निर्भय में प्रवृत्त होता है, ऐसा मानने पर  
उसके प्रभुता नहीं रहती है, जैसे क्रीडा के उपायों की अपेक्षा रखने वाला  
बालक । क्रीडा का उपाय-जगत् की रक्षना और क्रीडा के साध्यरूप सुल  
की एक साथ उत्पत्ति का भी प्रसंग आता है । समर्थं कारणे के होने पर  
कार्यं अवश्य होता है, नहीं तो ( अर्थात् समर्थं कारणे के अभाव में ) क्रम  
से भी वह उत्पत्ति उस अस्ति रूप कारण से नहीं होगी । जिसकी एक साथ  
उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, वह कारण क्रम से भी उत्पत्ति नहीं करता  
है; क्योंकि शक्ति होने पर भी सामर्थ्य का अभाव है । यदि उत्पन्न करता  
है तो वहाँ पर शक्ति समर्थं कारण है । यदि वह ब्रह्मा स्वभाव से जगत्  
का निर्माण करता है, जैसे अग्नि जलाती है, वायु बहसी है, ऐसा माना  
गया है तो ऐसा कहना भी बालक के वचन के समान है; क्योंकि पूर्वोक्त  
दोषों की निवृत्ति नहीं होती है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—समस्त ही  
क्रमवर्ती विवर्तों का समूह युगपत् ही उत्पन्न होना चाहिए; क्योंकि  
अपेक्षणीय सहकारी कारण भी तत्साध्य है अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा ही करने  
योग्य है, अतः सब विवर्तों का युगपत् होना सम्भव है ।

“अग्नि जलाती है”, इत्यादि उदाहरण भी विषम है; क्योंकि अग्नि  
आदि कादाचित्क स्वहेतु जनित हैं अर्थात् ईधन आदि मिल जाय तो जले,  
न मिले तो न जले । अग्नि की दहनादि की विकित प्रतिनियत है, परम  
ब्रह्म में नित्यपता, सर्वव्यापकपना और सब कार्यों के करने में समर्थ एक  
स्वभाव रूप कारण से उत्पन्न करने की योग्यता सब जगह और सब  
समय पायी जाती है । इस प्रकार देवा तथा काल का प्रतिनियम सृजित रूप  
कार्य में घटित नहीं होता ।

इस प्रकार ब्रह्म की सिद्धि न होने पर वेदों का, उसकी सुप्त, प्रवृद्ध

महाभूतनि श्वसिताभिषार्थं च गग्नारविरद्धमकरमदक्षावर्णनवदनवषेदार्थक्षिप्तयत्वा-  
दुपेक्षाभर्हति । अच्चत्रयम् 'सर्वं वै खलिवदं ब्रह्मोत्थादि' 'ऊर्णनाम इत्यादि' च;  
कस्तर्वमुक्तविधिनाऽद्वैतविरोधीति नाककाशं लभते । न चापौरुषेय आगमीऽस्ती-  
त्यन्ते प्रफङ्ग्वयिष्यते । लक्ष्मणम् पुरुषोत्तमोऽपि विचारणां प्राञ्जति ।

प्रत्यक्षेतरभेदभिन्नममलं भानं द्विषेवोदितस् ,  
देवैदीप्तं गृणीक्षिचार्यं विधिवत्सङ्कल्पाततेः सङ्ग्रहात् ॥  
मानानामिति तदिदगच्छभिहितं श्रीरत्ननन्दावये-  
स्तद्वाचारुयानमदो विशुद्धविषये ब्रौद्धव्यवशशाहृतम् ॥ ७ ॥  
मुख्य-संब्यवहाराभ्यां प्रत्यक्षमुपदशितस् ।  
देवोक्तमुपजीवद्विः सूरिभिर्जपितं मथा ॥ ८ ॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ द्वितीयः समुद्रेषाः ॥ २ ॥

अवस्था का प्रतिपादन करना, परमपुरुष नाम वाले महाभूत के निःश्वास का कथन करना आकाश कमल के मकरन्द घीं सुगन्ध के वर्णन करने के समान उपेक्षा के शोण्य है ।

‘ओ आपने ‘यह सब ब्रह्म है’, मकड़ी जैसे जाल बनती है, इत्यादि आगम प्रमाण दिए हैं, वे सब प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव रूप उक्त विधि से अद्वैत के विरोधो होने से अवकाश को प्राप्त नहीं करते हैं । अपौरुषेय आगम भी नहीं है, इस बात का हम आगे विस्तार से वर्णन करेंगे । इसलिए पुरुषोत्तम भी विचारणा पर नहीं ठहरता है ।

**इलोकार्थ—**गुणों से दीप्त श्रीमद्भट्ट अकलज्ञदेव ने विधिवत् विचार कर प्रमाण की संख्याओं के समूह का संग्रह कर प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से ही भेद रूप निर्देश प्रमाण का कथन किया है । उसी का दिङ्मात्र (कुछ) वर्णन श्री रत्ननन्द (माणिक्यनन्दि) आचार्य ने (परीक्षामुख गन्ध में) किया है । उसका यह मुझ अनन्तवीर्य ने व्याख्यान किया है । विशुद्ध बुद्धि वालों को उसे निर्देश रूप से जानना चाहिए ॥ ७ ॥

**इलोकार्थ—**मुख्य और संब्यवहारिक भेद से प्रत्यक्ष का वर्णन श्री अकलेकदेव ने किया । उसी को सूरि (माणिक्यनन्दि) ने स्वीकार किया । उसकी मुझ अनन्तवीर्य से व्याख्या की ॥ ८ ॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में  
द्वितीय समुद्रेषा समाप्त हुआ ।

## तृतीयः समुद्रदेशः

अर्थदानीमुदिते प्रत्येकेतरभेदेन प्रमाणदिते प्रथमभेदं व्याख्याय इतरद् व्याख्याते—

### परोक्षमितरत् ॥ १ ॥

उक्तप्रतिपक्षमितरच्छब्दो बूते । ततः प्रत्यक्षादिति लक्ष्यसे, तच्च परोक्षमिति ।  
तत्य च सामग्री-सङ्कल्पे निरूपयनाह—

### प्रत्यक्षादिनिमित्तं समृतिप्रत्यभिज्ञानतकनुभानागमभेदम् ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिनिमित्तमित्यत्रादिक्षवेन परोक्षमपि गृह्णते । तत्य यथावसरं निरूपयिष्यते । प्रत्यक्षादिनिमित्तं यस्वेति विष्णुः । लगुणादिसु इष्टः । ये भेदा यस्य इति किंचहः ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेदों में से प्रथम भेद की व्याख्या करके इस शमय दूसरे भेद की व्याख्या करते हैं—

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष से भिन्न परोक्ष है ॥ १ ॥

इतर शब्द पहले कहे यए प्रमाण के प्रतिपक्ष को कहता है। उस प्रत्यक्ष से भिन्न जो ज्ञान है, वह परोक्ष है, ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। उस परोक्ष की (उत्पत्तिकारण रूप) सामग्री और स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षादि जिसके निमित्त हैं, ऐसा परोक्ष प्रमाण समृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुभान और आगम के भेद से पाँच प्रकार का होता है ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादि जिसके निमित्त हैं, यहाँ आदि शब्द से परोक्ष भी ग्रहण किया जाता है। उसका निरूपण यथावसर किया जायगा। ‘प्रत्यक्षादि निमित्तं यस्य’, यह विग्रह है। समृति आदि में द्वन्द्व समाप्त है। ते भेदाः यस्य—ये समृति आदिक जिसके भेद हैं, इस प्रकार विग्रह ग्रहण करता चाहिए।

विशेष—समृति प्रत्यक्ष पूर्वक होती है, प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मरण पूर्वक होता है, प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान पूर्वक तर्क होता है, प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क पूर्वक अनुभान होता है, आद्यण प्रत्यक्ष, समृति और संकेत पूर्वक आगम होता है।

तत्र स्मृतिं क्रमप्राप्तो दर्शयन्ताह—

**‘संस्कारोद्भवित्वन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥ ३ ॥**

संस्कारस्योद्भोधः प्राकट्यं स निवन्धनं यस्याः सा यथोक्ता । तदित्याकारा तदित्युल्लेखिनी । एवम्भूता स्मृतिर्भवतीति शेषः । उदाहरणमाह—

**स इव दत्तो यथा ॥ ४ ॥**

प्रत्यभिज्ञानं ग्रामाकारमाह—

**दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् सदेवेदं**

**तत्सदृशं तद्विलक्षणं तदप्रतियोगीत्यादि ॥ ५ ॥**

अत्र दर्शनस्मरणकारणकर्त्वात् सादृश्यादिविषयस्यापि प्रत्यभिज्ञानत्वमुक्तम् । येषां तु सादृश्यविषयमुपमानात्माणं प्रमाणान्तरं तेषां वैलभ्यादिविषयं प्रमाणान्तरं अनुभव्येत् । तथा चोक्तम्—

उपमानं प्रसिद्धात्मसाधम्यात् साध्यसाधनम् ।

**तद्वैधम्यतिप्रमाणं कि स्यात् सञ्ज्ञप्रतिपादनम् ॥ ५ ॥**

क्रम प्राप्त स्मृति को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**( धारणा ज्ञान रूप ) संस्कार की प्रकटता जिसमें कारण है ऐसे ‘तत्’ इस प्रकार के आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं ॥ ३ ॥

संस्कार का उद्बोध = प्राकट्य, वह जिसका कारण है, वह स्मृति है । ‘तत्’ इस आकार अर्थात् उल्लेख वाली स्मृति है । इस प्रकार की स्मृति होती है, यह शेष है । उदाहरण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**ऐसे कि वह देवदत्त ॥ ४ ॥

अब अथसर प्राप्त प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**दर्शन और स्मरण जिसमें कारण हैं ऐसे संकलन ( अनुभूत पदार्थ का विवक्षित धर्म से सम्बन्ध होने पर अनुसन्धान संकलन है ) ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । ऐसे—यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, इत्यादि ॥ ५ ॥

यहाँ पर दर्शन और स्मरण कारण होने से सादृश्य आदि के विषय करने वाले ज्ञान को भी प्रत्यभिज्ञानपना कहा है । जिन नेयायिकादि के यहाँ सादृश्य को विषय करने वाला ज्ञान उपमान नाम से अभिन्न प्रमाण माना गया है, उनके वैलक्षण्य आदि को विषय करने वाला अन्य प्रमाण भी मानने का प्रसंग प्राप्त होता है । ऐसा कि कहा है—

**इलोकार्थ—**थदि प्रसिद्ध पदार्थ की समानता से साध्य के साधन को

इदमल्पं महद् दूरमासनं प्रांशु वैति वा ।  
अपेक्षातः समक्षेऽर्थं विकल्पः साधनान्तरम् ॥ १६ ॥  
एषो क्रमेणोदाहरणं दर्शयन्नाह—

यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदूशो गवयः, गोविलक्षणो  
महिषः, हृदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि ॥ ६ ॥  
आदिशब्देन—

पयोऽवृभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भविरः स्मृतः ।  
सप्तपर्णस्तु तत्क्रीविज्ञयो विषमच्छुदः ॥ १७ ॥  
पञ्चवर्णं भवेद् रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी ।  
युवतिक्ष्यैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तिलः ॥ १८ ॥  
शरभोऽप्यज्ञभिः पादैः सिंहश्चारुसटान्वितः ॥ १९ ॥

उपरान प्रमाण कहते हैं तो वैधर्य से होने वाले साधन रूप प्रमाण का नाम क्या होगा ? ( यह वृक्ष है, हृत्यादि ) नामादि रूप संज्ञा वाले संज्ञी पदार्थ के प्रतिशादन करने को कौन सा प्रमाण कहेंगे ? यह इसमें अल्प है, यह इससे महत्र है, यह इससे दूर है, यह इसके समीप है, यह इससे कैचा है, यह इससे नीचा है तथा इसके निषेध रूप अर्थात् यह इससे अल्प नहीं है, यह इससे महान् नहीं है, हृत्यादि रूप परस्पर की अपेक्षा से, प्रतिपक्ष की आकांक्षा से अव्य भाव का निष्कर्ष रूप ओँ ज्ञान होता है, इन सबको पृथक् प्रमाणपत्र प्राप्त होता है । इससे आप लोगों द्वारा मानी हुई प्रमाण संख्या का विवरण हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

इन प्रत्यभिज्ञान के भेदों का कम से उदाहरण दिखालाते हुए कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—जैसे—यह वही देवदत्त है ( एकत्व प्रत्यभिज्ञान ), गाय के समान नील गाय होती है ( सादृश्य प्रत्यभिज्ञान ), गो से विलक्षण भैसा होता है ( वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान ), यह इससे दूर है ( तत्त्वतियोगि प्रत्यभिज्ञान ), यह वृक्ष है ( वृक्ष सामान्य स्मृति रूप प्रत्यभिज्ञान ) हृत्यादि ॥ ६ ॥

आदि शब्द से—

इलोकार्थ—दूध और जल का भेद करने वाला हंस होता है, छह पैर का भौंरा माना गया है, तत्त्वज्ञों को सात पत्तों वाला विषमच्छुद नामक वृक्ष जानता जाहिये । पाँच वर्णों वाला मेचक नामक रत्न होता है, विशाल स्तन वाली युवती होती है, एक सींग वाला गेंडा कहा जाता है,

इत्येवमादिशब्दशक्त्यात् तथाविषयानेव मरालादीनवलोक्य तथा सत्यापयति  
यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम्; दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात् ।  
परेषां तु तत्प्रमाणान्तरमेवोपपत्तये; उपमानादौ तस्यान्तरभविभावात्—

अथोहोऽवसरप्राप्त इत्याह—

**उपलभ्नानुपलभ्ननिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥ ७ ॥**

**इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ॥ ८ ॥**

उपलभ्नः प्रमाणमात्रमन्त्र गृह्णते । यदि प्रत्यक्षमेवोपलभ्नविदेहोऽप्यते तदा  
साधनेषु अनुमेयेषु व्याप्तिज्ञानं न स्पात् । अथ व्याप्तिः सर्वोपर्संहारेण प्रतीयते,  
सा कथमतीन्द्रियस्य साधनस्यात्तीन्द्रियेण साध्येन भवेदिति ? नैवम्; प्रत्यक्षविषये-  
ज्ञिवानुमानविषयेऽपि व्याप्तेऽविरोधात्, तज्ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वाऽनुपगमात् ।

आठ पैर वाला अडापद होता है और सुन्दर सटा ( गर्दन के बाल ) से  
युक्त सिंह होता है ॥ १७-१८-१९ ॥

इत्यादि शब्दों को सुनकर, इसी प्रकार के हंस आदि को देखकर उसी  
रूप में जब सत्यापित करता है, तब यह संकलन ज्ञान प्रत्यभिज्ञानं  
कहलाता है; क्योंकि दर्शन और स्मरण रूप कारण सब जागृह समान हैं ।  
अन्य मतावलम्बियों में तो इन्हें भिन्न-भिन्न प्रमाण मानना पड़ेगा ।  
उपमानादि में इनका अन्तर्भव नहीं होता है ।

अब अद्वसर प्राप्त ऊह ( तर्क ) प्रमाण के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—अन्यथ और व्यतिरेक जिसमें निमित्त हैं, ऐसे व्याप्ति के**  
ज्ञान को ऊह कहते हैं । जैसे—यह साधन रूप वस्तु इस साध्य रूप वस्तु के  
होने पर ही होती है और साध्य रूप वस्तु के नहीं होने पर नहीं होती है ॥ ७-८ ॥

यहीं पर उपलभ्न से प्रमाण सामान्य का ग्रहण करना चाहिये । यदि  
उपलभ्न शब्द से प्रत्यक्ष ही कहा जाता है तो अनुमान के विषयभूत  
( इस प्राणी में सुख नहीं है; क्योंकि हृदय की शाल्य है इस प्रकार के )  
साधनों में व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकेगा । यदि कहा जाय कि व्याप्ति  
तो सर्वदेश और सर्वकाल के उपसंहार से प्रतीत होती है, अतीन्द्रिय हीं  
साधन और अतीन्द्रिय हीं साध्य होने पर वह व्याप्ति कैसे जानी  
जायगी ? तो ऐसा नहीं कहा जाना चाहिये । प्रत्यक्ष के विषयों के समान  
अनुमान के विषयों में भी व्याप्ति का कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अनिवार्य  
दिवदेश वाली व्याप्ति के ज्ञान को परोक्ष माना गया है ।

उदाहरणमाहु—

**यथाग्नाकेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥ ९ ॥**

इवानीमनुमानं क्रमायात्मिति तत्त्वलक्षणमाह—

**साधनात्साध्यादित्तान्मनुमानम् ॥ १० ॥**

साधनस्य लक्षणमाह—

**साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥ ११ ॥**

मनु वैरूप्यमेव हेतोलक्षणम्; तस्मिन् सत्येव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारोप-  
पत्तेः । तथा हि—पक्षधर्मस्त्वमसिद्धत्व्यवच्छेदार्थमभिभीतेः सप्तके सर्व-

व्याप्ति ज्ञान रूप तर्क का उदाहरण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—जैसे अग्नि में ही धूम है। अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है ॥ ९ ॥**

इस समय अनुमान क्रमप्राप्त है, अतः उसके लक्षण को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ॥ १० ॥**

**विद्येष—**'प्रभागात् विजानं अनुमानं' अर्थात् प्रभाग से जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं, इतना मात्र लक्षण मानने पर अनुमेय आगमादि से अभिचार आता है। अतः उसके निवारण के लिए साध्य का विज्ञान अनुमान है, ऐसा कहा है। तथापि प्रत्यक्ष से अभिचार आता है, अतः उसके निवारण के लिए साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है।

साधन का लक्षण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण हेतु निश्चित होता है। अर्थात् जो साध्य के विज्ञान हो उसे साधन कहते हैं ॥ ११ ॥**

**बौद्ध—**( पक्षधर्मस्त्व, सप्तक तत्त्व और विषय से व्यावृति रूप ) वैरूप ही हेतु का लक्षण हो। वैरूप के होने पर ही हेतु के असिद्ध, विरुद्ध और अनैकानितिक दोषों का परिहार हो सकता है। पक्षधर्मस्त्व असिद्ध के नियाकरण के लिए कहा जाता है। ( शब्द अनित्य है, चाक्षुष होने से, यहाँ पक्ष अर्मस्त्व नहीं है। चाक्षुष होने से, यह हेतु पक्ष भूत वाक्द में वर्तमान न होने से, यह हेतु असिद्ध है। इस असिद्ध हेतु के निवारण के लिए पक्ष में होना, यह कहा है )। सप्तक में हीना विरुद्ध

तु विश्वदत्तापनोदार्थम् । विपक्षे वामस्वमेवानेकान्तिक-भ्युदासार्थभिति ।  
तद्वक्तव्यम्—

हेतोस्त्रिव्यषि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः ।

असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षितः ॥ २० ॥

तथ्यवक्तव्यम्; अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषव्यपरिहारेषपलः । अविनाभावो ह्यव्यथानुपपन्नत्वम् । तत्त्वात्मिदस्य न सम्भवत्येव, 'अन्यथानुपपन्नत्वम्-सिद्धस्य न सिद्धधति इत्यभिधानात् । नायि विशदस्य तत्त्वात्मिदेषपलिविपरीतनिश्चित्ताविनाभाविनि यथोक्तसाध्याविनाभावनियमलभागस्थ नुपपत्तेविरोधात् । व्यभिचारिष्यषि म प्रकृतत्वात्मावकाशस्तु एव ततोऽन्यथानुपपत्तिरेव

हेतु के निराकरण के लिए है । (शब्द नित्य है; क्योंकि कृतक है, यहाँ पर सप्तक में असत्त्व है । कृतकता नित्यता की विरोधी अनित्यता से व्याप्त है । अतः हेतु के साध्य के अभाव के समान होने से विशद हेतु है । अतः विशद दोष के परिहार के लिए सप्तक में होना कहा है । विपक्ष में न होना अनेकान्तिक हेतु के निराकरण के लिए कहा गया है । (शब्द नित्य है; क्योंकि प्रमेय है । यहाँ पर विपक्ष से व्यावृत्ति नहीं है । प्रमेयता रूप हेतु पक्ष भूत शब्द तथा सप्तक रूप आकाशादि में होने पर भी नित्यत्व के विरोधी घटादि में भी पाए जाने से अनेकान्तिक हेतु है; क्योंकि हेतु पक्ष तथा सप्तक में होने पर भी विपक्ष से व्यावृत्ति नहीं है । अतः अनेकान्तिक हेत्वाभास के निराकरण के लिए विपक्ष से व्यावृत्ति आवश्यक है ) । जैसा कि कहा गया है—

इलोकार्थ—हेतु के तीन रूपों में ही निर्णय का वर्णन किया गया है । क्योंकि पक्षवर्भव असिद्ध दोष का प्रतिपक्षी है, सप्तकसर्व विशद दोष का प्रतिपक्षी है, विपक्ष व्यावृत्ति व्यभिचारी (अनेकान्तिक दोष) का प्रतिपक्षी है ॥ २० ॥

जैस—यह कहना ठीक नहीं है । अविनाभावनियम के निश्चय से ही तीनों दोषों का परिहार हो जाता है । अन्यथानुपपन्नत्व को अविनाभाव कहते हैं । अन्यथानुपपन्नत्व असिद्ध के सम्भव नहीं होता है । अन्यथानुपपन्नत्व असिद्ध हेतु के सिद्ध नहीं होता है, ऐसा कहा गया है । विशद हेतु के भी अन्यथानुपपन्नत्व सिद्ध नहीं होता है; क्योंकि साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ निश्चित अविनाभावी हेतु में यथोक्त साध्याविना भावी

१. अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥

श्रेष्ठी, न विस्ताः तस्या सत्यामपि वयोऽलक्षणाभावे हेतोर्मिकल्पादर्थं-  
नात् । तथा हि—स, इयामस्तत्प्रत्यादितरतस्तुत्रवत्, इत्यत्र वैलायसम्भवे॑१४४म-  
कल्पमूपलक्ष्यते ।

अथ विष्णाद् व्यावृत्तिनियमदती लक्ष न दृश्यते, ततो न गमकत्वमिति ।  
तदपि मुख्यविलसितमेव, तस्या एवाविनाभावस्त्वात् । इतरकृपसद्भावेऽपि  
तदभावे हेतोः स्वयात्यमित्यु प्रति गमकत्वानिष्टी सैव प्रधानं लक्षणमधृशमुपलक्ष-  
यीयमिति । तत्सद्भावे चेतरस्त्रियनिरपेक्षतया गमकत्वेषांसेऽच ।

यथा सम्पूर्णत्वादिनोऽपि प्रमाणानीष्टानिष्टसाध्यमहृष्टान्वयानुपथतः । न  
वाच प्रधर्मर्त्यं सपक्षान्वयो वास्ति; केवलमविनाभावमात्रेण गमकत्वंप्रतीतेः ।  
यदपुक्तं परैः—प्रधर्मर्त्याभावेऽपि ‘काकस्य काण्ड्याद्विक्षः प्रापादः’ इत्यस्यादि  
निरिचत लक्षण के पाथे जाने का विरोध है । व्यभिचारी हेतु में भी अन्य-  
यानुपत्ति रूप लक्षण के रहने का अवकाश नहीं है । यथोक्त साध्या-  
विनाभावनियम लक्षण के न बनने से तीनों दोषों का परिहार करने  
वाली अन्यथानुपत्ति ही श्रेष्ठस्कर है, वैरूप्य श्रेष्ठस्कर नहीं है । वैरूप्य  
के हीने पर भी यथोक्त अविनाभाव लक्षण के अभाव में ( क्योंकि साध्य  
के प्रति अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला हेतु निरिचत होता है ) हेतु के  
गमकता नहीं देखी जाती है । जैसे कि—वह इयाम है; क्योंकि उसका पुत्र  
है, दूसरे पुत्रों के समान यहीं पर वैरूप्य सम्भव होने पर भी गमकपना  
नहीं देखा जाता है ।

यदि कहा जाय कि विष्ण से व्यावृत्ति नियम वाली नहीं दिखाई देती  
है अतः तत्पुत्रत्व हेतु गमक नहीं है, यह कहना भी मुख्य पुस्तक के विलास  
के समान है, क्योंकि उस विष्ण-व्यावृत्ति का नाम ही अविनाभाव है इतर  
रूपों के सद्भाव हीने पर भी विष्ण व्यावृत्ति के अभाव में हेतु के अपने  
साध्य की सिद्धि के प्रति गमकपना नहीं है, अतएव साध्य के साथ अवि-  
नाभाव वाली विष्ण व्यावृत्ति को ही हेतु का निर्दोष लक्षण प्रतिशादन  
करता चाहिए, क्योंकि उसके सद्भाव में अन्य दो रूपों को निरपेक्षता से  
भी हेतु की साध्य के प्रति गमकता बन जाती है ।

अद्वैतवादियों के यहीं भी प्रमाण है, अन्यथा इष्ट का साधन और  
अनिष्ट का दृष्टण नहीं बन सकता । इस अनुमान में प्रधर्मर्त्य और  
सपक्षपत्र नहीं है । केवल अविनाभाव मात्र से गमकत्व की प्रतीति  
होती है ।

जो कि बौद्धादिकोंने कहा है—प्रधर्मर्त्याके अभाव में भी ‘कौए के  
कालैपन से महल सफेद है’, यहीं पर कौए रूप हेतु के महल के सफेदरूप

गमकलापस्तिरिति, तदप्यनैन निरस्तम्, अन्यथानुपपत्तिवलेनीवाचक्षवर्मस्यापि साधुत्वाम्भुपगमात् । न चेह योगिस्ति । तसोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधाने लक्षणमभ्युपत्तिव्यम्; तस्मिन् सत्यसति श्रिलक्षणत्वेषि हेतोर्गमकलवदर्शनात् । इति न वैरूप्यं हेतुलक्षणम्, अव्यापकत्वात् । सर्वेषां क्षणिकात्मे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्य सप्तोऽसतोऽपि सबयं योगतीर्थक्षवाम्भुपगमात् ।

एतेन पञ्चलक्षणत्वमपि योगपरिकल्पते न हेतोर्व्यपत्तिमियर्त्तियभिहितं बोद्ध्यम् । पञ्चधर्मेत्वे सत्यव्यव्यतिरेकावबाधितविषयत्वमसत्प्रसिद्धत्वं चेति पञ्च लक्षणानि, तेषामार्थविनाभावप्रयुक्तमर्थात् वाधितविषयस्याविनाभावायोगात्; सत्प्रतिपक्षस्येवेति, साध्याभासविषयत्वेनासम्यग्धेतुस्काच्छ, यद्योक्तपक्षविषयत्वम् भावासाद्दोषेणाव दुष्टत्वात् । अतः स्थितम्—साध्याविनाभावित्वेन निश्चितोऽद्विजिति ।

साध्य के गमकता की प्राप्ति होती । इसका भी निराकरण अन्यथानुपत्तिनामक एक लक्षण के द्वारा कर दिया, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के बल से ही पञ्च में नहीं रहने वाले भी हेतु के साधुता स्वीकार की गई है । कौए की कालिमा से महल सफेद है, यहाँ पर वह अन्यथानुपपत्ति नहीं है । अतः अविनाभाव ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए । ( अतः कार्यकारण भाव अन्वयव्यतिरेक से ही प्राप्त है, यह बात प्राप्त हुई ) । श्रिलक्षण चाहे हो अथवा न हो, यदि अविनाभाव है तो हेतु गमक दिखाई देता है । इस प्रकार अव्यापक होने के कारण वैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है । क्षणिकत्व साध्य होने पर सत्त्वादि साधन सप्तम में न रहने पर भी सबयं बौद्धों ने गमकता मानी है ।

वैरूप्य के निराकरण के द्वारा योग के द्वारा परिकल्पित पञ्चलक्षणत्व भी हेतुपने को प्राप्त नहीं होता है । पञ्चधर्मेत्व के होने पर अन्वय ( सप्तम में होना ), व्यतिरेक ( विषय से व्यावृत्ति ) अवाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्ष ये पाँच लक्षण अविनाभाव के ही विस्तार हैं; क्योंकि वाधितविषय के अविनाभाव का योग नहीं है । जैसे कि सत्प्रतिपक्ष के अविनाभाव सम्भव नहीं है । साध्याभास को विषय करने से हेतु असम्यक् भी है, क्योंकि वह अविनाभाव रूप पञ्च को विषय नहीं करता है, अतः वह पञ्च के दोष से ही दुष्ट है । अतः यह बात सिद्ध हुई कि जिसका साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित हो, वही हेतु होता है ।

इदातीमविनाभावभेदं दर्शयन्नाह—

**सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ १२ ॥**

तत्र सहभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह—

**सहचारिणोऽव्याप्तिद्वयापकयोऽच सहभावः १३ ॥**

सहचारिणोऽस्य रूप-रसयोऽव्याप्तिद्वयापकयोऽच वृक्षतश्चिन्नात्क्षयोरिति । सप्तम्या विषयो निर्दिष्टः ।

क्रमभावनियमस्य विषयं दर्शयन्नाह—

**पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोऽच सहभावः ॥ १४ ॥**

पूर्वोत्तरचारिणोः कृतिकोदशकटोदययोः कार्यकारणयोऽच वृक्ष-भूमज्जडयोः क्रमभावः ।

अथेदस्मूलस्थाविनाभावस्य न प्रत्यक्षेण प्रहृणम् । स्त्र्य सन्तिहितविषयत्वात् ।

मात्रात्मानेन प्रकृतापरानुमानकल्पनायामितरेतराश्रयस्थानवस्थावतारात् । अथमा-

ब अविनाभाव के भेदों को दिखलाते हुए कहते हैं ।

**सूत्रार्थ—सहभावनियम और क्रमभावनियम को अविनाभाव कहते हैं ॥ १२ ॥**

इनमें से सहभावनियम के विषय को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—सहचारी और व्याप्त-व्यापक पदार्थों में सहभावनियम होता है ॥ १३ ॥**

सहभावनियम के उदाहरण—सहचारी लूप और रस व्याप्त और व्यापक वृक्षत्व और शिशापात्र । सूत्र में सप्तमी विभक्ति के द्वारा विषय निर्दिष्ट है ।

क्रमभावनियम का विषय दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—पूर्व और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में क्रमभाव नियम होता है ॥ १४ ॥**

पूर्वचर और उत्तरचर कृतिकोदय-शकटोदय तथा कार्य-कारण धूम और अग्नि में क्रमभाव होता है ।

**शंका—**इस प्रकार के अविनाभाव का अवश्यक स्थान से ग्रहण नहीं होता है; वयोंकि उसका विषय सन्तिहित पदार्थ होता है । अनुमान से भी अविनाभाव का ग्रहण नहीं होता है । अनुमान से यदि अविनाभाव का ग्रहण हो तो प्रकृत अनुमान से अविनाभाव का ग्रहण होता है या अस्य अनुमान से ? यदि प्रकृत अनुमान से अविनाभाव का ग्रहण हो तो इतरेतराश्रय दोष

देरपि भिन्नविषयत्वेन सुप्रसिद्धत्वात् ततोऽपि तत्प्रतिपत्तिरित्यारेकायामाह—

**तक्तिस्तिनिर्णयः ॥ १५ ॥**

तर्कद्वयोऽप्तलक्षणाद्वारास्तिनिर्णय इति ।

अथेदानीं साध्यलक्षणमाह—

**इष्टमदाधितमसिद्धं साध्यम् ॥ १६ ॥**

अथपरे इष्टमदाधिते—अन्यत्र दाधित-भोगान् यत्तद्विवादेरपीष्टत्वात्तदपि साध्यमनुष्टयत् इति । तेऽप्यतिवालिशाः, अप्रस्तुतप्रलापित्वात् । अब हि साधन-भविक्रियते, तेन साधनविषयत्वेनेतिप्रिष्टमुच्यते ।

इदानीं स्वामिहितसाध्यलक्षणस्थ विचेषणानि सफलव्यवसिद्धविषेषणे समर्थ-प्रियमाह—

**सन्दिग्धविषयस्तात्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यावित्यसिद्धपदम् ॥ १७ ॥**

आता है। अविनाभाव का ज्ञान होने पर अनुमान आत्मलाभ करे और अनुमान के आत्मलाभ करने पर अविनाभाव का ज्ञान हो। यदि अन्य अनुमान से अविनाभाव का निश्चय हो तो उसके भी अविनाभाव का गहण अन्य अनुमान से होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा। आगमादि का भी भिन्न विषय सुप्रसिद्ध ही है, उससे भी अविनाभाव का ज्ञान नहीं होगा। इस प्रकार की शंका होने पर कहते हैं—

**सूत्रार्थ—तर्क से अविनाभाव का निर्णय होता है ॥ १५ ॥**

जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है, ऐसे कह या तर्क से अविनाभाव का निर्णय होता है।

अब साध्य का लक्षण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—इष्ट, अबाधित और असिद्ध पदार्थ को साध्य कहते हैं ॥ १६ ॥**

साध्य के लक्षण में नीत्याधिक दृष्टिं देते हैं—आसन, शयन, भोजन, यान, मैथुनादिक भी इष्ट हैं अतः उनके भी साध्यपने का प्रसंग आता है? ऐसा कहने वाले भी अत्यन्त मूर्ख हैं; कर्त्ताकि वे अप्रस्तुतप्रलापी हैं। यहाँ पर साधन का अधिकार है। अतः साधन के विषय रूप से इच्छित वस्तु को ही इष्ट कहा गया है।

अब अपने द्वारा कहे हुए साध्य के लक्षण के विशेषणों की सफलता बतलाते हुए असिद्ध विषेषण का समर्थन करने के लिए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—संदिग्ध, विषयस्त और अव्युत्पन्न पदार्थों के साध्यत्व जिस प्रकार से ही, अतः साध्य के लक्षण में असिद्ध पद दिया है ॥ १७ ॥**

तत्र सन्दिग्धं स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यनक्षारणेनोभयकोटिपरमार्थिसंशयाकलित्  
वस्तु उच्यते । विषयस्तं तु विषरेतावभासिविषयेयामनविषयमूलं रजतादिः ।  
अव्युत्पन्नं तु नामजातिसंख्यादिविशेषायरिजानेनानिर्णीतविषयानव्यवसायप्राह्लम् ।  
एतां साध्यत्वादित्यादनायं समिद्विषयादानविषयर्थः ।

अनुनेष्टावाचितविशेषाद्यवस्था माफल्य दर्शयन्नाह—

**अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं ना भूदितीष्टावाधित-**

**वस्तुनम् ॥ १८ ॥**

अनिष्टो भीमासकस्यानित्यः शब्दः, प्रत्यक्षादिकाचित्तव्याश्वावण्ट्यादिः ।  
आदिशब्देनानुसानानामलोक इति अनुवाचितानां ग्रहणम् । ततु दाहरणं चाकिञ्चन-

यह ठूँठ है, या पुरुष है, इस प्रकार कुछ भी निष्कर्ष न होने से  
उभयकोटि का परामर्श करने वाली संशय से युक्त वस्तु संदिग्ध कहलाती  
है । विषरीत वस्तु का निष्कर्ष करने वाले किष्यव्य ज्ञान के विषयमूल  
( सीप में ) चादो आदि पदार्थ विषयस्त हैं । अव्युत्पन्न से नाम, जाति,  
संख्या आदि क्षम् विशेष परिज्ञान न होने से अनिर्णीत विषय वाले  
अनध्यवसाय ज्ञान से ग्राह्य पदार्थ की अव्युत्पन्न कहते हैं । सन्दिग्धादि  
के साध्यत्व के प्रतिरादन करने के लिए असिद्ध घद का ग्रहण  
किया है ।

अब इष्ट और अवाधित दो विशेषणों की सफलता को दिखलाते हुए  
कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—अनिष्ट और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पदार्थों के साध्य-**  
**पना न माना जाय, इसलिए इष्ट और अवाधित दो विशेषणों का ग्रहण**  
**किया है ॥ १८ ॥**

भीमासक के लिए शब्द को अनित्य कहना अनिष्ट है । शब्द को  
अश्वावण कहना प्रत्यक्षादि से बाधित है । आदि शब्द से अनुसान बाधित  
( शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कृतक है, घट के समान ), आगम  
बाधित ( धर्म परलोक में सुखप्रद नहीं है; क्योंकि पुरुष के आश्रित है,  
अधर्म के समान ), लोक बाधित ( मनुष्य का शिरकपाल पवित्र है;  
क्योंकि वह प्राणी का अंग है, शांख और सीप के समान ), स्वकर्त्ता बाधित  
( मेरी माता बन्ध्या है; क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर गर्भ धारण नहीं  
करती है, जैसे प्रसिद्ध बन्ध्या ) का ग्रहण होता है । इनके उदाहरण-

स्वरहस्य हेत्वाभासस्य निरूपणाबसरे स्वयमेव गत्यकारः प्रपञ्चशिष्यतीत्युपरम्यते ।

तथासिद्धपदं प्रतिवाद्यपेक्षयैव, इष्टपदं तु वाचपेक्षयैति विशेषमुग्रदर्थाच्चित्तुमाह—

### न असिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥ १९ ॥

अथधर्थः—न हि सर्वं सविषेषया विशेषणम्, अपि तु किञ्चित् कमच्चुदिदद्य अवलोति । असिद्धवदिति व्यतिरेकमुख्येनोदाहरणम् । यथा—असिद्धं प्रतिवाद्यपेक्षया, न तथेष्टभिस्थर्थः ।

कुत एतदित्याह—

### प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥ २० ॥

इच्छायाः कुलु विषयीकुतमिष्टमुच्यते । प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेवेति ।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के निरूपण के अवसर पर स्वर्य ही गत्यकार विस्तार से कहेंगे, अस्तः विवाद लेते हैं ।

तीनों के मध्य में असिद्ध पद प्रतिवादी की अपेक्षा ही ग्रहण किया है, इष्ट पद वादी की अपेक्षा ग्रहण किया है, ऐसा भैद प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—असिद्ध के समान इष्ट विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से नहीं है ॥ १९ ॥

यह अर्थ है—सभी विशेषण सभी की अपेक्षा से नहीं होते हैं, अपितु कोई विशेषण किसी की अपेक्षा होता है और कोई किसी की अपेक्षा होता है अर्थात् कोई विशेषण वादी की अपेक्षा होता है, कोई प्रतिवादी की अपेक्षा से होता है । 'असिद्ध के समान' यह व्यतिरेक मुख से उदाहरण दिया गया है । जैसे असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा कहा गया, वह उस प्रकार से इष्ट नहीं है अर्थात् असिद्ध विशेषण वादी की अपेक्षा कहा गया है ।

यह क्यों ? इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—दूसरे को प्रतिबोधित करने के लिए इच्छा वक्ता की ही होती है ॥ २० ॥

इच्छा का विषयभूत पदार्थ इष्ट कहलाता है । दूसरों को प्रतिबोधित करने की इच्छा वक्ता की ही होती है ।

तत्त्व साध्यं धर्मः किं वा तद्विशिष्टो धर्मस्ति प्रश्ने सद्गुरुवं दर्शयन्नाह—

**साध्यं धर्मः ब्रह्मित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥ २१ ॥**

सोपस्काराणि थाकथानि भवति । हतोऽयमर्थो लभ्यते—व्याप्तिकालप्रेक्षया तु साध्यं धर्मः । ब्रह्मित्तप्रयोगकालप्रेक्षया तु तद्विशिष्टो धर्मी गत्यः ।

अस्यैव धर्मिणो नामान्वरपाह—

**पक्ष इति यावत् ॥ २२ ॥**

तनु धर्म-धर्मिसमुदायः पक्ष इति पक्षस्वरूपस्य पूरातन्मिलपितत्वाद्विशिष्ट-  
द्वचने कर्त्त न राहान्त्विरोध इति ? नैवम्; साध्यवर्मविवारतया विशेषितस्य  
पर्मिणः पक्षत्ववचनेऽपि दोषान्वकाशात् । रचनाद्विचित्रप्रमाणेण तात्पर्यस्यानिरा-  
कुलत्वात् सिद्धान्ताविरोधात् ।

अत्राहुं सौभाग्यः—भवतु नाम धर्मी पक्षधर्मपदेशमत्तकः; तथापि सविकल्पवृद्धिं परिवर्त्तमान एव, न वास्तवः । सर्वं एवानुभावानुमेयव्यवहारो वृद्धधारणेन धर्म-

बहु साध्य क्या धर्म होता है अथवा धर्म विशिष्ट धर्मी, ऐसा प्रश्न होने पर उसका भेद दिखाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—कहीं पर धर्म साध्य होता है और कहीं पर धर्म विशिष्ट धर्मी ॥ २१ ॥

वाक्य अध्याहार सहित होते हैं । अतः यह अर्थं प्राप्त होता है—  
व्याप्तिकाल की अपेक्षा तो साध्य धर्म होता है । कहीं पर प्रयोगकाल की  
अपेक्षा धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य होता है ।

इसी धर्मी का दूसरा नाम कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस धर्मी को पक्ष कहते हैं ॥ २२ ॥

शङ्का—धर्म और धर्मी के समुदाय को पक्ष कहते हैं, ऐसा पक्ष का स्वरूप अकलंक देवादि ने निरूपित किया है । धर्मी को ही पक्ष कहने पर सिद्धान्त से विरोध कैसे नहीं होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि साध्यधर्म के आधार से विशेषित धर्मी को पक्ष कहने पर भी दोष का अवकाश नहीं है । धर्म-  
धर्मी समुदाय पक्ष है, इस प्रकार रचना के वैचित्र्य मात्र से ही तात्पर्य का निराकरण नहीं किए जाने से सिद्धान्त का विरोध नहीं आता है ।

बौद्ध—धर्मी पक्ष नाम को भले ही पाये, तथापि सविकल्पवृद्धि से ही वर्तमान है, वास्तविक नहीं । ( जैसे—केशोण्डुक जान ) । समस्त ही अनु-  
मान-अनुमेय का व्यवहार विकल्पवृद्धि से गृहीत धर्म-धर्मी के व्याय से होता

धर्मिन्यायेन न वहि: सद्गुरुपरेकते इत्याभिधामादिति तन्निरासार्थमाह—

### प्रसिद्धो धर्मी ॥ २३ ॥

अथमर्थः—मैर्य विकल्पबुद्धिर्विवरन्तर्विनासादितालभ्वनभावा धर्मिणं व्यवस्थापयति, तदेवासत्त्वत्वेन तद्वाधारसाध्यन्माध्यनयोरपि वास्तवत्वानुपर्यस्तवद्वलुधेऽपारम्येणापि वस्तुव्यवस्थानिवृथनव्याप्तेगात् । ततो विकल्पेनान्येन वा व्यवस्थापितः पर्वतादिविषयभावं भजनेत्र धर्मितो प्रतिपद्धत इति स्थितं प्रसिद्धो धर्मीति । तत्परिद्विवक्तव्यं कवचित्विकल्पः कवचित्प्रमाणतः कवचिच्छोभयत इति नैकान्तेन विकल्पारुद्धस्य प्रमाणप्रसिद्धस्य वा धर्मित्वम् ।

तनु धर्मिणो विकल्पात्प्रतिपत्तौ कि तत्र साध्यमित्यामाङ्कायाभाह—

### विकल्पसिद्धौ तदितन् सत्तेतरे शाश्वते ॥ २४ ॥

है, वह आहा सत् वा असत् की अपेक्षा नहीं करता है, ऐसा कहा गया है ।

उपर्युक्त मत के निराकरण के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मी प्रसिद्ध होता है ॥ २३ ॥

इसका अर्थ यह है—विषयभाव को प्राप्त किए बिना यह विकल्पबुद्धि धर्मी को व्यवस्थापित नहीं करती है; क्योंकि उस धर्मी के ज्ञानसंविक होने से, उसके आधारभूत साध्य और साधन के भी वास्तविकता नहीं बन सकती है, इसलिए अनुमान बुद्धि के परम्परा से ( धूम सामान्य से अग्नि सामान्य, उससे धूम विकल्प, उससे अग्नि का विकल्प, अनन्तर धूम स्वलक्षण, उससे अग्नि स्वलक्षण का निश्चय होता है, इस प्रकार परम्परा से वस्तु व्यवस्था के कारणपैकी का अयोग है । अनन्तर विकल्पबुद्धि से अथवा अन्य प्रमाण से निर्णीत पर्वतादिविषय भावको स्वीकार करते हुए ही धर्मीपैकी को प्राप्त हो सकता है, इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि धर्मी प्रसिद्ध होता है । उसकी प्रसिद्धि कहीं विकल्प से, कहीं प्रमाण, कहीं विकल्प और प्रमाण से होती है । इस प्रकार यह कोई एकान्त नहीं है कि केवल विकल्प से गृहीत अथवा प्रमाण से प्रसिद्ध पदार्थ के धर्मीपैका ही ।

भाटू—धर्मी की विकल्प से प्रतिपत्ति मानने पर वहीं साध्य क्या है ? भाटू की ऐसी आवांका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस विकल्प सिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं ॥ २४ ॥

तस्मिन् धर्मिणि विकल्पसिद्धे सत्ता च तदपेक्षयेतशास्त्रात् च ते द्वेष्टि साध्ये;  
सुनिर्णीतासम्भवद्वाधकप्रमाणवलेन धोग्यानुपलब्धिवलेन चेति शीघ्रः ।

अशोदाहरणमाह—

### अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ॥ २५ ॥

सूतम् ।

ननु धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्मणामसिद्धविहृतमैकान्तिकस्वाद-  
नुमानविषयत्वाद्योगात् कथं सत्तेतरयोः साध्यत्वम् ? तदुक्तम्

असिद्धो भावधर्मेचेद् व्यभिचार्युभयान्तिः ।

विरुद्धो धर्मेऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥ २६ ॥ इति

तदयुक्तम्; मानेतप्रत्यक्षो भावस्यस्वीकृ धर्मिणः प्रतिपानत्वहृत् । न च तसिद्धो  
तत्साध्यस्यापि प्रतिरॉनत्वात् अर्थमनुपातम्; तदभ्युपेतमपि वैद्यात्याद्या परो

उस धर्मी के विकल्प सिद्ध होने पर सत्ता और उसकी अपेक्षा दूसरी  
असत्ता पे दोनों ही साध्य हैं। सुनिर्दिष्ट वसम्भव बाधक प्रमाण के बल  
से सत्ता साध्य है और योग्य की अनुपलब्धि के बल से असत्ता साध्य है।

यहाँ पर उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—सर्वज्ञ है, खरविषाण ( गधे का सींग ) नहीं है ॥ २५ ॥

यह सूत्र सुगम है।

मीमांसक—जिसकी सत्ता असिद्ध है ऐसे धर्मी के होने पर भाव और  
अभाव उभय धर्मी के असिद्ध, विशद्ध और अनेकान्तिकपने के कारण  
अनुमान के विषयपने का योग न होने सत्ता और असत्ता में साध्यपना  
कैसे है ? जैसा कि कहा गया है।

इत्योकार्थ—सुनिर्दिष्टतासम्भव बाधक प्रमाणत्व हेतु सर्वज्ञ का भावरूप  
धर्म है तो सर्वज्ञ के समान हेतु भी असिद्ध है। ( कीन व्यक्ति ऐसा होगा  
जो सर्वज्ञ के भावरूप धर्म को छुच्छा करता हुआ सर्वज्ञ को ही न चाहे ) ।  
यदि अभावरूप धर्म है तो वह विशद्ध है। ( क्योंकि सर्वज्ञ के अभावरूप  
धर्म में सर्वज्ञ की ही सिद्धि होगी ) । हेतु यदि सर्वज्ञ का  
भाव और अभावरूप धर्म है तो व्यभिचारो हेतु है; ( क्योंकि सप्तक  
और विषक में विद्यमान है ) वह सर्वज्ञ की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकता  
है ॥ २६ ॥

जीन—आपका यह कहना अयुक्त है; क्योंकि मानस प्रत्यक्ष में भाव-  
रूप ही धर्मी ( सर्वज्ञ ) प्रसिद्ध है। ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि सर्वज्ञ  
की सिद्धि होने पर उसका सत्त्वरूप धर्म भी प्रसिद्ध होगा; अतः अनुमान

न प्रतिपद्धते तदाऽनुमानात् साकल्यात् । न च मानसज्ञानाद् गगनकुसुमदेवरपि  
सद्भावसम्पादनात्तोऽतिप्रसङ्गः तज्ज्ञानस्य दार्शकप्रत्ययं अपाकृतसत्ताकवस्तुविषयं  
तथा मानसप्रत्यक्षाभासत्वात् । कर्थं तहि तुरगश्चाद्वैधमित्वमिति न चोद्यम्;  
धमित्रयोगकाले वाचकप्रत्ययानुदयात् सद्भावनोपपत्तेः । न च सर्वज्ञादी साधक-  
प्रमाणसंख्येन सत्त्वं प्रति संशीतिः, सुनिश्चितासमनुद्वाधकप्रमाणत्वेन सुखादाविव  
सत्त्वनिश्चयात्र संबोधयोगात् ।

इदानी प्रमाणोभयसिद्धे धमिति कि साध्यमित्याशङ्कायामाह—

### प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यवर्मितिशिष्टता ॥ २६ ॥

‘साध्ये’ इतिशब्दः प्राक् द्विवचनान्तोऽप्यर्थवान्देवकवचनान्तितया समर्थते  
प्रमाणं चोद्यम् एव विकल्पप्रमाणवृद्धयम्, साध्या सिद्धे धमिति साध्यवर्मितिशिष्टता

व्यर्थ है । स्वीकृत भी सर्वज्ञका सद्भाव धूष्टता के कारण का सर्वज्ञ का  
अभाववादी यदि स्वीकार नहीं करता है, तब अनुमान की सार्थकता है  
ही । मानस ज्ञान से आकाश कुसुमादि की सम्भावना है और उसके मानने  
पर अतिप्रसंग दोष होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते । क्योंकि आकाश  
कुसुम का ज्ञान बाधक प्रतीति से निराकृत कर दी गयी है सत्ता जिसकी  
ऐसी वस्तु को विषय करने से मानस प्रत्यक्षाभास है ।

शङ्का—तो घोड़े के सींग आदि के धर्मीपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिए । धर्मी के प्रयोग काल  
में बाधक प्रतीति के उदय न होने से घोड़े के सींग के सत्त्व की सम्भावना  
बन जाती है ।

सर्वज्ञ आदि में साधक प्रमाण न होने उसकी सत्ता के विषय में संशय  
है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुनिश्चित असम्भव बाधक प्रमाण होने  
से सुखादि के समान सत्त्व का निवृप्त होने से सर्वज्ञ के अस्तित्व में संशय  
का योग नहीं है ।

इस समय प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य क्या है ? ऐसी  
आशंका होने पर कहते हैं—

सत्रार्थ—प्रमाण सिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य धर्म से विश-  
िष्टता होती है ॥ २६ ॥

‘साध्ये’ यह शब्द पहले द्विवचनान्त होते हुए भी अर्थ के बाहर से एक-  
वचनान्त के रूप से सम्बद्ध किया गया है । प्रमाण और उभय अर्थात्  
विकल्प और प्रमाण इन दोनों से सिद्ध धर्मी में साध्यधर्म विशिष्टता

साध्या । अयर्थः—प्रमाणप्रतिपन्नमपि वस्तु विशिष्टस्मचिरस्या विवादपदमारो-  
हूतोति साध्यता नातिवर्तत हति । एवमुभयसिद्धेऽपि योज्यम् ।

प्रमाणीभयसिद्धं धर्मिहर्यं क्रमेण दर्शयन्नाह—

अग्निमानयं देशः परिणामो शब्द हति यथा ॥ २७ ॥

देशो हि प्रत्यक्षेण सिद्धः, धर्मस्तूभयसिद्धः । न हि प्रत्यक्षेणादीर्घ्यमिरसि-  
यतदिवदेषकालात्मचिक्लाः सर्वे शब्दा निश्चेतुं पार्थिन्ते । सर्वशिशमस्तु तन्मिद्यत्येऽपि  
तं प्रत्यनुभानानर्थक्षात् ।

प्रयोगकालपेश्या धर्मविशिष्टस्मिन्दः साध्यत्वमनिधाय व्याप्तिकालपेश्या  
साध्यनियमं दर्शयन्नाह—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥ २८ ॥

सुगमम् ।

साध्य है । इसका अर्थ यह है—प्रमाण से जानी वही भी ( पर्वतादि ) वस्तु  
विशिष्ट धर्म का आधार होने से विवाद का विषय ही जाती है, साध्यता  
का उल्लंघन नहीं करती है । इस प्रकार उभयसिद्ध में भी योजना करनी  
चाहिए ।

प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध दोनों धर्मियों के क्रम को दिखलाते हुए  
कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे यह प्रदेश अग्नि वाला है और शब्द परिणामी है ॥ २७ ॥

प्रदेश प्रत्यक्ष से सिद्ध है, शब्द उभयसिद्ध है । प्रत्यक्ष से अल्पतर  
पुष्ट अनियत दिग्देशकालकर्ता समस्त शब्द निश्चित करना सम्भव नहीं  
है । सर्वदर्शी के अनियत दिग्देश-कालकर्ता शब्दों के निश्चय होने पर भी  
उसके ( सर्वज्ञ के ) लिए अनुभान का प्रयोग निरर्थक है ।

अनुभान प्रयोग काल की अपेक्षा से धर्म विशिष्ट धर्मों के साध्यपने  
का कथन करके व्याप्ति काल की अपेक्षा साध्य नियम नियम को दिखलाते  
हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्याप्तिकाल में तो धर्म ही साध्य होता है ॥ २८ ॥

विशेष—जहाँ-जहाँ धर्म होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, इस  
प्रकार व्याप्ति होने पर प्रयोग काल में धर्म ही साध्य होता है, व्याप्ति  
के समय धर्मों साध्य नहीं होता है । अग्नि ही साध्य होती है, अग्नि-  
विशिष्ट पर्वत नहीं ।

यह सूत्र सुगम है ।

धर्मिणोऽपि साध्यत्वे को दोष इत्यनाह—

### अन्यथा तदधटनात् ॥ २९ ॥

तत्त्वविपर्ययेऽन्यथाषाढः । धर्मिणः साध्यत्वे तदधटनात् अग्रस्यधटनादिति हेतुः । न हि धूमदर्शनात्सर्वं पर्वतोऽभिमानिति व्याप्तिः शक्या कर्तुम्; प्रमाणविरोधात् । तस्मु अनुमाने पक्षप्रयोगसम्भवत्त् प्राप्तेष्वै धर्मिण्यादित्वा विवरणदुर्लभम्; तस्य सामर्थ्यलक्ष्यत्वात् । तथापि तद्वये पुनरुक्तताप्रसञ्चात् । अयदिवापन्नस्यापि पुनर्वर्षनं पुनरुक्तमित्यभिमानादिति सौम्यतस्त्राह—

### साध्यधर्माधारसम्बेदापनोदाय सम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥ ३० ॥

साध्यमैव धर्मस्तस्याधारस्त्र उन्देहो महामानादिः पर्वताधिर्विति । तस्याग्नीदो

धर्मी के भी साध्य होने पर क्या दोष है, इसके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—अन्यथा व्याप्ति धटित नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

विशेष—व्याप्ति में धर्मी के भी साध्य होने पर व्याप्ति बन नहीं सकती है। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि वाला पर्वत है, ऐसी व्याप्ति करना सम्भव नहीं है, प्रत्यक्ष से विरोध आता है, अनुमान भी असम्भव होता है। व्याप्ति में साध्यविशिष्ट धर्मी को साध्य बनाने से हेतु के प्रति अन्यथा की असिद्धि होती है।

सूत्र में अन्यथा पाद ऊपर कहे गये अर्थ के विपरीत अर्थ में कहा गया है। धर्मी को साध्य बनाने पर व्याप्ति नहीं बनती है, यह हेतु है। धुएँ के देखने से सब जगह पर्वत अग्नि वाला है, इस प्रकार की व्याप्ति करना सम्भव नहीं है; कथोंकि ( साध्य साधन भाव के असम्भव होने से ) प्रमाण से विरोध आता है।

बौद्ध—अनुमान में पक्ष प्रयोग के असम्भव होने से धर्मी प्रसिद्ध होता है, यह वचन अयुक्त है, पक्ष तो हेतु के सामर्थ्य से ही जाना जाता है—साध्य-साधन की सामर्थ्य से प्राप्त होता है; सामर्थ्य से जानकारी होने पर भी पक्ष का कथन करने पर पुनरुक्त दोष आता है। अर्थ से प्राप्त होने वाले पदार्थ के पुनः कहने को पुनरुक्त कहते हैं। इस प्रकार कहा गया है।

इसके उत्तर में जैनों का कहना है—

सूत्रार्थ—साध्यधर्म के आधार में उत्पन्न हुए सन्देह को दूर करने के लिए गम्यमान भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है ॥ ३० ॥

साध्य ही धर्म है, उसका आधार ( पक्ष ), उसमें यदि सन्देह हो कि

व्यवच्छेष्टस्तदर्थं गम्यमानस्यापि साध्यसाधनयोद्यतिव्यापकभावप्रदर्शनः अथानुपत्ते-  
स्तदाधारस्य गम्यमानलाभिं पूजाय वचनं दायेतः ।

अश्रोद्धाहरणमाहुः—

### साध्यधर्मिणि साधनधर्मादबोधनाय पक्षवर्त्मीपसंहारवत् ॥ ३८ ॥

साध्येन विशिष्टो धर्मी पर्वतादित्वं साधनधर्मविवीधनाय पक्षवर्त्मीपसंहारवत्  
पक्षवर्त्मस्य हेतुप्रभंहार उपनयस्तद्वदिति । अदर्थः—साध्यव्याप्तसाधनप्रदर्शनेन  
तदाधारादगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थं यस्तोपनयस्तया साध्यस्य विशि-  
ष्टधर्मिसम्बन्धितावबोधनाय पक्षवर्त्मीपति । किञ्च—हेतुप्रयोगेऽपि समर्थनमवद्ये  
वक्तव्यम्; असमर्थितस्य हेतुत्वाद्योगात् । तथा च समर्थनोपन्धारादेव हेतुः सामर्थ्य-  
सिद्धलाद्येतुप्रयोगोऽनयंकः स्यात् । हेतुप्रयोगाभावे कस्य समर्थनमिति चेत् पक्ष-

इस साध्य रूप धर्म का आधार यही रसोद्धिर आदि है या पर्वत है उसका  
अपनोद्धव्यवच्छेद करने के लिए गम्यमान भी यदि पक्ष का प्रयोग न  
किया जाय तो साध्य-साधन के व्याप्त-व्यापक भाव रूप सम्बन्ध का  
प्रदर्शन अन्यथा नहीं बन सकता । अतः हेतु की सामर्थ्य से ज्ञात होने  
वाले पक्ष का प्रयोग करना ही चाहिए ।

यहीं पर उदाहरण कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—** जैसे साध्य से युक्त धर्मी में साधनधर्म के ज्ञान करने के  
लिए पक्ष धर्म के उपसंहार रूप उपनय का प्रयोग किया जाता है ॥ ३८ ॥

साध्य से विशिष्ट जो धर्मी पर्वतादिक, उसमें साधन धर्म का ज्ञान  
करने के लिए पक्ष धर्म के उपसंहार के समान पक्ष धर्म जो हेतु उसके  
उपसंहार को उपनय कहते हैं—उसके समान ( उसी प्रकार यह चूमवान्  
है ) । यह अर्थ है—साध्य के साथ व्याप्त साधन के प्रदर्शन से उसके  
आधार के अवगत हो जाने पर भी नियत धर्मी के साथ सम्बन्धपना  
बतलाने के लिए जैसे उपनय का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य  
का विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए जैसे उपनय  
आवश्यक है, उसी प्रकार साध्य का विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्धपना  
बतलाने के लिए पक्ष का वचन भी आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि  
हेतु का प्रयोग करने पर भी समर्थन अवश्य करना चाहिए; क्योंकि  
असमर्थित हेतु नहीं हो सकता । ऐसा होने पर जब समर्थन के कथन से  
ही हेतु सामर्थ्य सिद्ध है, फिर हेतु का प्रयोग करना अनर्थक है । हे बीद  
यदि आप ऐसा कहते हैं कि हेतु के प्रयोग के अभाव में किसका समर्थन

प्रथोगभावे वा हेतुवर्तीतमिति समानमेतत् । तस्मात्कायेहत्याबासुपलमभेदेन पक्षाद्यमंत्यादिभेदेन च चित्ता हेतुमूक्त्या समर्थयसानेन पक्षप्रयोगोऽप्यभ्युपगमत्य एवंति ।

अमुमेवार्थमाह—

**कां खा श्रिष्ठा हेतुभुक्त्या समर्थयन्नन्नम् ॥ न पद्धतिः ॥ ३२ ॥**

को वा वादी प्रतिवादी वेत्यर्थः । किलार्थे वा शब्दः । युक्त्या पक्षप्रयोगस्यां विषयमभावे कः किल न पक्षयति, पक्षं न करोति ? अपि तु करोत्येव । कि हेतु ? हेतुभुक्त्यव, न पुनरनुव्यत्यर्थः । समर्थव हि हेतोरसिद्धत्वादिदोषपरिहारेण स्वसाध्य-साधन-सामर्थ्य-प्रकृणेणप्रयोगं वचनम् । तत्त्वं हेतुप्रयोगोत्तरकालं परेणां जीकृतमित्युक्त्वेति वचनम् ।

ननु भवतु पक्षप्रयोगस्यत्वापि पक्षहेतुष्टानमेवेन अवयवमनुभावमिति साकृत्यः । प्रतिशाहेतुशाहरणोपनयमेवेन चतुरवयवमिति मीमांसकः । प्रसिद्धाहेतु-

होगा ? तो हमारा कहना है कि पक्ष के प्रयोग के अभाव में हेतु की प्रवृत्ति कहीं होगी ? दोनों जगह समानता है । इसलिए कार्य, स्वभाव और अनुपलमभ के भेद से तथा पक्षधर्मंत्यादि के भेद से तीन प्रकार का हेतु कहकर समर्थन करनेवाले बौद्ध को पक्ष का प्रयोग स्वीकार करना ही चाहिए ।

बब आचार्य इसी उपर्युक्त अर्थ को उनका उपहास करते हुए कहते हैं—

**सुआर्थं—ऐसा कौन है, जो कि तीन प्रकार के हेतु को कह करके उसका समर्थन करता हुआ भी पक्ष प्रयोग न करे ॥ ३२ ॥**

कौन ऐसा ( लौकिक या परीक्षक ) वादी या प्रतिवादी है ? निश्चय के अर्थ में वा शब्द है । युक्ति से पक्ष का प्रयोग अवश्यमभावी हीने पर कौन पक्ष का प्रयोग नहीं करता है ? अपितु करता ही है । क्या करते ? हेतु का कथन करके ही, कथन न करके नहीं, यह अर्थ है । हेतु के असिद्धत्व आदि दोषों का परिहार करके अपने साध्य के साधन करने की सामर्थ्य के प्रकटीकरण में समर्थ वचन को समर्थन कहते हैं । वह समर्थन हेतु प्रयोग के उत्तर काल में बौद्धों ने स्वीकार किया है । अतः ‘उत्तरत्वा’ यह वचन सूत्र में कहा है ।

सांख्य का कहना है कि पक्ष का प्रयोग होने, तथापि पक्ष, हेतु एवं दृष्टान्त के भेद से अनुभाव के तीन अवयव होना चाहिए । मीमांसक

द्वाहरणोपत्तयनिगमनभेदात्पञ्चावयवमिति योगः । तत्सातम्याकुर्वन् स्वमतसिद्धमवय-  
वठयमेवोपदर्शयन्नाह—

### एतद्वद्यमेवानुभानाङ्गं नोदाहरणम् ॥ ३३ ॥

एतमोः पक्षहेत्वोर्ध्यमेव नालिरिक्तमित्यर्थः । एवकारेणीवादाहरणाद्विव्यवच्छेदे  
सिद्धेऽपि परमतनिरासार्थं पुनर्नीदाहरणमित्युक्तम् ।

तथि कि साध्यप्रतिपत्त्यर्थमुत्स्वद् हेत्वोरविनाभावमियमार्यमाहोस्मिद् व्याप्ति-  
स्मरणार्थमिति विकल्पान् क्रमेण दूषयन्नाह—

### न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यर्थं तत्र यथोक्तहेत्वोरेव व्यापारात् ॥ ३४ ॥

तदुदाहरणं साध्यप्रतिपत्तेर्थं कारणं मेति सम्बन्धः । तत्र साध्यप्रतिपत्तौ  
यथोक्तस्य साध्यविनाभावित्वेन निश्चितस्य हेत्वोर्ध्यापारादिति ।

कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय के भेद से अनुभान के  
बार अवयव होना चाहिए । योगों का कहना है कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदा-  
हरण, उपनय और नियमन के भेद से अनुभान के पांच अवयव होने  
चाहिए । उमके मत का निराकरण करते हुए स्वमतसिद्ध दो अवयव हो  
दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुभान के अंग हैं, उदाहरणादि  
नहीं ॥ ३३ ॥

पक्ष और हेतु ये दोनों ही अनुभान के अंग हैं । इससे अधिक नहीं,  
यह अर्थ है । एवकार से ही उदाहरणादि का व्यवच्छेद सिद्ध होने पर भी  
दूसरे के मत का निराकरण करने के लिए 'उदाहरणादि' नहीं, ऐसा  
कहा है ।

वह उदाहरण क्या साध्य के ज्ञात के लिए है या हेतु के अविनाभाव  
के नियम के लिए है या व्याप्ति के स्मरण के लिए है । इस प्रकार  
के विकल्पों को क्रम से दूषित करते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**वह उदाहरण साध्य की जानकारी का अंग नहीं है, साध्य  
के परिज्ञान में साध्य के प्रति जिसका अविनाभाव सम्बन्ध है ऐसे निश्चित  
हेतु का ही व्यापार होता है ॥ ३४ ॥

वह उदाहरण साध्य के परिज्ञान का अंग—कारण नहीं है, इस प्रकार  
का सम्बन्ध घटित कर लेना चाहिए । उस साध्य के ज्ञान में यथोक्त  
साध्य के प्रति अविनाभाव सम्बन्ध है, ऐसे निश्चित हेतु का ही व्यापार  
होता है ।

द्वितीयविकल्पं शोधयन्तहु—  
तद्विनाभावनिश्चयार्थं चा विषक्षे बाधकादेव तत्त्विसद्गः ॥ ३५ ॥

उद्धिति [ अनु० ] वर्तते, वेति च । तेनायमर्थः—उदाहरणं तेन साम्बोध-  
विनाभावनिश्चयार्थं चा एव वर्तते ति; विषक्षे बाधकादेव तत्त्विसद्गः भावनिश्चय-  
सिद्धः ।

किञ्च—व्यक्तिरूपं निदर्शनं उल्कम् साक्ष्येन व्याप्तिं गमयेत् ? व्यक्तिरूपेण  
व्याप्त्यर्थं पुनरुदाहरणात्तरं मृग्यम् । तस्यापि व्यक्तिरूपस्वेन साम्बस्त्येन व्याप्तेव-  
भारपितुभवक्षयत्वादपरापरतदन्तरापेक्षायामनवस्था स्यात् ।

एतदेवाऽऽहु—

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि  
तद्विप्रतिपत्तादनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥ ३६ ॥

द्वितीय विकल्प अथवा हेतु का अविनाभाव नियम बतलाने के लिए  
उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है, इसका शोधन करते हुए कहा है—

सूत्रार्थ—यदि वह उदाहरण साध्य के साथ अविनाभाव के निश्चय के  
लिए ही हो तो विषक्ष में बाधक प्रमाण से ही अविनाभाव सिद्ध हो जाता  
है ॥ ३५ ॥

सूत्र में 'तत्' और 'न' इन दो पदों की अनुवृत्ति करना चाहिए।  
इससे यह अर्थ प्राप्त होता है—वह उदाहरण उस साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय करने के लिए भी कारण नहीं है; क्योंकि विषक्ष ( जलाशयादि में ) बाधक ( तर्क ) से ही उसकी सिद्धि हो जाती है, अतः  
अविनाभाव की निश्चित सिद्धि होती है ।

दूसरी बात यह है कि उदाहरण एक व्यक्तिरूप होता है, वह सर्व-  
देश, काल के उपसंहार से व्याप्ति का ज्ञान कैसे करतायेता ? अन्य विशेषों  
में व्याप्ति के अन्य उदाहरण खोज लेना चाहिए। अन्य उदाहरण भी  
व्यक्तिरूप होगा। अतः समस्त देश काल के उपसंहार से वह भी व्याप्ति  
का निश्चय करने के लिए असक्य होगा। इस प्रकार अन्य-अन्य उदा-  
हरणों की अपेक्षा करने पर अनवस्था दोष होता है। तात्पर्य यह कि व्याप्ति  
विषयक सन्देह को दूर करने के लिए यदि उदाहरण अन्वेषण करने योग्य  
है तो वहाँ भी सामान्य से व्याप्ति विषयक सन्देह को दूर करने के लिए  
अन्य उदाहरण होना चाहिए, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा ।

इसी बात को कहते हैं—

सूत्रार्थ—निदर्शन ( विशेष आधार वाला होने से ) विशेष रूप होता

तथापि उदाहरणेऽपि तदिप्राप्तं पत्तो सामान्यव्याप्तिविप्रतिपत्तावितर्यः । शेषं आस्यात् ।

तृतीय विकल्पे दूषणमाल—

**नापि व्याप्तिसमरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्समूलेः ॥ ३७ ॥**

मुहीतसम्बन्धस्य हेतुभृत्यनेतैव व्याप्तिसिद्धिः । अग्रहीतसम्बन्धस्य दृष्टान्तशते-  
नापि न तत्समरणम्; अनुभूतविषयत्वात्समरणस्येति भावः ।

तदेवमुदाहरणप्रयोगस्य साध्यार्थं प्रति वोपयोगित्वम्; प्रत्युत संशयहेतुत्वमेवेति वर्दयिति—

**तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाध्यने सन्वेद्यति ॥३८॥**

है। और व्याप्ति सामान्य से होती है। उदाहरण में भी व्याप्ति विषयक विवाद होने पर अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा अनवस्था दोष होता है। तात्पर्य यह है कि उदाहरण व्यक्ति रूप होता है, उस उदाहरण में स्थित व्याप्ति सामान्य रूप वाली होती है। अन्यत्र प्रदेश में ऐसी व्याप्ति होगी, इस विषय में जो सन्देह होता है, उसके निराकरण के लिए उदाहरण का कथन करना चाहिए। वहाँ पर भी सामान्य व्याप्ति का सद्भाव है। उसके परिहार के पुनः उदाहरण खीजिना चाहिए, इस प्रकार अनवस्था दोष होता है ॥३८॥

उस उदाहरण में भी सामान्य व्याप्ति में विवाद होने पर, यह अर्थ होता है। शेष की व्याप्ति ही हो चुकी है।

तृतीय विकल्प—व्याप्ति का स्मरण करने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है, इस विषय में दूषण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—व्याप्ति का स्मरण करने के लिए भी उदाहरण का प्रयोग आवश्यक नहीं है; क्योंकि साध्य के अविनाभावि हेतु के प्रयोग से ही व्याप्ति का स्मरण हो जाता है ॥ ३९ ॥**

जिसने साध्य के साथ साधन का सम्बन्ध प्रहृण किया है, ऐसे पुरुष को हेतु के दिखलाने से ही व्याप्ति की सिद्धि हो जायगी। जिसने सम्बन्ध को प्रहृण नहीं किया है (जो रसोईघर में केवल धूएं और अचिन के संबंध को जानता है, परन्तु जहाँ धूम है वहाँ अचिन है, इस प्रकार जिसके सम्बन्ध प्रहृण नहीं है) ऐसे व्यक्ति को सैकड़ों दृष्टान्तों से भी व्याप्ति का स्मरण नहीं होगा; क्योंकि स्मरण का विषय अनुभूत विषय है।

अतः इस प्रकार उदाहरण का प्रयोग साध्य के लिए उपयोगी नहीं है, अपितु संशय का ही हेतु है, इस बात को दिखलाते हैं—

**सूत्रार्थ—केवल उदाहरण का ही प्रयोग किया जाय तो कह साध्य**

तदुदाहरणं परं केवलमभिधीयमाने साध्यविशिष्टे धर्मिणि  
साध्यसाधने सन्देहयति सन्देहती करोति । दृष्टान्तधर्मिणि साध्यव्याप्तसाधनोप-  
दर्शनेऽपि साध्यविशिष्टे तन्मर्त्यस्य कर्तुं मत्वाक्षत्वादिति शेषः ।

अमुमेवार्थं व्यतिरेकमुख्ये नमर्थयमानः प्राह—

### कुलोऽन्यथोपनयनिगमने ॥३९॥

अन्यथा संशयहेतुत्वाभावे कस्माद्देतोरपनयनिगमने प्रयुज्येते ।

अपरः प्राह—उपनयनिगमनयोरप्यमुकात्ताङ्गस्वभेदः तत्प्रयोगे निरदकरसाध्य-  
संवित्तेरयोगादिति । तच्चिदेष्वार्थमाह—

**न च ते तदंगे; साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥४०॥**

ते उपनयनिगमनेऽपि वश्यभाषणलक्षणे सप्त्यानुमानस्याङ्गे न भवतः; साध्य-  
धर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवे त्येवकारणेण दृष्टान्तादिकमन्तरेष्यर्थः ।

धर्म जाले धर्मी में साध्य के सिद्ध करने में सन्देह करा देता है ॥३८॥

वह उदाहरण पर केवल कहा गया साध्य धर्मी में—साध्यविशिष्ट  
धर्मी में साध्य के साधन करने में सन्देह युक्त कर देता है । दृष्टान्त धर्मी  
( रसोईथर आदि में ) साध्य से व्याप्त साधन के विख्याने पर भी साध्य-  
धर्मी ( पर्वतादिक ) में साध्य व्याप्त साधन का गिरण्य करना सम्भव  
नहीं है ।

इसी अर्थ को व्यतिरेक मुख्य से समर्थन करते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थं—अन्यथा उपनय और निगमन का प्रयोग क्यों किया जाता ॥ ३९ ॥**

उदाहरण यदि साध्यविशिष्ट धर्मी में साध्य का साधन करने में सन्देह-  
युक्त न करता तो किस कारण उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाता ।

**पौग—**उपनय और निगमन भी अनुमान के अंग हैं, उनका प्रयोग न  
करने पर असदिग्द रूप से साध्य का ज्ञान नहीं हो सकता है ।

उक्त कथन का निषेध करने के लिए कहते हैं—

**सूत्रार्थं—**उपनय और निगमन अनुमान के अंग नहीं हैं, क्योंकि हेतु  
और साध्य के बीचने से ही संशय नहीं रहता है ॥ ४० ॥

जिनका लक्षण आगे कहा जा रहा है, वे उपनय और निगमन भी  
अनुमान के अंग नहीं हैं; क्योंकि साध्यधर्मी में हेतु और साध्य के बीचने  
से ही सन्देह नहीं रहता है । ‘एव’ पद से दृष्टान्तादिक के बिना—यह अर्थ  
ग्रहण करना चाहिए । ( दृष्टान्तादिक में आदि पद से उपनय और निगमन  
का ग्रहण होता है ) ।

किञ्चाभिवायापि दृष्टान्तादिकं समर्थनमवश्यं तत्त्वात्; असमर्थितस्या-  
हेतुवादिति । तदेव वरं हेतुरुपमनुभानावयवो वाऽस्तु; मात्र्यसिद्धौ तस्यैवोपयोगात् ।  
नोदाहरणादिकम् । एतदेवाऽऽह—

समर्थनं वा वरं हेतुरुपमनुभानावयवो वाऽस्तु; साध्ये तत्तु-  
पयोगात् ॥४१॥

प्रथमो वाक्यं एवकारार्थं । द्वितीयस्तु पक्षान्तरमूच्चने । तीर्थं सुखम् ।  
मनु दृष्टान्तादिकमन्तरेण मम्हतियामवयाप्येत्तुभवान्तरात् वा य द्वाहेतुरुपयोग-  
मानेण लेखा साध्यप्रतिपत्तिरिति ? सत्राह—

बालव्युत्पस्पर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्रं एवासौ,  
न बादेजनुपयोगात् ॥४२॥

बालानामलप्रजानो व्युत्पस्पर्थं लेपामुदाहरणादीनां श्रयोपगमे शास्त्रं एवासौ  
तस्योपगमो न वादे । न हि बादकाके शिष्या व्युत्पाद्याः, व्युत्पन्नानामेव तत्राद्धि-  
कारादिति ।

दूसरी बात यह है कि दृष्टान्तादि का कथन करके भी समर्थन अवश्य  
ही कहना चाहिए; क्योंकि जिस हेतु का समर्थन न हुआ हो, वह हेतु नहीं  
हो सकता है । इस प्रकार समर्थन ही हेतु का उत्तम रूप है । वही अनु-  
भान का अवयव हो; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसका ही उपयोग है ।  
उदाहरणादि को नहीं कहना चाहिए । इसी बात को कहते हैं—

सूत्रार्थ—समर्थन ही हेतु का व्याधर्थ रूप है, वही अनुभान का अवयव  
हो; क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसी का उपयोग होता है ॥ ४१ ॥

सूत्र में प्रयुक्त प्रथम वा शब्द एवकार के अर्थ में है । दूसरा 'वा'  
शब्द अन्य पक्ष की सूचना करता है । सूत्र का शेष अर्थ सुनाय है ।

**शङ्का**—दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन के बिना मन्दबुद्धि बालों को  
बोधित करना सम्भव नहीं है । अतः पक्ष और हेतु के प्रयोग मात्र से उन्हें  
साध्य का ज्ञान कैसे हो जायगा ? इसके विवर में कहते हैं—

सूत्रार्थ—बालकों की व्युत्पत्ति के लिए उन तीनों के घान लेने पर  
शास्त्र में ही उनकी स्वीकृति है, बाद में नहीं, क्योंकि बाद में उनका  
उपयोग नहीं है ॥ ४२ ॥

बालकों को—अल्प बुद्धि बालों की व्युत्पत्ति के लिए उन उदाहरण,  
उपनय और निगमन अवयवों के स्वीकार कर लेने पर शास्त्र में ही उनका  
उपयोग है, बाद में नहीं । बाद के समय शिष्यों को समझाया नहीं जाता

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्वयोपगमं हत्यादिना शास्त्रेऽन्युपगतमेवोदाहारणादित्यमुख्य-  
शर्यति—

**दृष्टान्तो द्वेषा—'अन्वय-व्यतिरेकभेदात् ॥४३॥**

दृष्टी अन्तौ साध्यसाधनलक्षणी धर्मी अन्वयमुखीन व्यतिरेकद्वारेण या यत्र स  
दृष्टान्तं हत्यास्थर्थसङ्काकरणात् । स द्वेषोपपश्चते—

तत्त्वान्वयदृष्टान्तं वर्णयन्नाह—

**साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रवद्यत्यसे सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥४४॥**

साध्येन व्याप्तं नियतं साधनं हेतुर्भव ददर्शते व्याप्तिपूर्वकतयेति भावः ।  
द्वितीयभेदमुपवश्यति—

**साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥४५॥**

असति असदभावो व्यतिरेकः । तत्त्वान्तो दृष्टान्तो व्यतिरेकदृष्टान्तः ।

है; क्योंकि बाद में तो व्युत्पन्न पुरुषों का ही अधिकार होता है ।

बाल व्युत्पत्ति के लिए उन तीनों को स्वीकार किया गया है, अतः शास्त्र में स्वीकृत उदाहरणादिक तीनों अवयवों का स्वरूप दिखलाते हैं—

**सूत्रार्थ—दृष्टान्त दो भावात् द्वा है—प्रथम दृष्टान्त और व्यतिरेक दृष्टान्त ॥४५॥**

जहाँ पर साध्य साधन लक्षण वाले दो धर्म अन्वय या व्यतिरेक रूप से देखे जाय, वह दृष्टान्त है, इस प्रकार की अर्थ का अनुसरण करने वाली संज्ञा जानना चाहिए । वह दृष्टान्त दो प्रकार का ही युक्त है ।

अन्वय दृष्टान्त की दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—साध्य के साथ जहाँ साधन की व्याप्ति दिखाई जाती है,  
वह अन्वय दृष्टान्त है ॥ ४५ ॥**

( जन्य, जनकादि भाव रूप ) साध्य से व्याप्त अविभाभाव से निश्चित साधन व्याप्ति पूर्वक जहाँ दिखलाया जाता है, यह भाव है । ( धूम और जल की व्याप्ति नहीं है; क्योंकि वही जन्य, जनक भाव नहीं है ) ।

दूसरे भेद को दिखलाते हैं—

**सूत्रार्थ—साध्य के अभाव में जहाँ साधन का अभाव कहा जाता है,  
वह व्यतिरेक दृष्टान्त है ॥ ४५ ॥**

साध्य के अभाव में साधन का अभाव व्यतिरेक है । व्यतिरेक प्रधान

१. हेतुसर्वे साध्यसर्वमन्वयः ।

२. साध्याभावे हेत्वभावो व्यतिरेकः ।

साध्याभावे साधनस्थाभाव एवेति साध्यारणं द्रष्टव्यम् ।

क्रमप्राप्तमूपनयस्यरूपं निरूपयति—

हेतोरूपसंहार उपनयः ॥४६॥

पक्षं इत्यध्याहारः । तथायश्च—हेतोः पक्षधर्मत्वोपसंहार उपनय इति ।

निगमनस्वरूपमूपनयश्चयति—

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥४७॥

उपसंहार इति [अनु-] वर्तते । प्रतिज्ञाया उपसंहारः साध्यधर्मविद्वान्त्वेन प्रदर्शीनं निगमनमित्यर्थः । मनु शास्त्रे दृष्टान्तादयो वनव्या एवेति नियमान-स्युपगमात्कर्त्त्वं तत्त्वयमिह सूरिभिः प्रपञ्चित्वमिति न चोदयम्; स्वयमनम्युपगमेऽपि प्रतिपाद्यानुरोधेन विनभतानुभारिभिः प्रयोगपरिपाठ्याः प्रतिपन्नत्वात् । साध्याभावाततत्त्वरूपैः कर्तुं न शक्यत इति तत्त्वरूपमपि शास्त्रेऽपि विवातत्त्वमेवेति ।

दृष्टान्त व्यतिरेक दृष्टान्त है । साध्य के अभाव में साधन का अभाव हो ही, इस प्रकार एककार यहीं जानना चाहिये ।

क्रम प्राप्त उपनय के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

**सूचार्थ—**हेतु<sup>१२५</sup> उपसंहार को उपनय कहते हैं ॥ ४६ ॥

( साध्य के साथ अविनाभाव से विशिष्ट साध्यधर्मी जिसके द्वारा पुनः उच्चरित होता है, उसे उपनय कहते हैं ) ।

निगमन के स्वरूप को दिखलाते हैं—

**सूचार्थ—**प्रतिज्ञा के उपसंहार को निगमन कहते हैं ॥ ४७ ॥

उपसंहार पद की अनुबूति की गई है । प्रतिज्ञा का उपसंहार—साध्यधर्मविद्वान्त्वं स्वीकार स्वरूप से प्रदर्शन निगमन है ।

**सांख्यादि—**शास्त्र में दृष्टान्त आदिक कहना ही चाहिये, ऐसा नियम नहीं स्वीकार करने पर भी कैसे दृष्टान्त, उपनय और निगमन को आचार्य ने विस्तारित किया है ?

**जैन—**यह बात नहीं कहना चाहिये । स्वयं स्वीकार, न करने पर भी शिष्य के अनुरोध से जिन मत का अनुग्रहण करने वालों ने प्रयोग की परिपाठी को स्वीकार किया है । वह प्रयोग परिपाठी अन्नात स्वरूप वालों

१. साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिणि उपनीयते पुनरुच्चार्थेन हेतुर्येन स उपनयः ।

२. प्रतिज्ञाहेतुवाहरणोपनयाः साध्यलक्षणीकार्थक्षया निगमनते सम्बद्धतते येन तन्निगमनमिति ।

तदेवं भतभेदेन द्वि-चित्र-चतुः पञ्चादयवस्थप्रस्तुमानं द्विप्रकारभेदेति वर्णयन्नाह-

तदत्तुमानं हैथा ॥४८॥

तदद्वैविष्यमेवाऽह—

**स्वार्थपरार्थभेदात् ॥४९॥**

स्वपरविश्रिपत्तिनिरासाग्निकाद् द्विकिञ्चभेदेति भावः ।

स्वार्थनुमानभेदं दर्शयन्नाह—

**स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥५०॥**

साधनात्साध्यदिक्षानभनुमानमिति प्रायुक्तं लक्षणं वस्य तत्त्वोक्तमित्यर्थः ।

द्विलीयमनुमानभेदं वर्णयन्नाह—

**परार्थं सु तदर्थपरामशिवचनाजजातम् ॥५१॥**

के द्वारा करना सम्भव नहीं है, अतः उनका स्वरूप भी शास्त्र में कहना ही चाहिये ।

इस प्रकार भतभेद की अपेक्षा दो, तीन, चार, पाँच अवयव रूप अनुमान दो प्रकार का ही है, इस बात को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**वह अनुमान दो प्रकार का होता है ॥ ४८ ॥

उस द्विप्रकारता को ही कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**स्वार्थनुमान और परार्थनुमान के भेद से ( वह अनुमान ) दो प्रकार का है ॥ ४९ ॥

स्व और पर विषयक विवाद का निराकरण करना जिसका फल है, ऐसा अनुमान दो प्रकार का होता है, यह भाव है ।

स्वार्थनुमान के भेदों को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**स्वार्थनुमान का लक्षण कहा जा चुका है ॥ ५० ॥

साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान है, ऐसा जो लक्षण पहले कहा जा चुका है, वह स्वार्थनुमान का स्वरूप है ।

अनुमान के दूसरे भेद को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**उस स्वार्थनुमान के विषयभूत अर्थ का परामर्श करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थनुमान कहते हैं ॥ ५१ ॥

**विशेष—**धूम से अर्थिन का ज्ञान अनुमान है, इस प्रकार अर्थ का परामर्श करने वाला जो वचन है, उस वचन रूप साधन से ( प्ररोपदेश

तद्य स्वार्थनिमानस्यार्थः साध्यसाधनलक्षणः । तं पराधर्मसौख्येर्व यीर्ल तदर्थ-परामर्शि । तच्च तद्वचनं स तस्माज्जातमुत्पर्व विज्ञानं पराधर्मनिमित्ति । ननु वचनात्मकं पराधर्मनिमानं प्रसिद्धम् । तदर्थं तदर्थप्रतिपादकवचनजनितविज्ञानस्य पराधर्मनिमानत्वमभिदब्धता न र्गमृहीतमिति न वाच्यम्; अचेतनस्य साक्षात्प्रमित्तिहेतुत्वाभावेन निरुपचरितप्रभाष्यभावाभावात् । मुख्यानुमानहेतुत्वेन तद्योपचरितानु-मानव्यपदेशो न वार्यत एव ।

तदेवोपचरितं पराधर्मनिमानत्वं तद्वचनस्वाऽऽवार्यः प्राह—

### तद्वचनस्य तद्वेतुत्वात् ॥५२॥

से ) जो धूर्णे से अग्नि का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह पराधर्मनिमान है । वचन के विना जो धूमादि साधन से अग्न्यादि साध्य का ज्ञान होता है, वह स्वार्थनिमान है, यह इन दोनों में भेद है ।

उस स्वार्थनिमान का अर्थ जो साध्य-साधन लक्षण वाला पदार्थ—उसे विषय करना जिसका स्वभाव है, उसे तदर्थपरामर्शि कहते हैं । तदर्थ-परामर्शिवचनों से जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वह पराधर्मनिमान है ।

**विशेष**—यह पूर्वत अग्नि वाला है, धूर्ण वाला होने से, इस प्रकार के वचन सुनने से ही पहले धूर्ण का ज्ञान होता है, बाद में उससे अग्नि का ज्ञान होता है, यह अभिप्राय है । वचन के साक्षात् अनुमानपत्ता नहीं है, अपितु वचन से उत्पन्न ज्ञान के अनुमानपत्ता है, वचन के अनुमानपत्ता उपचार से है ।

**तैयादिक**—( पञ्च अवधिव रूप ) वचनात्मकं पराधर्मनिमानं प्रसिद्ध है । तो अनुमान के विषयभूल अर्थ के प्रतिपादक वचनों से उत्पन्न हुए विज्ञान को पराधर्मनिमान कहने वाले जीन ने उस लक्षण का संग्रह क्यों नहीं किया ?

**जीव**—यह नहीं कहना चाहिये; क्योंकि अचेतनवचन साक्षात् प्रमिति रूप अज्ञान की निवृत्ति में हेतु नहीं हो सकते । उन वचनों के निरूपचरित प्रभाष्यता का अभाव है । ज्ञानरूप अनुमान के हेतु होने से उन वचनों को उपचरित अनुमान संज्ञा का निश्चित रूप से कोई वारण नहीं कर सकता ।

वही ( पराधर्मनिमान के प्रतिपादक वचन ) उपचार से पराधर्मनिमान हैं अतः पराधर्मनिमान के प्रतिपादक वचन के विषय में आचार्य कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ**—पराधर्मनिमान के कारण होने से पराधर्मनिमान के प्रतिपादक वचनों को भी पराधर्मनिमान कहते हैं ॥ ५२ ॥

उपचारो हि मुल्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च प्रवर्तते । तत्र वस्त्रनस्य परार्थनुभानत्वे निमित्तं तद्देतुर्वभ् । तस्य प्रतिपाद्यानुभानस्य हेतुस्तद्देतुः; तस्य भावस्तस्यम् । तस्मान्निमित्तान्तद्वचनमपि परार्थनुभानप्रतिपादकवचनमपि परार्थनुभानमिति सम्बन्धः; कारणे कार्यस्योपचारात् । अथवा तत्प्रतिपादकानुभाने हेतुर्वस्य तद्देतुः; तस्य भावस्तस्यम् । तनस्तद्वचनमपि सधेति सम्बन्धः । अस्मिन् एके कार्ये कारणस्योपचार इति शेषः । वचनस्यानुभानत्वे च प्रयोजनमनुभानावयवाः प्रतिज्ञावय इति शास्त्रे व्यवहार एव, ज्ञानात्मस्थनंष्टे तद्व्यवहारस्याशक्यकल्पनात् । तदेव साधनात् साध्यविज्ञानमनुभानमित्यनुभानसामान्यलक्षणम् ।

तदनुभानं द्वेषेत्यादिना तत्प्रकारं च सप्तपञ्चमिधाय साधनमुक्तवलक्षणात्मेक्षयैकमप्यलिङ्गेषेण भिन्नमानं द्विविष्टमित्युपचर्यति—

**त हेतुवैष्ठोपलब्धयनुपलब्धिभेदात् ॥५३॥**

मुख्य का अभाव होने पर तथा प्रयोजन और निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है । वही वचन का परार्थनुभानपने में कारणपना ही उपचार का निमित्त है । अतः प्रतिपाद्य ( शिष्य ) उसके लिये जो अनुभान, उसका प्रतिपादक वचन जो परार्थनुभान है, ऐसा सम्बन्ध करना चाहिये; क्योंकि यही अनुभान के कारण वचनों में ज्ञानरूप कार्य का उपचार किया गया है । अथवा ( प्रकारान्तर से कहते हैं । ) परार्थनुभान का प्रतिपादक जो वक्ता पुरुष उसका स्वार्थनुभान है कारण जिसके ऐसा जो परार्थनुभान का वचन वह भी अनुभान है, ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये । इस पक्ष में स्वार्थनुभानवचनलक्षण रूप कार्य में कारण का उपचार है, यह अर्थ सूत्र में शेष है । वचन को अनुभानपना कहने में प्रयोजन यह है कि प्रतिज्ञा आदिक अनुभान के अवयव हैं, ऐसा शास्त्र में व्यवहार है । ज्ञानात्मक और भिरंश अनुभान में प्रतिज्ञादि के व्यवहार की कल्पना अशक्य है । इस प्रकार साधन से साध्य का ज्ञान हीना अनुभान है, यह अनुभान का सामान्य लक्षण है ।

वह अनुभान दो प्रकार का है, इत्यादि रूप से उसके प्रकारों को भी विस्तार से कहकर अभ्यधानुपकल्पत्व रूप लक्षण की अपेक्षा साधन एक प्रकार का होने पर भी अतिसंक्षेप से भेद करने पर वह दो प्रकार का है, इस बात को दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—अविनाभाव लक्षण से लक्षित वह हेतु उपलब्धिं और अनुपलब्धिं के भेद से दो प्रकार का है ॥ ५३ ॥

सुगममेतत् ।

तत्रोपलब्धिविधि साधिकैव । अनुपलब्धिः प्रतिषेधसाधिकैवेति परस्य नियमं  
विषट्यम्भुगलभ्वेरनुपलब्धेरनुपलब्धेश्चाविशेषेण विधि-प्रतिषेधसाधनत्वमाह—

**उपलब्धिविधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धश्च ॥ ५४ ॥**

गतार्थमेतत् ।

इकानीमुपलब्धेरपि संक्षेपेण विशदाधिरुद्धभेदाद् द्विविष्टम् पदस्य नियमविशद्वा-  
लब्धेविधिं साध्ये विस्तरतो भेदमाह—

**अविशद्वोपलब्धिर्विधी शोद्धु-व्याप्त्यकांक्षाराज्युक्तेऽत्यनुकरण-  
भेदात् ॥ ५५ ॥**

पूर्वं च उत्तरं च सह चेति इन्द्रः । पूर्वोत्तरसह इत्येतेभ्यश्चर इत्यनुकरण-  
निवेदाः, इन्द्रात् श्रूयमाणश्चरशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धते । सेमायमर्थः—पूर्वचारो-  
त्तरसहश्चरा इति । पश्चाद् व्याप्त्याधिभिः सह इन्द्रः ।

यह सूत्र सुगम है ।

उपलब्धि विधि को साधिका ही है, अनुपलब्धि प्रतिषेध की साधिका ही है, इस प्रकार दूसरे मत वालों के नियम का निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि उपलब्धि और अनुपलब्धि सामान्य रूप से विधि और प्रतिषेध के साधक हैं ।

सूत्रार्थ—उपलब्धि रूप हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों का साधक है तथा अनुपलब्धि भी दोनों का साधक है ॥ ५४ ॥

इस सूत्र का अर्थ कहा जा चुका है ।

इस समय उपलब्धि के भी संक्षेप से विशद्वान्विशद्वा भेद से दो भेद बतलाते हुए अविशद्वोपलब्धि के विधि को सिद्ध करने में विस्तार से भेद कहते हैं—

सूत्रार्थ—अस्तित्व साध्य होने पर अविशद्वोपलब्धि व्याप्त्य, कार्य, कारण, पूर्व, उत्तर और सहश्चर के भेद से छह प्रकार की है ॥ ५५ ॥

'पूर्वं च उत्तरं च सह च' इसमें इन्द्र समाप्त है । पूर्व, उत्तर और सह पद के साथ चर शब्द का अनुकरण निर्देश करना । इन्द्र समाप्त से पीछे सुना गया चर शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिये । इससे यह अर्थ होता है—पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर । पश्चाद् व्याप्त्य आदि पदों के साथ इन्द्र समाप्त करना चाहिये ।

अश्राह सौभग्यः—विषिसाधनं द्विविषमेव, स्वभाव-कार्यभिदात् । कारणस्य तु कार्यविनाभावाभावादलिङ्गलक्ष्मि । नावद्वयं कारणानि कार्यविनिति भवन्तीति वचनात् । अप्रतिक्रियसामर्थ्यस्य कार्यम्ब्रति गमकत्वमित्यपि नोकरम्; सामर्थ्यस्यात्मिक्यितया विद्यमानस्वपि निश्चेतुमषाक्षत्वादिति । सदसमीक्षिताभिधानमिति वक्षयितुमाह—

**रसादेकसामधूमानेन रूपानुभानमिच्छदिभरिष्टमेव  
किञ्चित्कारणं हेतुर्यन्त्र सामर्थ्यप्रतिकृत्व-कारणान्तरावैकल्ये ॥५६**

आस्वाद्यमन्तराद्वि रसातज्जिका सामर्थ्यनुभीयते । ततो रूपानुभानं भवति । प्राप्तनो हि रूपक्षणः सजातीयं रूपक्षणान्तरं कार्यं कुर्वन्त्वेत्र विजातीयं रसलक्षणं कार्यं करोतीति रूपानुभानमिच्छदिभरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुः प्राप्तनस्य रूपलक्षणस्य सजातीयरूपक्षणात्मरात्मभिचारात् । अथवा रससमानकालरूपप्रति-

बौद्ध—विषिसाधक हेतु वो प्रकार का है—स्वभावहेतु और कार्यहेतु । कारण का कार्य के साथ अविनाभाव का अभाव होने से उसे हेतु नहीं माना जा सकता । कारण कार्य वाले अक्षय हीं, ऐसा नहीं है, इस प्रकार का वक्तन है ।

जैन—धणि-पत्न्यादि से जिसकी सामर्थ्य रोकी गई है, ऐसा कारण कार्य के प्रति गमक होता है ।

बौद्ध—यह कोई उत्तर नहीं है । सामर्थ्य अतोन्द्रिय ( अप्रत्यक्ष ) है, अतः विद्यमान होने का भी निश्चय करना सम्भव नहीं है । पूर्वोक्त कथन असमीक्षित कथन है, यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—रस से एक सामग्री के अनुभान द्वारा रूप का अनुभान स्वीकार करने वाले बीद्रों ने कोई विशिष्ट कारण रूप हेतु माना ही है, जिसमें सामर्थ्य की रुकावट नहीं है और दूसरे कारणों की विकलता नहीं है ॥ ५६ ॥

आस्वाद्यमान रससे उसकी उत्पादक सामग्री का अनुभान किया जाता है उससे रूप का अनुभान होता है । पहले का रूपक्षण सजातीय अन्य रूपक्षण रूप कार्य को उत्पन्न करता हुआ हो विजातीय रस लक्षण कार्य को करता है, इस प्रकार से रूप के अनुभान को इच्छा करने वाले बीद्रों को कोई कारण रूप हेतु इड़ ही है; क्योंकि पूर्वकाल के रूप क्षण का सजातीय अन्य रूप क्षण के साथ कोई व्यभिचार नहीं पाया जाता है । अन्यथा रस के समकाल में ही रूप को जानकारी नहीं हो सकती थी ।

पत्तेरबोगात् । न हमुकूलमात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं वा कारणं लिङ्गभिष्यते; येन मणि-  
मन्त्रादिना सामर्थ्यप्रतिबन्धात्कारणात्तरवैकल्येन वा कार्यव्यभिष्यादित्वं स्यात् ।  
द्वितीयक्षणे कार्यप्रत्यक्षीकरणेनानुमानानश्चेवं वा; कार्यविनाभाविषया निश्चितस्य  
विशिष्टकारणस्य द्वारादेविलङ्गत्वेनाङ्गीकरणात् । यत्र सामर्थ्यप्रतिबन्धः कारण-  
न्तरावैकल्यं निश्चयते, तस्य लिङ्गत्वं नाम्यस्येति नीषतदोषप्रसङ्गः ।

इदानी पूर्वोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणेनन्तरभवाद् भेदान्तरत्वमिवेति  
दर्शयति—

**न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा, कालव्यव-  
धाने तदनुपलब्धेः ॥ ५७ ॥**

तादात्म्यसम्बन्धे साध्यासाधनयोः स्वभावहेतावन्तरभवाद्, तदुत्पत्तिरात्म्ये च

हमें अनुकूल मात्र अथवा अन्त्य क्षण प्राप्त ( कार्य उत्पन्न होने के अव्यव-  
हित पूर्व क्षण प्राप्त तन्तुसंयोग रूप ) कारण को लिङ्ग मानना इष्ट नहीं  
है । ( यहीं पर मात्र शब्द के ग्रहण से कार्य के साथ कारण के अविनाभाव  
का निराकरण किया है ) । जैसे दीपक में बहुत क्षण उत्पन्न होते हैं  
और विनाश को प्राप्त होते हैं, किर भी प्रदीप के विनाश काल में और  
अन्त्यक्षण है, वह उत्तरक्षण उत्पन्न नहीं करता है, उस प्रकार का स्वीकार  
नहीं है । जिससे मणि-मन्त्रादि के द्वारा सामर्थ्य के प्रतिबन्ध से अथवा  
अन्य सहकारी कारणों की विकलता से वह कार्य के साथ उपभिज्ञत्वे को  
प्राप्त हो । द्वितीय क्षण में कार्य के प्रत्यक्ष करने से अनुभान की व्यवधान  
हो; क्योंकि अविनाभाव रूप से निश्चित विशिष्ट कारण रूप शब्दादि को  
हमने लिङ्ग रूप से स्वीकार किया है । यहीं पर सामर्थ्य का प्रतिबन्ध न  
होना और अन्य कारणों की अविकलता निश्चित की जाती है, उसके ही  
लिङ्गता माना है, अन्य के नहीं । इस प्रकार उक्त दोष का प्रसंग प्राप्त  
नहीं होता ।

अब पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी भिन्न ही है; क्योंकि वे स्वभाव  
हेतु कार्य हेतु और कारण हेतुओं में अन्तर्भूत नहीं होते, इस बात को  
दिखाते हैं—

**सूत्रार्थ—**पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का साध्य के साथ तादात्म्य  
सम्बन्ध नहीं है, तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है; क्योंकि काल का व्यवधान  
होने पर इन दोनों सम्बन्धों को उपलब्ध नहीं होती है ॥ ५७ ॥

साध्य-साधन में तादात्म्य सम्बन्ध के होने पर स्वभाव हेतु में अन्त-

कार्ये कारणे वाऽन्तस्थिरो दिभाव्यते । त च तदुभयसम्भवः; कालव्यवधाने तदनु-  
पलब्धेः । सहमाविनोरेव तादात्म्यसम्भवात्, अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरसागयोर्हेतुं  
फलभावस्य दृष्टुत्वात् व्यवजितयोस्तदवधटनात् ।

ननु कालव्यवधानेऽपि कार्यकारणभावी दृश्यत एव; यथा जाग्रत्प्रबुद्धदशा-  
भाविप्रबोधयोर्मरणारिष्टयोर्वेति । तत्परिहारार्थमाह—

**भाव्यतीत्योर्मरणजाप्रद्वयोष्योरपि नारिष्टोद्वौष्याप्रतिहेतुस्वम् ॥ ५८ ॥**

सुगममेतत् ।

अत्रीवोपपत्तिमाह—

**तदुपापाराधितं हि तद्वावभावित्वम् ॥ ५९ ॥**

हिसाद्वयो यस्माद्येऽपि यस्मात्स्य कारणस्य भावे कायंत्रय मार्गवल्ये तद्वभाव-

भवि होता है और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के होने पर कार्य या कारण हेतु में  
अल्लभावि होता है । पूर्वचर और उत्तरचर हेतु में तादात्म्य और तदुत्पत्ति  
सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि काल का व्यवधान होने पर इन दोनों सम्बन्धों  
की उपलब्धि नहीं होती है । सहमावियों में ही तादात्म्य सम्भव है,  
व्यवधान से रहित पूर्वोत्तर क्षण में हेतु और फलभाव ( कारण-कार्य  
भाव ) देखा जाता है । जिनमें काल का व्यवधान है, उनमें तादात्म्य  
और कारण कार्य भाव घटित नहीं होता है ।

बौद्ध—काल का व्यवधान होने पर भी कार्य-कारणभाव देखा ही  
जाता है; जैसे—जाग्रत् ( सोने से पूर्व की अवस्था ) और ( सोने के  
पश्चात् की अवस्था ) प्रबुद्ध दशा भावी प्रबोध तथा भरण एवं अरिष्ट में  
कार्य-कारणभाव देखा जाता है ।

बौद्धों के इस कथन का परिहार करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—भावी भरण और अतीत जाग्रत् बोध के भी अरिष्ट  
( अपशकुन और उत्पत्ति ) और उद्बोध ( जाग्रत अवस्था का बोध ) के  
प्रति कारणपता नहीं है ॥ ५८ ॥

यह सूत्र सुगम है ।

यहाँ युक्ति देते हैं—

सूत्रार्थ—कारण के व्यापार के आश्रित ही कार्य का व्यापार हुआ  
करता है ॥ ५९ ॥

हि शब्द यस्मात् के अर्थ में है । क्योंकि कारण होने पर कार्य का होना

भावित्वम् । तत्त्व तद्वापाराभित्वम्, तस्मान् प्रकृतयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः । अयमर्थः—अन्वय-व्यतिरेकसमविगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः । तौ च कार्य-प्रति कारणव्यापारस्यपैक्षा वैवोपपत्तेऽनुलग्नस्येव कलशमधिति । न चातिष्ठयहि-तैषु तद्वापाराभित्वमिति ।

सहचरस्याभ्युक्तमहेतुञ्चनन्तर्भविं ददृशं चति—

**सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्थादाच्च ॥६०**

हेत्वन्तरत्वमिति शेषः । अपमभिप्रायः—परस्परपरिहारेणोपलम्भासादालम्या-भम्भासात्स्वभावहेतुञ्चनन्तर्भविः । सहोत्थादाच्च न कार्यं कारणे वेति । न च समामसमयवत्तिमोः कार्यकारणभावः, सव्येतरणोदिष्टाभवत् । कार्यकारणयोः प्रति-

तदभावभावित्व है । कार्य कारण के व्यापार के आश्रित है अतः प्रकृत में ( अतीत जाग्रद्वेष और भावी उद्द्वेष तथा भावी मरण और वर्तमान अरिष्ट इनमें ) कार्य कारणभाव नहीं है, यह तात्पर्य है । सब जगह कार्य-कारण भाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है । अन्वय-व्यतिरेक कार्य के प्रति कारण के व्यापार की अपेक्षा में ही घटित होते हैं, जैसे कुम्भकार का कलश के प्रति अन्वय-व्यतिरेक पाठा जाता है ( क्योंकि कुम्भार के होने पर कलश की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती है ) । अतिष्ठव-हित पदार्थों में कारण के व्यापार का आश्रितपता नहीं होता है ।

सहचर हेतु का भी स्वभाव, कार्य और कारण हेतुओं में अन्तर्भव नहीं होता है, यह दर्शित करते हैं—

**सूत्रार्थ—**सहचारी पदार्थ परस्पर के परिहार से रहते हैं, अतः सहचर हेतु का स्वभाव हेतु में अन्तर्भव नहीं हो सकता और वे एक साथ उत्पन्न होते हैं, अतः उनका कार्य हेतु और कारण हेतु में अन्तर्भव नहीं हो सकता है ।

सूत्र में 'हेत्वन्तरत्व' एव शेष है । यह अभिप्राय है—परस्पर परिहार की प्राप्ति से तादालम्य सम्बन्ध असम्भव होने से ( जिन दो पदार्थों की परस्पर परिहार रूप से विभिन्नता पाई जाती है ) उनका स्वभाव हेतु में अन्तर्भव नहीं होता है । सहचारी पदार्थों के एक साथ उत्पन्न होने से कार्य हेतु अथवा कारण हेतु में भी अन्तर्भव नहीं किया जा सकता है । एक साथ उत्पन्न होने वालों में वायें और दक्षिण सीमा के समान कार्यकारणभाव नहीं होता है । यदि एक साथ उत्पन्न होने वाले पदार्थों में कार्य-कारण भाव माना जाय तो कार्य-कारण के प्रतिलिङ्गम का

तिथभावप्रसङ्गस्य । तद्भावेत्वलरत्वमेवेति ।

‘हदानीं ध्याप्त्वेत्’ क्रमशास्त्रमुदाहरन्मुक्ताख्यधिकारेकपुरस्सरे प्रतिपाद्याशय-  
हात्तिविषयित्वा उत्तरात् उपकारात् उल्लङ्घन्ति—।

परिणामी शब्दः; कुतकल्पात् । य एवं स एवं वृष्टो  
यथा वटः । कुतकल्पायम्, तस्मात्परिणामीति । यस्तु न परि-  
णामी, स त कुतको वृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः । कुतकल्पायम्,  
तस्मात्परिणामी ॥ ६१ ॥

स्वेतसाक्षितव्यापारो हि भावः कृतक उच्चते । सच्च कृतकत्वं न कूटस्थ-  
मित्यपर्यन्ते, नापि साधिकयते । किन्तु परिकामित्वे सत्येकेत्यत्र बहुमते ।

कार्यहेतुमाह.....

अस्थ्यन् वेहिनि दुद्धिव्यहारावेः ॥ ६२ ॥

अभाव हो जायगा अर्थात् कौन कार्य है और कौन उसका कारण है, इस प्रकार का कोई नियम नहीं बन सकेगा। अतः सहचर हेतु की मिन्न कारण मानना चाहिए।

अब कम प्राप्त व्याप्ति हेतु का उदाहरण देते हुए अन्वय-व्यतिरेक पूर्वक शिष्य के अभिश्राय के बास प्रतिपादित प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों को प्रदर्शित करते हैं—

**सूत्रार्थ—**शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कृतक होता है। जो इस प्रकार अर्थात् कृतक होता है वह इस प्रकार अर्थात् परिणामी देखा जाता है। जैसे—घट। यह शब्द कृतक है, इसलिए परिणामी है। जो परिणामी नहीं होता, वह कृतक भी नहीं देखा जाता है, जैसे कि वस्त्रया का पुत्र। कृतक यह शब्द है, अतः वह परिणामी है ॥ ६२ ॥

अपनी उत्पत्ति में अपेक्षित व्यापार वाला पदार्थ कृतक कहा जाता है। वह कृतकपना न कूटस्थनित्य पक्ष में बनता है और न धार्णिक पक्ष में, किन्तु परिणामी होने पर ही कृतकपना सम्भव है, यह बात आगे कहेंगे।

कार्य हेतु के विषय में कहते हैं—

**सत्रार्थ**—इस देही में बहु है; क्योंकि इसमें व्यवसा, व्यापार, आकार-

१. पूर्वोत्तराकारयरिहारावान्तिस्थितिलक्षणः परिणामः, सीम्यास्तीति स परिचायी । पूर्वविश्वामयज्ञहन् उत्तम्युक्तं वर्जमुत्तरम् । स्वस्मादप्रच्युतो वर्जा परिमाणी स चक्ष्यते ॥ १ ॥

कारणहेतुमाह—

अस्त्यच्चलाया छत्रात् ॥ ६३ ॥

अब पूर्वचरहेतुमाह—

उद्देष्यति ज्ञाकटं कृतिकोदयात् ॥ ६४ ॥

मुहूर्तान्ते इति सम्बन्धः ।

अथोत्तरवरः—

उद्गावभरणः प्राक्तत एव ॥ ६५ ॥

अत्रापि मुहूर्ततिथामिति सम्बन्धनीयम्; तत्त एव कृतिकोदयादेवेत्यर्थः ।

सहस्रलिङ्गमाह—

अस्त्यक्ष मातुर्लिङ्गे रूपं रक्षात् ॥ ६६ ॥

विरुद्धोपलब्धिमाह—

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥ ६७ ॥

विशेष आदि पाया जाता है ॥ ६२ ॥

कारण हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहाँ पर लाया है; क्योंकि छत्र पाया जाता है ॥ ६२ ॥

अब पूर्वचर हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—(एक मुहूर्त के बाद) ज्ञाकट (शेहिली नाम) का उदय होगा; क्योंकि कृतिका का उदय हुआ है ॥ ६४ ॥

यहाँ मुहूर्तान्त पद से सम्बन्ध है ।

अब उत्तरवर हेतु के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—भरणी का उदय एक मुहूर्त के पूर्व ही हो चुका है; क्योंकि कृतिका का उदय पाया जाता है ॥ ६५ ॥

यहाँ 'मुहूर्तात् प्राक्', पद जोड़ लेना चाहिए। 'तत् एव' पद से 'कृतिकोदयात् एव' अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

सहस्रलिङ्ग के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस मातुर्लिङ्ग में रूप है; क्योंकि रस पाया जाता है ॥ ६६ ॥

विरुद्धोपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—नास्तित्व साध्य होने पर प्रतिषेध साध्य से विरुद्ध तर्सवंधी व्याप्तादि की उपलब्धि छह प्रकार की होती है ॥ ६७ ॥

प्रतिषेधे साध्ये प्रतिषेध्येन विश्वाना सम्बन्धिनहते अयात्यादयस्तेषामुपलब्धस्य  
इत्यर्थः । तथेति ओडेति भावः ।

तत्र साध्यविशुद्धव्याप्योपलक्षितमाह—

**नास्त्यत्र शीतस्पर्शं औषध्यात् ॥ ६८ ॥**

शीतस्पर्शप्रतिषेधेन हि विशुद्धोऽग्निः, तद्वाप्यमोष्यमिति ।

विशुद्धकार्योपलक्षितमाह—

**नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥ ६९ ॥**

अथापि प्रतिषेध्यस्य साध्यस्य शीतस्पर्शस्य विशुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूम इति ।

विशुद्धकारणोपलक्षितमाह—

**नास्त्मन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशत्यात् ॥ ७० ॥**

सुखविरोधि दुःखम्; तस्य कारणं हृदयशत्यांमिति ।

प्रतिषेध साध्य होने पर प्रतिषेध के योग्य वस्तु से विशुद्ध पदार्थों के सम्बन्धी जो व्याप्त्यादि है, उनकी उपलक्षितयाँ छह प्रकार की होती हैं । वह भाव है । आदि साध्य से कार्य, कारण, पूर्व, उत्तर, सहचर इहण किये जाते हैं ।

उनमें से साध्यविशुद्ध व्याप्योपलक्षित के विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**यहाँ पर शीत सर्वं नहीं है, क्योंकि उषणता पायी जाती है ॥ ६८ ॥

शीत स्पर्शं प्रतिषेध की विरोधी अग्नि है, उसको व्याप्त्य उषणता पायी जा रही है ।

विशुद्ध कार्योपलक्षित हेतु के विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**यहाँ शीतस्पर्शं नहीं है; क्योंकि धूम है ॥ ६९ ॥

यहाँ भी प्रतिषेध के योग्य साध्य जो शीतस्पर्शं उसकी विशुद्ध जो अग्नि, उसका कार्यं धूम पाया जाता है ।

विशुद्धकारणोपलक्षित के विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**इस प्राणी में सुख नहीं है; क्योंकि हृदय में शत्रु पाई जाती है ॥ ७० ॥

सुख का विरोधी दुःख है, उसका कारण हृदय की शत्रु है ।

विश्वपूर्वचरमाह—

**नोदेष्यति मुहूर्तन्ते शकटं रेवस्युदयात् ॥ ७१ ॥**

शकटोदयविश्वो शुशिवन्युदयः तत्सूर्यज्ञरो रेवस्युदय इति ।

विश्वदोत्तरचर लिङ्गमाह—

**नोदगाद्वृत्तिमुहूर्तस्तिवृष्टं पुष्योदयात् ॥ ७२ ॥**

भरण्युदयविश्वो हि पुनर्बूद्यतः, तदुत्तरचरः पुष्योदय इति ।

विश्वदसहस्रमाह—

**नात्यन्त्र भिस्ती यरभागाभावोऽर्द्धाभागादर्द्धानात् ॥ ७३ ॥**

परभागाभावस्य विश्वदस्तद्भावः, तत्सहस्रोऽर्द्धाभाग इति ।

अविश्वदानुपलक्षिभेदमाह—

**अविश्वदानुपलक्षिभिः प्रतिषेदे सप्तशा—स्वभावव्यापक-**

**कर्मकारणपूर्वोत्तरसहस्ररात्रानुपलम्भभेदात् ॥ ७४ ॥**

विश्वद पूर्वचर के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**एक मुहूर्त के पश्चात रोहिणी का उदय नहीं होगा; क्योंकि अभी रेवती नक्षत्र का उदय हो रहा है ॥ ७१ ॥

यही पर शकट के उदय का विरोधी अश्विनी का उदय है, उसका पूर्वचर रेवती नक्षत्र है, उसका उदय पाया जाने से यह विश्वद पूर्वचरोपलक्षिभ का उदाहरण है ।

विश्वदोत्तरचर हेतु को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**एक मुहूर्त पहले भरणी नक्षत्र का उदय नहीं हुआ है; क्योंकि अभी पुष्य नक्षत्र का उदय पाया जा रहा है ॥ ७२ ॥

भरणी के उदय का विरोधी पुनर्बूद्य नक्षत्र का उदय है । उसका उत्तरचर पुष्य नक्षत्र का उदय है ।

विश्वद सहस्रोपलक्षिभ हेतु के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**इस भिस्ती में दूसरे भाग का अभाव नहीं है; क्योंकि प्रथम भाग दिखाई दे रहा है ॥ ७३ ॥

परभाग के अभाव का विरोधी उसका सद्भाव है, उसका सहस्रारी इस ओर का भाग पाया जाता है ।

अविश्वदानुपलक्षिभ के भेद को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**अभाव साध्य होने पर अविश्वदानुपलक्षिभ सात प्रकार की होती है—१. अविश्वद स्वभावानुपलक्षिभ २. अविश्वद व्यापकानुपलक्षिभ

स्वभावादिप्रवानां द्वन्द्वः, सेषामनुपलम्भ इति पश्चात्कृष्णीतत्पुरुषसमाप्तः ।  
स्वभावानुपलम्भोदाहरणमाह—

**नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ॥ ७५ ॥**

अथ पिशाच-परमाणुविभिन्नभिचारपरिहारार्थमुपलब्धिवलक्षणप्राप्तस्ये सतीति  
विशेषणमुख्येयम् ।

अयापकानुपलब्धिमाह—

**नास्त्यत्र शिशापा बूक्षानुपलब्धे ॥ ७६ ॥**

शिशापात्वं हि बूक्षत्वेन अपाप्तम्; उद्भावे तद्वधाप्यविशेषाया अप्यभावः ।  
कार्यनुपलब्धिमाह—

**नास्त्यत्राप्रतिबद्ध सामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥ ७७ ॥**

अप्रतिबद्धसामर्थ्यं हि कार्यम्भ्रत्यनुपहतशक्तिक्षम्युच्यते । उद्भावश्च कार्यनु-  
पलम्भादिति ।

३. अविश्वद कार्यनुपलब्धिः ४. अविश्वद कारणानुपलब्धिः ५. अविश्वद  
पूर्वचरानुपलब्धिः ६. अविश्वद उत्तरचरानुपलब्धिः और ७. अविश्वद  
सहचरानुपलब्धिः ।

स्वभाव, व्यापक आदि पदों का द्वन्द्व समाप्त करना, पीछे उनका  
अनुपलम्भ पद के साथ बड़ी तत्पुरुष समाप्त करना चाहिये ।

स्वभावानुपलम्भ का उदाहरण कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—इस भूतल पर घट नहीं है, क्योंकि उपलब्धिं योग्यस्वभाव  
के होने पर भी वह नहीं पाया जा रहा है ॥ ७८ ॥

यहीं पर पिशाच और परमाणु आदिक से व्यभिचार के परिहारार्थ  
'उपलब्धिवलक्षण प्राप्ति के योग्य होने पर भी', यह विशेषण ऊपर से  
लगाना चाहिए ।

अयापकानुपलब्धि हेतु के विषय में कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—यहीं पर दीशाय नहीं है; क्योंकि बूक्ष नहीं पाया जा रहा  
है ॥ ७९ ॥

शिशापात्व बूक्षत्व के साथ व्याप्त है; बूक्षत्व का अभाव होने पर उसके  
व्याप्त शिशापात्व का भी अभाव है ।

कार्यनुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—यहीं पर अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है; क्योंकि  
घूम नहीं पाया जाता ॥ ८० ॥

जिसकी सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है, ऐसा कारण अपने कार्य के प्रति

कारणानुपलब्धिमाह—

सास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥ ७८ ॥

पूर्वचरानुपलब्धिमाह—

न अविष्टति महस्तन्ते शकटं कुत्सिकोदयानुपलब्धेः ॥ ७९ ॥

उत्तरचरानुपलब्धिमाह—

नोदगान्दुरणिमुहूर्तादिप्राक् तत एव ॥ ८० ॥

तत एव कुत्सिकोदयानुपलब्धेरेवेत्यर्थः ।

सहचरानुपलब्धिः प्राप्तकालेत्याह—

नास्त्यत्र समतुल्यादामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥ ८१ ॥

विचुद्धकार्यानुपलब्धिरिधि सम्बद्धीस्वात्मकाप्तसद्भैर्दात्मव एवेति ततेव  
प्रदर्शयितुमाह—

विचुद्धानुपलब्धिरिधौ श्रेष्ठा—विचुद्धकार्यकारणस्वभावा—  
नुपलब्धिभेदात् ॥ ८२ ॥

अनुग्रहत शक्ति वाला यह जाता है । इहैं प्राप्तिहृत विद्वान् वाली अग्नि  
का अभाव उसके कार्य धूम के नहीं पाए जाने से है ।

कारणानुपलब्धिके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—यहीं पर धूम नहीं है; क्योंकि अग्नि नहीं है ॥ ७८ ॥

पूर्वचरानुपलब्धिके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा; क्योंकि  
कुत्सिका के उदय को अनुपलब्धि है ॥ ७९ ॥

उत्तरचरानुपलब्धिके विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त से पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है; क्योंकि  
उत्तरचरकुत्सिका का उदय नहीं पाया जाता है ॥ ८० ॥

सूत्र में 'तत एव' पद से कुत्सिका के उदय को अनुपलब्धि का वर्ण  
लिया गया है ।

अब जिसका समय प्राप्त हुआ है, ऐसी सहचरानुपलब्धिके विषय में  
कहते हैं—

सूत्रार्थ—इस समतुल्य में एक और ऊचापत नहीं है; क्योंकि उचाप  
का अविरोधी सहचर नहीं पाया जाता है ॥ ८१ ॥

विचुद्ध कार्यानुपलब्धि आदि हेतु विधि में सम्भव हैं और उसके भेद  
तीन हो हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—विधि के अस्तित्व को सिद्ध करने में विचुद्धानुपलब्धि के

विशुद्धकार्याद्यनुपलब्धिविधि सम्भवतीति । विशुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिरिति ।

तत् विशुद्धकार्याद्यनुपलब्धिमाह—

**यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति; निरामयचेष्टानु-  
पलब्धोः ॥ ८३ ॥**

व्याधिविशेषस्य हि विशुद्धस्तदभावः, तस्य कार्यं निरामयचेष्टा, तस्या अनुप-  
लब्धिरिति ।

विशुद्धकारणानुपलब्धिमाह—

**अस्त्वत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥ ८४ ॥**

दुःखविरोधि सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगस्तदनुपलब्धिरिति ।

विशुद्धस्वभावानुपलब्धिमाह—

**अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ॥ ८५ ॥**

अनेकान्तात्मकविरोधी नित्याद्योकात्मः, न पुनस्तद्विषयविशालम्, तस्य मिथ्या-

तीन भेद हैं—(१) विशुद्ध कार्यानुपलब्धि (२) विशुद्ध कारणानुपलब्धि और  
(३) विशुद्ध स्वभावानुपलब्धि ।

विशुद्ध कार्यानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—जैसे इस प्राणी में व्याधिविशेष है; क्योंकि निरामय चेष्टा  
की अनुपलब्धि है ॥ ८३ ॥**

व्याधिविशेष के सद्भाव का विरोधी उसका अभाव है, उसका कार्य  
निरामय चेष्टा है, उसको यहाँ अनुपलब्धि है ।

विशुद्ध कारणानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—इस प्राणी में दुःख है; क्योंकि दृष्टि संयोग का अभाव  
है ॥ ८४ ॥**

दुःख का विरोधी सुख है, उसका कारण दृष्टि संयोग है, उसकी अनु-  
पलब्धि ।

विशुद्ध स्वभावानुपलब्धि के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक है; क्योंकि वस्तु का एकान्त स्वरूप  
पाया नहीं जाता है ॥ ८५ ॥**

अनेकान्तात्मक साध्य का विरोधी नित्यत्व आदि एकान्त है, न कि

शामरूपयोपलभवसम्भवात् । तस्य स्वरूपयथास्तवाकारस्तस्यातुपलिपिः ।

ननु च व्यापकविशुद्धकार्यादीना परम्परयाऽविरोधिकार्यादिलिङ्गानां च बहुलम्  
मुपलभवसम्भवात्तात्त्वपि किमिति नाचार्यं उदाहृतानीत्याकाशाङ्कायामाह—

**परम्परया सम्भवसाधनमत्रैवास्तर्भवनीयम् ॥ ८६ ॥**

अत्रैवेतेषु कार्यादिविषयम् ।

तस्यैव साधनोपलक्षणार्थमुदाहरणद्वयं प्रदर्शयति—

**अभूदत्र अके शिवकः स्थासात् ॥ ८७ ॥**

एतच्च किसङ्किर्त्तनात्तर्भवतीत्यारेकायामाह—

**कार्यकार्यमविशुद्धकार्योपलब्धौ ॥ ८८ ॥**

अन्तर्भविनीयसिति सम्बन्धः । शिवकस्य हि कार्यं उक्तकम्, तस्य कार्ये  
स्थास इति ।

एकान्त पदार्थ की विषय करने वाला विज्ञान; क्योंकि मिथ्याज्ञान के रूप  
से उसकी उपलिपि सम्भव है । नित्यादि एकान्त का स्वरूप अवास्तविक  
है, अतः उसकी अभूदत्रिभव है ।

**शंका—**व्यापक विशुद्ध कार्यादि हेतु और परम्परा से अविरोधी  
कार्यादि हेतुओं का पाठ्य जाना अहूलता से सम्भव है । उनके उदाहरण  
आचार्यों ने क्यों नहीं दिए ?

**समाचारम्—**इस प्रकार की शङ्खा होने पर कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**परम्परा से जो साधनरूप हेतु सम्भव हैं, उनका इन दो ही  
हेतुओं में अन्तर्भवि कर लेना चाहिए ॥ ८६ ॥

सूत्र में आए हुए 'अत्रैव' का तात्पर्य है—यही कार्यादि में ।

उसी साधन के उपलक्षण के लिए दो उदाहरण दिखलाते हैं—

**सूत्रार्थ—**इस चक्र पर शिवक हो गया है; क्योंकि स्थास पाया जा  
रहा है ॥ ८७ ॥

इस हेतु की क्या संज्ञा है और इसका अन्तर्भवि कहाँ होता है ? ऐसी  
आर्थिका होने पर कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**कार्य के कार्य रूप उक्त हेतु का अविशुद्ध कार्योपलिपि में  
अन्तर्भवि करना चाहिए ॥ ८८ ॥

यहीं 'अन्तर्भविनीयस्त्र' पद जोड़ लेना चाहिए । शिवक का कार्य शक्ति  
है और उसका कार्य स्थास है ।

दृष्टात्मदारेण द्वितीयहेतुभुदाहरति—

नास्त्यत्र गुहायां मृगकीडनं मृगारिसंशब्दनात् । कारण-  
विशुद्धकार्यं विशुद्धकार्योपलब्धी यथा ॥ ८९ ॥

मृगकीडनस्य हि कारणं मृगस्तस्य विरोधी मृगारिस्तस्य कार्यं अन्तर्भूदनमिति ।  
इदं यथा विशुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भूतिः, सथा प्रकृतमपीत्यर्थः ।

बालव्युत्पत्त्ये पञ्चाचयत्वप्रयोग इत्युक्तम् । व्युत्पत्त्वमप्रति कर्त्तं प्रयोगनियम  
इति वाङ्मायामाह—

व्युत्पत्त्वप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्येव वा ॥ ९० ॥

व्युत्पत्त्वस्य व्युत्पत्त्वाय वा प्रयोगः, कियत इति शेषः । तथोपपत्त्या तथा साध्ये  
सत्येवोपपत्त्यस्तयाऽन्यथानुपपत्तीय नामाद्यां साध्यां एतमृगारिस्तस्य ।

तामेवानुमानमुदामुम्भुदयति—

अग्निमानयं देशस्तथैव व्यूमवस्थोपपत्तेष्ठूमवस्थान्यथा-  
नुपपत्तेवाऽ ॥ ९१ ॥

दृष्टान्त के द्वारा द्वितीय हेतु का उदाहरण देते हैं—

सूत्रार्थ—इस गुफा में मृग की कीड़ा नहीं है; क्योंकि सिंह का शब्द  
हो रहा है । यह कारणविशुद्ध कार्यं रूप हेतु है, इसका विशुद्धकार्योपलब्धि  
में अन्तर्भूति करना चाहिए ॥ ८९ ॥

मृग की कीड़ा का कारण मृग है, उसका विरोधी सिंह है, उसका  
कार्य उसकी गर्जना है । यह जैसे विशुद्ध कार्योपलब्धि के अन्तर्भूत होता है,  
उसी प्रकार कार्य रूप हेतु का अविशुद्ध कार्योपलब्धि में अन्तर्भूति होता है ।

बाल व्युत्पत्ति के लिए अनुमान के पाँचों अवयवों का प्रयोग किया  
जा सकता है, ऐसा आपने कहा है । व्युत्पत्त्व पुरुष के प्रति प्रयोग का क्या  
नियम है, इस प्रकार की शंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्युत्पत्त्व प्रयोग तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति के द्वारा  
करना चाहिए ॥ ९० ॥

व्युत्पत्त्व का अथवा व्युत्पत्ति के लिए प्रयोग करना चाहिए । सूत्र में  
'कियत' पद द्वेष है । साध्य के होने पर ही साधन के होने की तथोपपत्ति  
कहते हैं और साध्य के अभाव में साधन के अभाव को अन्यथानुपपत्ति  
कहते हैं । उसके द्वारा व्युत्पत्त्व प्रयोग करना चाहिए ।

उसी अनुमानमुदा को प्रकट करते हैं—

सूत्रार्थ—यह प्रदेश अग्नि वाला है; क्योंकि तथैव अर्थात् अग्नि वाला

ननु तदतिरिक्त-दृष्टान्तादेरपि व्याप्तिप्रतिष्ठाव्युपयोगित्वात् व्युत्पन्नादेशया  
कथं तदप्रयोग इत्यह—

**हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च साध-  
न्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ॥ ९२ ॥**

हि शब्दो यस्मादर्थे । यस्मात्तथा व्याप्तिग्रहणं व्याप्तिग्रहणान्तिकमेवं व हेतु-  
प्रयोगो विधीयते सा च ताथन्मात्रेण व्युत्पन्नस्तथोपरस्याऽन्यथाव्युपपत्त्या वाऽत्रव्याधीसे  
दृष्टान्तादिकमन्तरेणवेत्यर्थः । यथा दृष्टान्तादेव्याप्तिप्रतिष्ठानां अर्थं तथा  
प्राप्त प्रपञ्चतविति नेह पुनः प्रत्यन्थते ।

नावि दृष्टान्तादिप्रयोगः साध्यसिद्धधर्यं फलवानित्याह—

**तावताच साध्यतिदिः ॥ ९३ ॥**

चकार एककारार्थं । निदिवलविषयासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेण ताध्यतिदि-  
रित्यर्थः ।

होने पर हो धूमवाला हो सकता है । अद्वित के अभाव में धूमवाला नहीं  
हो सकता ॥ ९१ ॥

**शब्दा—**साध्य-साधन के अतिरिक्त-दृष्टान्त आदि का प्रयोग सीधा व्याप्ति  
के ज्ञान कराने में उपयोगो है, किर व्युत्पन्न पुरुषों की अपेक्षा से उनका  
अप्रयोग क्यों ? इसके विषय में ( समाधान ) कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**जैसे व्याप्ति का ग्रहण हो जाय, उस प्रकार से हेतु का प्रयोग  
किया जाता है, अतः उतने मात्र से व्युत्पन्न पुरुष व्याप्ति का निश्चय कर  
लेते हैं ॥ ९२ ॥

हि शब्द यस्मात् अर्थ में है । जैसे व्याप्ति का ग्रहण हो जाय इस  
प्रकार व्याप्ति के ग्रहण का उल्लंघन न करते हुए हेतु का प्रयोग किया  
जाता है । वह व्याप्ति उतने मात्र से व्युत्पन्नों के द्वारा तथोपपत्ति अथवा  
अन्यथाव्युपपत्ति के द्वारा दृष्टान्तादिक के बिना निश्चित की जाती है, वह  
तात्पर्य है । जिस प्रकार दृष्टान्तादिक व्याप्ति के ज्ञान के प्रति कारण  
नहीं हैं, उसका कथन 'एतद्दृष्टमेवानुमानाङ्ग' इत्यादि सूत्र की व्याख्या  
कर चुके हैं, अतः यहीं पुनः विस्तार नहीं किया जाता है ।

दृष्टान्तादि का प्रयोग साध्य की सिद्धि के लिए फलवान् नहीं है, इसके  
विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**उतने मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है ॥ ९३ ॥

'च' शब्द एकार के अर्थ में है । जिसका विषय में रहता निश्चित

तेष्व पक्षप्रयोगोऽपि सफल हति द्वौयन्नाह—

### तेन पक्षस्तदाधार-सूचनायोवतः ॥ ९४ ॥

यतस्तथोपत्थन्यथानुपपत्तिप्रयोगमात्रेण व्याप्तिप्रतिपत्तिस्तीम हेतुना पक्ष-  
स्तदाधारसूचनाय साध्यव्याप्तसाधनाधारसूचनायोक्तः । ततो यद्युक्तं परेण—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।

स्थाप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥ २२ ॥

इति तन्मिरस्तम्; अनुपन्नं अति यथोक्तहेतुप्रयोगोऽपि पक्षप्रयोगमात्रे साध्य-  
नियताधारसानव्याधारणात् ।

अथानुमानस्वरूपं प्रतिपादेदानीं क्रमप्राप्तमागमस्वरूपं निरूपयितुमाह—

### आप्तवचनादि-निरूपनमर्थज्ञानमागमः ॥ ९५ ॥

रूप से असम्भव है, ऐसे हेतु के प्रयोगमात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, यह अर्थ है ।

यथोक्त साधन से साध्य की सिद्धि होती है, अतः पक्ष का प्रयोग भी सफल है, इस बात को दिखलाते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—साधन से व्याप्त साध्य रूप आधार की सूचना के लिए पक्ष कहा जाता है ॥ ९४ ॥

चूंकि तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के प्रयोग मात्र से व्याप्ति की आनंदकारी हो जाती है, इस कारण उस आधार की सूचना के लिए—  
साध्य व्याप्त साधन के आधार की सूचना के लिए पक्ष का प्रयोग किया जाता है । अतः बीढ़ों ने जो कहा है—

क्लोकार्थ—जो ( अव्युत्पन्न ) पुरुष साध्य व्याप्त साधन को नहीं आनंदते हैं, उनके लिए विजञ्जन दृष्टान्त (महानसादि) में साध्य-साधनभाव या पक्ष-हेतुभाव को कहते हैं, किन्तु विद्वानों के लिए केवल एक हेतु ही कहना चाहिए ॥ २२ ॥

उनके इस कथन का निराकरण कर दिया गया है । अव्युत्पन्न पुरुष के प्रति यथोक्त हेतु का प्रयोग करने पर भी पक्ष-प्रयोग के अभाव में साधन के निश्चित नियत आधारता का निश्चय नहीं करता है ।

अब अनुमान के स्वरूप का निरूपण कर इस समय क्रम प्राप्त आगम का स्वरूप निरूपित करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—आप्त के वचन आदि के निश्चित से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं ॥ ९५ ॥

यो यत्तावश्चकः स तत्त्वाऽप्तः । आप्तस्य चक्षनम् । आदिशब्देनाङ्गुलयादि-  
संज्ञापरिग्रहः । आप्तवचनमादिर्यस्य तत्त्वथोक्तम् । तमित्यन्तर्मनं यस्यार्थज्ञानस्येति ।  
आप्तवचनमेगदानादपीरुषेयत्वस्यचक्षेदः । अर्थज्ञानमित्यनेमन्यापोहज्ञानस्याभिप्राय-  
सूचनस्य च निरापः ।

मन्वसम्भवीद छक्षणम्; शब्दस्य नित्यवेनपीरुषेयत्वादाप्तप्रज्ञोत्त्वासोगाह् ।  
सन्नित्यर्थं च तद्वचनवानां दण्डिनां व्यापकत्वान्तित्वत्वाच्च । न च तदुपरक्त्वम्  
सिद्धम्; एकत्र प्रयुक्तस्य गकारादेः प्रत्यभिज्ञाया देशान्तरेऽपि ग्रहणात् । स एवायं

**विशेष—'**अर्थज्ञान आगम है' यह कहने पर प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति  
हो जायगी, अतः उसके परिहार के लिए 'वाक्य निबन्धन' कहा है।  
वाक्यनिबन्धन अर्थज्ञान आगम है, ऐसा कहने पर भी अपनी इच्छा से  
कुछ भी बोलने वाले, उन्हें वाले लोगों के वाक्य, सोए हुए तथा उन्मत्त  
पुरुषों के वचनों से उत्पन्न होने वाले अर्थज्ञान में लक्षण के चले जाने से  
अतिव्याप्ति दोष होगा। अतः आप्त विशेषण लगाया है। आप्तवचन  
जिसमें कारण है, ऐसा ज्ञान आगम है, ऐसा कहने पर आप्त वाक्य जिसका  
कर्म है, ऐसे आप्त प्रत्यक्ष में अतिव्याप्ति दोष हो जायगा, अतः उसके  
निराकरण के लिए अर्थ विशेषण दिया है। आप्तवचन जिसमें कारण है  
ऐसा अर्थज्ञान आगम है, ऐसा कहे जाने पर पराथीनुपान में अतिव्याप्ति  
हो जायगी, अतः उसके परिहार के लिए आदि पद ग्रहण किया गया है।

जो जहाँ अवश्यक है, वह वहाँ आप्त है। आप्त का वचन आप्त-  
वचन है। आदि शब्द से अङ्गुली आदि का संकेत ग्रहण करना चाहिए।  
आप्त के वचनादि जिस अर्थज्ञान के कारण हैं, वह आगम प्रमाण है।  
आप्त शब्द के ग्रहण से अपीरुषेय रूप वेद का निराकरण किया गया है।  
'अर्थज्ञान' इस पद से अन्यापोहज्ञान का तथा अभिप्राय के सूचक शब्द  
सन्दर्भ का निराकरण किया गया है। (जैसे किसी ने कहा 'घड़ा लाखी',  
तब जल लाने रूप अर्थ के अभिप्राय को मन में रखकर लाता है। उस  
समय उसके अभिप्राय की सार्थकता नहीं है, हो सकता है मौगाने वाले का  
तात्पर्य जल लाने से भिन्न घट से हो । )

**मीमांसक—**यह लक्षण असम्भव दोष से युक्त है। शब्द नित्य होने  
से अपीरुषेय है, अतः उसका आप्तप्रणीत होना नहीं बन सकता है। शब्दों  
की नित्यता उसके अवयवरूप वर्णों की व्यापकता और नित्य होने से सिद्ध  
है। वर्णों का व्यापकपना असिद्ध भी नहीं है। एकदेश में प्रयुक्त गकार आदि

गकार इति निश्चयमपि तथैवावसीयते, कालान्तरेऽपि तस्यैव गकारादेवनिश्चयात् । इहो वा हिन्दूर्व तदवस्था रुद्राद्युत्तराद्युपादतेऽपि ।

तथाहि— गृहीतसञ्ज्ञेतस्य वाक्यस्य प्रब्रह्मसे सत्यगृहीतसञ्ज्ञेतः शब्द इदानीमन्य एवोपलभ्यते इति तत्कथमध्यप्रत्ययः स्वात् ? न चासी न भवतीति स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानस्यान्यकापि सुलभत्वाच्च । न च वर्णानां वाक्यस्य वा नित्यत्वे सर्वे: सर्वदा अवणप्रसञ्जः; सर्वदा तदभिव्यक्तेरसम्भवात् । तदसम्भवत्वाभिव्यज्जकवायूर्ना प्रतिनियतस्वात् । न च तेषामनुष्ठपनतत्कम्; प्रवाणप्रतिपन्नस्वात् । तथाहि— बक्तुमुखनिकटदेशवक्तिभिः स्यादनिनाव्यक्तेण व्यञ्जका वायुवो गृह्णते । दूरदेशस्थितेन मुखसमीपस्थिततूल्यवलनादनुभीयन्ते । श्रोतृश्रोतवेशं शब्दध्वणान्यद्यानुपस्थितरथादित्यापि निश्चीयते ।

---

वर्ण का प्रत्यभिज्ञान से अन्य वेज में भी ग्रहण किया जाता है कि यह वही गकार है । इसी प्रकार वर्णों की नित्यता भी मानी जाती है, कालान्तर में भी उसी गकारादि वर्ण का निश्चय किया जाता है । इस शब्द से यह पदार्थ ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार का सञ्ज्ञेत अन्यथा नहीं हो सकता, इस अन्यथानुपपत्ति से शब्द नित्य सिद्ध होता है ।

इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

जिसका सञ्ज्ञेत ग्रहण किया गया है, ऐसे शब्द के छंस होने पर जिसका सञ्ज्ञेत ग्रहण नहीं किया गया है, ऐसा शब्द इस समय अन्य ही ग्राम होता है, तो अर्थ का निश्चय कैसे हो ? अर्थ का निश्चय न होता हो, ऐसा भी नहीं है । यह शब्द वही है, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान अन्यत्र भी सुलभ है । ऐसा भी नहीं है कि वर्ण अथवा शब्द के नित्य मानने पर सभी लोगों के द्वारा सुनने का प्रसङ्ग आयेगा; क्योंकि वर्णों अथवा शब्दों की सदैव अभिव्यक्ति असम्भव है । उस असम्भव का कारण यह है कि वर्णों और शब्दों की अभिव्यज्जक वायु प्रतिनियत है । वर्णों या शब्दों की अभिव्यज्जक वायु का न पाया जाना भी नहीं कह सकते; क्योंकि वायु का शद्ग्राव प्रमाणों से स्वीकृत है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

वक्ता के मुख के निकट स्थित पुरुष स्पर्शन प्रत्यक्ष से व्यञ्जक वायु का ग्रहण करते हैं । दूर बैठे हुए पुरुष द्वारा ( वक्ता के ) मुख के सभीप में स्थित वस्त्रादि के हिलने से उनका अनुभान किया जाता है तथा श्रोता के कर्त्तव्रदेश में शब्द के श्रवण की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापति के द्वारा भी उन वर्णों का निश्चय किया जाता है ।

किञ्चन—उत्पत्तिपक्षेऽपि समानोऽर्थं थोकः । तथा हि—वाय्वाकाङ्गसंयोगा  
क्रसमवायिकारणादाकाशाच्च त्रिमैत्रेशात्मविभगेनोल्लभमानोऽर्थं  
शब्दो न मर्वेत् भूयते, अपि तु नियत-दिग्देशस्तीरेव । तथाऽभिव्यज्यमानोऽपि  
नायभिव्यक्तिसाङ्कृत्यम्; उभयत्रापि समावृत्तदेव । तथा हि—अन्यैस्तात्माद्विभिन्न-  
संयोगीश्चाहन्यो वर्णो न क्रियते, तथा उत्पन्नतरस्ताऽभिव्यज्यमानोऽपि व्यनि-  
नवरित्यमते । इत्युल्लयभिव्यवतयोः समानत्वे नैकत्रैव पर्यनुयोगावसर इति सर्वं  
सुखम् ।

हे नैयायिक ? तुमने अभिव्यक्ति पक्ष में वर्ण और शब्द की नित्यता  
मानने पर सदैव सबके श्रवण हो, इस प्रकार दूषण दिया है तो उत्पत्तिपक्ष  
में भी मेरे हारा उसी प्रकार का दोष दिया जाता है, इस प्रकार दोनों  
जगह समान दोष है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—वायु और आकाश  
के संयोग रूप असम्बवायि कारण से तथा आत्मास रूप सम्बविक्तारण से  
दिशादेश आदि के अविभाग से उत्पन्न होने वाला यह शब्द सभी जनों  
के सुनने में नहीं आता है, अपितु नियत दिशा और देश में स्थित पुरुषों के  
हारा ही वह सुना जाता है । उसी प्रकार अभिव्यक्ति का वायु के हारा अभि-  
व्यक्त होने वाला भी शब्द सभी के सुनने में नहीं आता, अपितु नियत  
दिशा और देश में स्थित पुरुषों को वह सुनने में आता है । जैसे दीपक  
अन्धकार के प्रदेश में विद्यमान घट पटादि का प्रकाशक होता है, उसी  
प्रकार अभिव्यक्ति कारणों के मिलने पर वर्ण और शब्दों की अभिव्यक्ति  
एक साथ हो जाना चाहिये, इस प्रकार अभिव्यक्ति का साङ्कृत्य हो  
जायेगा, यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि इस प्रकार का अभिव्यक्ति  
साङ्कृत ती नित्य और अनित्य दोनों पक्षों में समान है । तास्यर्थं यह कि  
जिस प्रकार अन्य तालु आदि के संयोग से अन्य वर्ण उत्पन्न नहीं किया  
जा सकता, किन्तु ताल्वादि जिस शब्द का अनुसरण करते हैं, उसे अभि-  
व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार अन्य ध्वनि का अनुसरण करने वाले तालु  
आदि से अन्य ध्वनि की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती । इस प्रकार  
उत्पत्ति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष की समानता होने पर किसी एक-एक  
पक्ष में आश्रीय नहीं किया जा सकता ( कहा भी है—जहाँ पर दोनों को  
समान दोष हो और उसका परिहार भी एक जैसा हो, उस अर्थ के  
निरूपण में किसी एक पर प्रश्न नहीं किया जा सकता है ) । इस प्रकार  
हमारा ( मीमांसकों का ) सब कथन ठीक है ।

मामृदुणिं तदात्मकस्य वा शब्दस्य कौटस्यनित्यत्वम् । तथाप्यनादिपरम्पराऽत्यतल्येन वेदस्य नित्यतात् प्राणुकालक्षण्याद्यापकात्वम् । न च प्रवाहुनित्यत्वमप्रभागक्येवास्येति युक्तं वक्तुम् । अथुना तत्कुरुत्वपलम्भादतीतानागतयोरपि कालयोस्तदनुमापकस्य लिङ्गस्याभावात् । तदभावोऽपि सर्वदायतीन्द्रियसाध्यसम्बन्धस्येन्द्रियशास्त्रायोग्यात् । प्रत्यक्षप्रतिष्ठनमेव हि लिङ्गम् । 'अनुमार्ति' हि गृहीतसम्बन्धस्यैकदेशसम्बद्धनात्, असम्निकुष्टेऽप्य बृद्धिः इत्यभिवानात् । नाप्यर्थपत्तेस्तत्त्वादिः, अनन्यथाभूतस्यार्थस्याभावात् । उपमानोपमेययोरप्रत्यक्षात्वाच्च नाप्युपमानं साधकम् । केवलभावप्रमाणमेवावधिव्यते; तच्च सद्भावसाधकमिति । न च पुरुषसद्भाववद्यापि दुःसाध्यत्वात्संशयापत्तिः; तदभावसाधकप्रमाणानां सुलभत्वात् । अथुना हि तदभावः प्रत्यक्षमेव । अतीतानागतयोः

वर्णों की अथवा तदात्मक शब्द की कौटस्यनित्यता न हो, फिर भी अनादि परम्परा में आये हुए वेद की नित्यता के कारण आपका पूर्वोक्त आगम का लक्षण अव्यापक है । वेद की प्रवाहुनित्यता अप्रामाणिक है, ऐसा कहना ठीक नहीं है । वर्तमानकाल में उसका कर्ता कोई प्राप्त नहीं होता, अतः अतीत और अनागतकाल में वेद के कर्ता के अनुमापक लिङ्ग का अभाव है । उसका अभाव भी इसलिये है कि अतीन्द्रिय साध्य और साधन का सम्बन्ध कभी भी इन्द्रियों के द्वारा प्रहृण नहीं किया जा सकता है । लिङ्ग तो प्रत्यक्ष के द्वारा परिज्ञात ही होता है । जिसने ( साध्य और साधन के अविनाभावरूप ) सम्बन्ध को प्रहृण किया है ऐसे पुरुष के ही ( साधन रूप ) एकदेश के देखने से परीक्ष पदार्थ में जो बुद्धि होती है, वह अनुमान है, ऐसा कहा गया है ।

अथपिति प्रमाण से भी वेद के कर्ता की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि अनन्यथाभूत पदार्थ का अभाव है । उपमान और उपमेय के अप्रत्यक्ष होने से उपमान भी साधक नहीं है । केवल एक अभाव प्रमाण ही अविकृष्ट रहता है । वह अभाव प्रमाण वेद के कर्ता के अभाव का साधक है । जिस प्रकार वेद के कर्ता की पुरुष का सद्भाव सिद्ध करना दुःसाध्य है, अतः संशय की आपत्ति आती है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वेद के कर्ता के अभाव के साधक प्रमाण सुलभ हैं । वर्तमानकाल में वेद के कर्ता का

१. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्तुसत्त्वावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ १ ॥

काल्पोरनुमानं तदभ्यसाधकमिति । तथा च—

अतीतानागती काली वेदकारविवर्जिती ।

कालशब्दाभिधेयत्वादिदानीन्तनकालवत् ॥ २३ ॥

वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥ २४ ॥ इति

तथा अपीरुपेयो वेदः, अनविष्णुनसम्प्रदायत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृक्त्वादाकाशवत् । अथापित्तिरपि प्रामाण्यलक्षणस्थार्थस्थानन्यथाभूतस्य दर्शनातदभावे निश्चीयते; वर्णादातीन्द्रियार्थविषयस्य वेदस्यार्थाद्विशिष्टिः कर्तुमाणक्यात् । अतीन्द्रियार्थदर्शनस्थानभावात्प्रामाण्यमणीरुपेयतामेव कल्पयतीति ।

बत्र प्रतिविष्णीयते—यस्ताद्बुद्धत्वं वर्णनां व्यापित्वे नित्यस्ये च प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति, तदसत्; प्रत्यभिज्ञायास्तत्र प्रमाणत्वायोगात् । देशान्तरेऽपि तदीयं वर्णस्य सत्त्वे खण्डशः प्रतिपत्तिः स्यात् । न हि सर्वं व्याप्त्या वर्तमानसौकर्म्यन्

अभाव प्रत्यक्ष ही है, अतीत और अनागतकाल अनुमान वेद के कर्ता के अभाव का साधक है । कहा भी है—

इलोकार्थ—अतीत और अनागतकाल वेद को बताने वाले पुरुष से रहित हैं; क्योंकि वे 'काल' शब्द के बावजूद हैं, जैसे कि इस समय का वर्तमानकाल ॥ २३ ॥

यस्तु—फिर वेद का अध्ययन कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में कहते हैं—

वेद का अध्ययन तदध्ययनपूर्वक है; क्योंकि वह वेदाध्ययन का बाब्य है । जैसे कि वर्तमानकाल का अध्ययन ॥ २४ ॥

तथा वेद आपीरुपेय है; क्योंकि विच्छेदरहित सम्प्रदाय के होने पर भी उसके कर्ता का स्मरण नहीं है, जैसे आकाश के कर्ता का स्मरण नहीं है । अथापिति भी प्रामाण्यलक्षण अनन्यथाभूत अर्थ के दर्शन से वेद के कर्ता के अभाव का निश्चय करती है; क्योंकि धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाले वेद का अल्पज्ञ पुरुषों के द्वारा प्रणयन करना अवश्य है । अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शी ( सर्वज्ञ ) का अभाव होने से वेद की प्रमाणता उसकी अपीरुपेयता को ही सिद्ध करती है ।

उक्त कथन का उत्तर देते हैं—जो आपने कहा कि वर्णों के व्यापक और नित्य होने में प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, यह ठीक नहीं है; क्योंकि वर्णों के व्यापकत्व और नित्य होने में प्रत्यभिज्ञान के प्रमाणता नहीं है । यदि प्रमाणता हो तो दूसरे स्थान पर भी उसी एक वर्ण का सत्त्व आनन्दे पर

प्रदेशो सामस्तयेन ग्रहणभुपपस्तियुक्तम्; अव्यापकत्वप्रसङ्गात् । घटादेरपि व्यापकत्वं-  
प्रसङ्गश्च । शक्यं हि वक्तुमेवम्—घटः सर्वगतश्चधुरादिसन्निधानाद्वेकत्र देहो  
प्रतीयत इति ।

ननु घटोत्पादकस्य मृत्यिष्ठादेहेनेकस्योषलमभादनेकत्वमेव । तथा महदणुपरि-  
माणसम्भक्त्वेति । तच्च वर्णेष्वपि समानम्; तत्रापि प्रतिनियततालबादिकारण-  
कलापत्वं तीव्रादिवर्षमेवस्य च सम्भवादिरोधात् । साल्वाक्षीर्ना व्यक्तुकत्वमत्रैव  
निषेद्धत्वा इत्यास्तां तादेवतत् ।

अथ व्यापिरकेऽपि सर्वत्र सर्वात्मना वृत्तिमत्वान्त दोषोऽप्यमिति चेन्म; तथा  
सति सर्वत्रैकत्वविरोधात् । न हि देशभेदेन युगपत्सर्वात्मना प्रतीयमानस्यैकत्वमुप-  
पन्नम्; प्रमाणविरोधात् । तथा च प्रयोगः—प्रत्येकं गकारादिवर्णोऽनेक एव; युक्त-  
खण्ड-खण्ड प्राप्ति होती । ( किन्तु खण्डवः प्राप्ति नहीं होती है ) । जो  
व्याप्ति ऐसी थी जगह वर्तमान है, उसका एवं पठेन्ह में समस्त रूप से  
प्रहण युक्तियुक्त नहीं है । एक प्रदेश में समस्त रूप से ग्रहण मानने पर  
व्यापकपने का प्रसंग आता है । ( वर्ण व्यापक भी हो और एक प्रदेश  
में सर्वात्मना विद्यमान भी हो तो ) घटादि के भी व्यापकपने का प्रसंग  
आता है । फिर तो यह कहा जा सकता है—घट सर्वात्मत है; क्योंकि चक्र  
आदि के सन्निधान से एक होते हुए भी अनेक स्थानों पर प्रतीति में  
आता है ।

**मीमांसक**—घट के उत्पादक मिट्टी का पिण्ड, चक्र आदि अनेक  
कारणों की प्राप्ति होती है तथा महत् और अणु परिमाण भी पाया जाता  
है ( अतः घट के अनेकता है ) ।

**जैन**—कारण का भेदपना तो वर्णों में भी समान है । उनमें भी  
प्रतिनियत तालु, कण्ठ आदि कारण समूह और तीव्र मन्द आदि धर्म भेद  
के सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है ।

**तालु आदि** के व्यञ्जकपने का यहीं निषेध किया जायेगा, अतः यह  
कथन यहीं रहने दीजिए ।

**मीमांसक**—वर्णों की व्यापकता मानने पर भी सर्वत्र सर्वात्म रूप से  
उनके पाए जाने पर यह दोष नहीं आता है ।

**जैन**—यह बात ठीक नहीं है । ऐसा होने पर वर्ण को एकता का  
विरोध आता है । तात्पर्य यह कि यदि व्यापक एक प्रदेश में सम्पूर्ण रूप  
से है, पुनः अन्यत्र प्रदेश में सम्पूर्ण रूप से है तो अनेकत्वपना प्राप्त होती  
गया । देशभेद से युक्त सर्वात्म रूप से प्रतीत होने वाले वर्ण की  
एकता नहीं बन सकती; क्योंकि प्रमाण से विरोध आता है । तात्पर्य यह

पविभव्यदेशात्मा तर्थैव सर्वत्प्रभोपलभ्यमालत्वात्, घटादिवत् । न सामान्येन व्यभिचारः, सस्यापि सदृशपरिणामात्मकस्यानेकत्वात् । नापि पर्वतादनेकप्रदेशस्थतया युगपदनेकदेशस्थितपुरुषपरिदृश्यमानेन अन्द्राकांदिना व्यभिचारः, सस्यतिदविष्ठतयैकदेशस्थितस्यापि आनन्दवस्तादनेकदेशस्थत्वेन प्रतीतेः । न चाद्यान्तस्य आन्तेन व्यभिचारकल्पना युक्तिः । नापि अल्पाशप्रतिबिम्बेन, सस्यापि अन्द्रान्तिरित्विभिन्नेन तथा गतिगमनान्तरान्तरात् । इस दनेकप्रदेशो युगपत्सर्वात्मने प्रवर्त्तमानं प्रत्यभिज्ञानं न प्रमाणप्रिति स्थितम् ।

तथा नित्यत्वस्यि न प्रत्यभिज्ञानेन निष्ठीयत हति । नित्यत्वं हि एकस्यानेक-क्षणव्यापित्वम् । तच्चान्तराले सत्तानुपलभ्येन न क्षक्षते निष्ठेतुम् । न च प्रत्यभिज्ञानबलेनैवान्तराले सत्तासम्भवः, सस्य सादृश्यादपि सम्भवाविरोधात् । न च

---

कि एक ही घड़ा प्रत्यक्ष से एकदेश में उपलभ्य होने पर वही अन्यथ प्राप्त नहीं होता है, इसी प्रकार का वर्ण भी है, इस प्रकार प्रत्यज्ञादि प्रमाण से विरोध आता है । प्रथोग इस प्रकार है—

गकार आदि प्रत्येक वर्ण अनेक ही हैं; क्योंकि एक साथ भिन्नभिन्न देशों में प्रत्येक वर्ण अपने पूर्ण रूप से पाया जाता है, जैसे घटादि । सामान्य एक होते हुए भी अनेकत्र प्रतीति में आता है, अतः उससे उक्त हेतु में व्यभिचार आता है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि सदृश परिणामात्मक वह सामान्य भी अनेक प्रकार का होता है । पर्वतादि अनेक प्रदेश स्थित रूप से एक साथ अनेक देशस्थ पुरुषों के हारा दिखाई देने वाले एक चन्द्र या सूर्य आदि से हेतु में व्यभिचार आता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चन्द्र सूर्यादि के अति दूरवर्ती होने से एक देशस्थ भी अन्द्र-सूर्यादि को आन्द्र के बाह्य अनेक देशस्थ रूप से प्रतीति होती है । अध्रान्त की आन्त से व्यभिचार कल्पना करना युक्त नहीं है । और न जल से भरे हुए पात्र में दिखाई देने वाले चन्द्र सूर्यादि के प्रतिबिम्ब से व्यभिचार आता है; क्योंकि चन्द्र सूर्यादि के सामीक्ष्य की अपेक्षा कर जल के तथारूप से परिणत उस प्रतिबिम्ब के भी अनेकता है । इसलिए अनेक प्रदेश में एक साथ सर्वत्प्रभ रूप से उपलब्ध होने वाले गकारादि का एक होना असम्भव है, अतः उसके क्षापित्व में प्रवर्त्तमान प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, यह सिद्ध हुआ ।

नित्यता का निष्ठव्य भी प्रत्यभिज्ञान से नहीं होता है । एक वस्तु का अनेकक्षणव्यापी होना नित्यता है । वह अन्तराल में सत्ता के न पाए जाने से निष्ठव्य नहीं की जा सकती है । और प्रत्यभिज्ञान के बल से

धटाकाकथेवे प्रसङ्गः; तस्योत्पसावपरापरमुत्पिष्ठामतरलक्षणास्य कारणस्यासम्भाव्यमानत्वेनामतराले सत्तायाः सादृशितुं शब्दस्थात् । अत्र तु कारणाचामपूर्वाणां व्यापारे सम्भावनाज्ञो नाम्नराले सत्तासम्भव इति ।

**यच्चान्यदुक्तम्**—‘सङ्केतात्यथानुपपत्तेः शब्दस्य नित्यत्वमिति’, इदमप्यनाम्न-भावितमेव; अनित्येऽपि योजयितुं शब्दस्थात् । तथाहि……गुहीतसङ्केतस्य दण्डस्य प्रष्टवेते सत्यमृहीतसङ्केत इकानीमन्य एव दण्डः सम्पुलस्यत इति दण्डीति न स्यात् । तथा धूमस्यापि गुहीतव्याप्तिकस्य नाथे अन्यथूमक्षर्णाद्विनिहितज्ञानाभावश्च । अत्र सादृश्यात्था प्रतीतेन दोष इति विद्वापि सादृश्यवशादर्थप्रत्यये को दोषः? येन नित्यत्वेऽपि दुरभिनिवेदा आश्रीयते । तथा कल्पतायामतराले सत्तदमपदृष्टे न कल्पितं स्यादिति ।

**यच्चान्यक्तिभिहितम्**—‘अथाकानां प्रतिनियतत्वान्व युगपत् श्रुतिरिति, तदण्ड-

अन्तराल में वर्णों की सत्ता पाया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि सादृश्य से भी प्रत्यभिज्ञान के सम्भव होने में कोई विरोध नहीं आता है । घटादिक ने कि ऐसा उद्देश नहीं बताया; यद्योकि घट कि उत्पत्ति में अन्य अन्य मृत्पिण्ड रूप लक्षण वाले कारण की असम्भावना से अन्तराल में सत्ता सिद्ध करना शब्द है । शब्द में तो अपूर्व कारणों के व्यापार की सम्भावना है, अतः अन्तराल में वर्णों की सत्ता सम्भव नहीं है ।

और जो कहा गया कि संकेत अन्यथा नहीं हो सकता, अतः शब्द के नित्यता है, यह भी अनात्मक भावित ही है; क्योंकि ऐसी योजना तो अनित्य दण्डादि में भी की जा सकती है । इसी की व्याख्या करते हैं—जिसका संकेत ग्रहण किया था, ऐसे दण्ड का विनाश हो जाने पर जिसका संकेत ग्रहण नहीं किया गया है, ऐसा अन्य ही दण्ड इस समय पाया जाता है अतः उस पुरुष को दण्डी नहीं कहा जाना चाहिए । तथा जिसकी व्याप्ति ग्रहण की है, ऐसे धूम के भी नाश हो जाने पर अन्य धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान नहीं होना चाहिए । मीमांसक का यदि यह कहना है कि सादृश्य से उस प्रकार की प्रतीति होने में दोष नहीं है तो यहाँ शब्द में भी सादृश्य के वश वदार्थ का निश्चय होने में क्या दोष है? जिससे शब्द की नित्यता में दुरापह का आश्रय कर रहे हैं । सादृश्य के वश अर्थ की कल्पना करने पर अन्तराल में नहीं दिखाई देने वाले सत्त्व की भी कल्पना नहीं करनी पड़ेगी ।

और अन्य जो कहा कि व्यक्तिक वायुओं के प्रत्येक वर्ण में निश्चित होने से एक साथ शब्दों का सुनना नहीं होता, यह बात भी अद्वितीय

स्थितितत्त्वाभिन्नः; समानेन्द्रियग्राहीषु समानधर्मसु समानदेशेषु विषयविविधेषु नियमाद्योगात् । तथा हि—श्रोतुं समानदेश-समानेन्द्रियग्राहा-समानधर्मायशास्त्रात्-र्थानां ग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति, इन्द्रियत्वात्, चक्षुष्टेत् । अब वा वा प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्या न भवन्ति, समानदेश-समानेन्द्रियग्राहा-समानधर्म-पश्चत्वे सति युग्मविन्द्रियसम्बद्धत्वात्; अद्यादिवत् । उत्पत्तिपञ्चव्यक्तेः धोषः समान इति न वाच्यम्; मृत्युष्ठङ्ग-दीपदृष्टान्ताभ्यां कारक-व्यक्तिकपलयोविलोपसिद्धेरित्यलभ-तिजलिपत्तेन ।

यच्चात्यत्—प्रवाहनित्यत्वेन वेदस्याधीर्णेयत्वमिति तत्र कि शब्दमात्रस्यात्मा-दिनित्यत्वमुत्त विशिष्टानामिति ? आद्यपक्षे य एव शब्दः लौकिकात्म एव वैदिका इत्यत्प्रभेदमभिधीयते वेद एवापौरुषेय इति । किन्तु रावेषामयि शास्त्राणांभीरुपेय-सेति । अथ विशिष्टानुपूर्विका एव शब्दा अनादित्वेनाभिधीयन्ते; तेषामवगताचर्त्तान-

पुरुष के कथन के समान प्रतीत होती है; क्योंकि समान एक कर्णेन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाले, उदात्त, अनुदात्त आदि समान धर्म वाले, आकाश लक्षण समान देश वाले विषय ( शब्द )—विषयी ( कर्णेन्द्रिय ) में प्रति-नियत कारण होने से अभियक्ति के नियम का अदोष होने से एक साथ ग्रहण होता है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

कर्णेन्द्रिय समान देश, समान इन्द्रियग्राहा और समान धर्म वाले वर्थी ( गकारादि शब्दों ) के ग्रहण करने के लिए प्रतिनियत पूर्यक्-पूर्यक् लक्षण वाली वायु के संस्कार से संस्कारित नहीं होती है; क्योंकि वह इन्द्रिय है, जैसे—चक्षु । अथवा शब्द प्रतिनियत संस्कारों से संस्कारित नहीं होते हैं; क्योंकि समान देश, समान इन्द्रियग्राहा और समान धर्म वाले होकर एक साथ श्रोत्र इन्द्रिय से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं; जैसे—घटादि । उत्पत्ति पक्ष में भी यह दोष समान है, यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि मिट्टी का पिण्ड और दीपक के दृष्टान्त से कारक और व्यक्तक पक्ष में विशेषता सिद्ध है, अतः अधिक कहने से बस ।

और मोर्मांसकों ने जो प्रवाह की नित्यता से वेद की अपीरुपेयता कही, उस पर हमारा प्रश्न है कि वेद के अपीरुपेयत्व में क्या शब्द मात्र के अनादि नित्यता है या विशिष्ट शब्दों के ? आदि पक्ष में जो शब्द लौकिक हैं, वे ही वैदिक हैं । अतः आप अल्प ही यह कहते हैं कि वेद ही अपीरुपेय हैं । अपितु समस्त शास्त्रों की अपीरुपेयता कहना चाहिए । यदि विशिष्ट अनुक्रम से आए शब्द हो अनादि कहे जाते हैं तो उनमें से अवगत शब्दों

ममवशतार्थीनां या अनादिता स्यात् ? यदि साबदुत्तरः पक्षस्तथाऽग्नानलक्षणमप्राप्य-  
व्यभनुष्यते । अथ आद्य एष आश्रीयते, तद्वाह्यातारः किञ्चिज्ञा भवेयुः सर्वज्ञा  
या ? प्रथमपक्षे दुरशिगमसम्बन्धानामप्यन्यथाऽप्यर्थस्य कल्पयितुं लक्ष्यत्वात् मिथ्या-  
त्वलक्षणमप्राप्य स्यात् । सबुत्तम्—

अथमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न ।

कल्पयोऽप्यमर्थः पुरुषेस्ते च रागादिविपलुताः ॥ २५ ॥

विक्ष्य— किञ्चिज्ञज्ञात्याख्यातार्थविशेषाद् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यस्य  
'खाद्येच्छृङ्खमांसम्' इत्यपि वाक्यार्थः किं न स्यात्, संक्षयलक्षणमप्राप्य च ।

अथ सर्वविद्विद्यतार्थ एव वेदोऽनादिपरम्पराऽप्यात् इति चेत् 'हन्त घर्मे  
चोदनैव प्रमाणम्' इति हन्तमेतत्; अतीत्विद्यार्थप्रत्यक्षीकरणसमर्थस्य पुरुषस्य सञ्चारे  
च तद्वचनस्यापि ओदनावसदव्यवेषकत्वेन प्रामाण्याद्वेदस्य पुरुषाभावसिद्धेस्तत्रति-  
व्यवहकं स्यात् ।

के अनादिता हैं या अनवगत पुरुषों के ? यदि उत्तरणक्षण स्वीकार करते हैं  
तो अज्ञान लक्षण प्राप्यार्थ का प्रसङ्ग प्राप्त होता है । यदि पहले पक्ष का  
आश्रय लेते हैं तो उसके व्याख्याता या तो अल्पश्च होंगे या सर्वज्ञ ? प्रथम  
पक्ष में जिन वैदिक वाक्यों के अर्थ का सम्बन्ध कठिनाई से जाना जा  
सकता है, उनके अर्थ की अल्पश्च अन्यथा भी कल्पना कर सकते हैं, इससे  
मिथ्यात्वलक्षण अप्राप्य प्राप्त होता है । वही कहा गया है—

इलोकार्थ—( मेरा ) यह अर्थ है और यह अर्थ नहीं है, यह शब्द नहीं  
कहते हैं । यह अर्थ पुरुषों के द्वारा कल्पित है और वे पुरुष राग, द्वेष और  
मोह से बाधित हैं ॥ २५ ॥

दूसरी बात यह है अल्पश्च पुरुष के द्वारा व्याख्यात किए गए अर्थ विशेष  
से 'स्वर्ग की कामना वाला अग्नि होत्र का हृवन करे', इस वाक्य का अर्थ  
'कुत्सि का मांस खाए', यह क्यों न हो, इस प्रकार संक्षय लक्षण वाली  
प्रमाणता क्यों न हो ?

यदि कहो कि सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञात ही वेद अनादि परम्परा से आया  
है तो वेद की बात है कि यज्ञादि धर्म में वेद वाक्य ही प्रमाण हैं, यह  
कथन नष्ट हो जाता है । व्योमिक धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रत्यक्ष करने  
में समर्थ पुरुष का सद्भाव होने पर अतीन्द्रिय पदार्थ को प्रत्यक्ष करने में  
समर्थ पुरुष के बचन भी वेद वाक्य के समान अतीन्द्रिय पदार्थ के धर्म के  
अवबोधक होने से प्रमाणता को प्राप्त होंगे । इस प्रकार यह वाक्य वेद  
की अपीरुषेयता का प्रतिवर्त्तक होगा ।

अथ सह्यास्त्रालूपारे किञ्चिच्चज्ञत्वेऽपि यथार्थव्याख्यानपरम्पराया अनवच्छिन्नं-  
सन्तानत्वेन सत्यार्थं एव वेदोऽप्यसीयत् इति वेम्न; किञ्चिज्ज्ञानाभतीनिष्ठायेऽपि  
निःसंशयव्याख्यानायोगादत्येनाऽकृत्यमाणस्यान्धस्यानिष्टवेष्यरिहरेणाभिमतप्रथा-  
पणात्मपत्तेः ।

किञ्चच—अनादिव्याख्यानपरम्पराऽगतत्वेऽपि वेदार्थस्य गृहीतविस्मृतसम्बन्ध-  
वचनाकौशलाकृष्टाभिप्रायतया व्याख्यानस्यान्धर्थं वचनादिविसंखादायेवादप्रामाण्यमेव  
स्यात् । दृश्यन्ते इत्यधुनातना अपि ज्योतिःशास्त्रादियु रहस्यं यथार्थमिवयन्तोऽपि  
दुरभिसन्धेरन्यथा व्याख्याताणाः । केचिद्ज्ञानन्तोऽपि वचनाकौशलाकृत्यथोपदिशन्तः ।  
केचिद्विस्मृतसम्बन्धाअवायातत्त्वमिवधाना इति । कथमन्यथा भावना-विविन्योग-  
वाक्यार्थप्रतिपत्तिर्विदे स्यात्मनु-याज्ञवल्क्यादीनां शुत्यर्थनुपारिस्मृतिनिरूपणार्था-  
वा । तत्मादनादिप्रवाहृपतितत्वेऽपि वेदस्यायथार्थेत्वमेव स्यादिति हितम् ।

वेद के व्याख्याता अल्पज्ञ हैं, यथार्थ व्याख्यान की परम्परा से जिसकी  
सन्तान अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, ऐसा वेद सत्यार्थ रूप में ही  
जाना जा रहा है, यदि कामका कवन यह हो तो यह कौटुम्ब नहीं  
है । अल्पज्ञ पुरुष अतीनिद्रिय पदार्थों के विषय में निःसन्देह व्याख्यान नहीं  
कर सकते । जैसे कि अन्धे के द्वारा खींचा जाता हुआ अन्धा अनिष्ट देश  
को छोड़कर अभीष्ट देश को नहीं पहुँच सकता ।

दूसरी बात यह है कि वेद का अर्थ अनादिकाल से चली आ रही  
व्याख्यान परम्परा द्वारा आया हुआ मान भी लैं तो भी मुख से गृहीत अर्थ का  
सम्बन्ध विस्मृत ही जाने से या वचन की अकुशलता से अथवा दुष्ट अभिप्राय  
से यदि अर्थ का व्याख्यान अन्यथा कर दिया जाय तो उसमें यथार्थ-  
तत्त्व की प्रकाशता का अभाव होने से अविसंबादकता न रहने से वह  
व्याख्यात अर्थ अप्रमाण हो जायगा ।

एतत्काल सम्बन्धी भी व्याख्याता देखे जाते हैं जो ज्योतिषशास्त्रादि  
के यथार्थ रहस्य को जानते हुए भी दुष्ट अभिप्राय से अन्यथा व्याख्या  
करते हैं । कोई-कोई जानते हुए भी वचन कौशल न होने से अन्यथा  
उपदेश देते हैं । कोई-कोई वाक्यार्थ का सम्बन्ध भूल जाने के कारण तथ्य  
को अयथार्थ कहते हुए देखे जाते हैं । अन्यथा वेद में भावना, विधि और  
नियोग रूप वाक्यार्थ का विवाद कैसे हो सकता था अथवा मनु, वाज-  
वल्क्य आदि की श्रुति के अर्थ का अनुसरण करने वाली स्मृति को  
निरूपणाओं में विभिन्नता कैसे होती ? इसलिए अनादि कालीन आचार-

परम्परा रूप प्रवाह से समाप्त होने पर भी वेद के अथवार्थता ही है, यह बात स्थित हुई।

विशेष—भाज्ञाज्ञादी भाग कहते हैं कि इसी भावना ही वेदवाक्य का अर्थ प्रतीति में आ रहा है। भावना के २ भेद हैं—शब्द भावना और अर्थ भावना। शब्द के व्यापार को शब्द भावना कहते हैं। 'अग्निष्टोमेन' इत्यादि के द्वारा पुरुष का व्यापार होता है। उस पुरुष के व्यापार से धातु का अर्थ सिद्ध होता है और उससे फल होता है अर्थात् पुरुष के व्यापार में शब्द का व्यापार है तथा धात्वर्थ में पुरुष का व्यापार है, वही भावना है, धातु का सुदृढ़ अर्थ भावना नहीं है, अन्यथा विधि ही अर्थ ही जावेगा। सकलव्यापिनी 'करोति' क्रिया लक्षण वालों क्रिया सभी धातुओं में संभव है, वही सर्वव्यापिनी क्रिया भावना है। 'पञ्चति, पशाच, पश्पति' इन क्रियाओं में भी पाक करोति इत्यादि अर्थ ही व्याप्त है। अतः "करोति" क्रिया का अर्थ ही वेदवाक्य का अर्थ है। यह "करोति" क्रिया का अर्थ सामान्य रूप है और यज्यादि उसके विशेष रूप हैं। यह सामान्य क्रियाकर्ता के व्यापार रूप है, इसे ही अर्थभावना कहते हैं। शब्द का व्यापार भावना है, वह पुरुष के व्यापार को करती है, अतः वह भावना ही वेदवाक्य का विषय है।<sup>१</sup>

विधिवादियों का कहना है कि विधि ही सर्वत्र वेदवाक्य में प्रधान है; क्योंकि वहो प्रवृत्ति का अज्ञ है, किन्तु प्रतिषेध प्रवृत्ति का अज्ञ नहीं है, अतः वह प्रधान भी नहीं है। कहीं जलादि में प्रवृत्ति करने की इच्छा करते हुए सभी पुरुष विधि-जलादि के अस्तित्व को ही खोजते हैं, वही जलादि में पररूप के प्रतिषेध की अन्वेषणा के होने पर परिसमाप्ति नहीं होती है, क्योंकि पररूप तो अनन्त है, उनका कहीं भी जलादि में प्रतिषेध करना शक्य नहीं हो सकता है<sup>२</sup>।

"अग्निष्टोभादि वाक्य से मैं नियुक्त हुआ हूँ", इस प्रकार से निरवदेश योग को नियोग कहते हैं। वही भी किचित् चिद् भावना रूप कार्य

१. अष्टसहस्री टीका, प्र० भाग (आठिका ज्ञानमती जी द्वारा लिखित सारांश

पृ० १७०-१७१)

२. अष्टसहस्री, प्र० भाग पृ० ८७।

यज्ञोक्तम् 'अतीतानागतीवित्यादि' तद्यि स्वप्रतिमूलहेतुत्येव विपरीत-  
साक्षात्तदाभासमेवेति । तथाहि....

अतीतानागती काली वेदार्थज्ञविविजितौ ।

कालशब्दाभिधेयत्वादभुनातनकालवत् ॥२६॥ इति

सम्भव नहीं है, क्योंकि आपके यही नियोग का अनेक वक्ताओं ने खारह प्रकार से किया है ।

१. कोई कहते हैं कि जो लिङ्, लोट और तत्त्व प्रत्यय का अर्थ है, शुद्ध है, अन्य निरपेक्ष है एवं कार्यरूप (यज्ञरूप) है, वही नियोग है ।

२. वाक्यान्तर्गत कर्मादि अवयवों से निरपेक्ष शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है ।

३. प्रेरणा सहित कार्य ही नियोग है ।

४. कार्य सहित प्रेरणा को नियोग कहते हैं; क्योंकि कार्य के बिना कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता है ।

५. कार्य को ही उपचार से प्रवर्तक कहकर उसे नियोग कहते हैं ।

६. प्रेरणा और कार्य का सम्बन्ध ही नियोग है ।

७. प्रेरणा और कार्य का समुदाय ही नियोग है ।

८. इन दोनों से विनिमूलत स्वभाव ही नियोग है ।

९. वन्नारुद्ध—याम लक्षण कार्य में लगा हुआ जो पुरुष है, वही नियोग है ।

१०. भोग्य-भवित्वत् रूप ही नियोग है ।

११. पुरुष ही नियोग है ।

भावनावादी भाटू हैं, विधिवादी ब्रह्माद्वैतवादी हैं और नियोगवादी प्रभाकर हैं। क्या कारण है कि भाटूओं के मत में भावना ही वाक्यार्थ है, ब्रह्माद्वैतवादियों के मत में विधि ही वाक्यार्थ है और प्रभाकरों के मत में नियोग ही वाक्यार्थ है? इन तीनों में मतवैभिन्न क्यों है? अल्पज होने के कारण वेद के या वेद के अर्थ का ठीक परिज्ञान न होने से मनु, याजकलक्ष्य आदि ने अन्यथा प्रतिपादन किया है; क्योंकि उनमें मतवैद हैं।

और जो अपने "अतीतानागती" इत्यादि श्लोक कहा है वह भी मीमांसक मत के निमूलन का कारण होने से विपरीत अर्थ का साधन करने से अनुमानाभास ही है। इसी बास को स्पष्ट करते हैं।

श्लोकार्थ—अतीत और अनागत काल वेदार्थ के जानने वाले से

१. अष्टसंहस्री, प० भाग ( आविका शानमती जी कुत टीका प० ४७ ( नियोग-  
वार्ता के स्थान का सारांश )

किञ्च—कालशब्दाभिधेयस्तमसोतानागतयोः कालयोग्रहणे सति अवलि । तदग्रहणे च नाध्यकालस्तयोरन्तीन्द्रियत्वात् । अनुमानतस्तदग्रहणेऽपि न साध्येन सम्बन्धस्तयोर्निश्चयेत् पार्थते; प्रत्यक्षगृहीतस्वैव तत्सम्बन्धाभ्युपगमात् । न च कालाल्ये द्रव्यं मीमांसकस्याद्दिति । प्रसंगसाधनाददोष इति चेन्म; परम्प्रति साध्यसाधनयो-  
ज्ञायित्वायापकभावाभावात् । इदानीभपि देखान्तरे वेदकारस्याङ्कादेः सौगमादिभि-  
रभ्युपगमात् ।

रहित हैं; क्योंकि अतीत और अनागत काल काल शब्द के बाच्य हैं। जो काल शब्द का बाच्य होता है, वह वेदार्थज से रहित होता है, जैसे कि वर्तमान काल वेदार्थज से रहित है ॥२६॥

दूसरी बात यह है कि अतीत और अनागत कालों के ग्रहण करने पर ही वे काल शब्द के बाच्य हो सकते हैं। अतीत और अनागत कालों का ग्रहण प्रत्यक्ष से तो होता नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही अतीन्द्रिय हैं? यदि कहा जाय कि अनुमान से उन दोनों कालों का ग्रहण होता है (जैसे कि अतीत और अनागत काल हैं;) क्योंकि वे काल हैं, जैसे—वर्तमान-काल। चूंकि मध्यवर्ती वर्तमान काल देखा जाता है, अतः उसके पहले और पीछे होने वाले अतीत और अनागत काल का भी सद्भाव सिद्ध है। इस प्रकार के अनुमान से काल का ग्रहण हो जाने पर भी उन दोनों कालों का वेदकार विवर्जित रूप साध्य के साथ सम्बन्ध निश्चित करना संभव नहीं है। (काल शब्द अभिधेय है, अतीत और अनागत काल होने से, वर्तमान काल के समान, इस अनुमान रूप साध्य से काल शब्दाभिधेय के साथ अतीत अनागत कालोंने का सम्बन्ध निश्चित करना सम्भव नहीं है)। जो प्रत्यक्ष से गृहीत है, ऐसे साधन के ही साध्य और साधन का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। मीमांसक मत में काल नामक द्रव्य नहीं है। (मीमांसक मत में काल द्रव्य स्वीकार न होने से अतीत और अनागत वेद को बनाने वाले से रहित हैं; क्योंकि वे काल शब्द के बाच्य हैं, इस अनुमान में, क्योंकि वे काल शब्द के बाच्य हैं), यह साधन स्वरूप से ही न होने से यह हेतु स्वरूपासिद्ध है, यह भाव है)। प्रसंग साधन से कोई दोष नहीं है, यदि ऐसा कहो तो वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि पर के प्रति (वेद का कर्ता है ऐसा कहने वाले के प्रति) साध्य और साधन में (वेद-कार विवर्जित और काल शब्दाभिधेयत्व में) व्याप्ति और व्यापक भाव का अभाव है। अथवा इस समय यदि वेद के कर्ता का ग्रहण नहीं होता

यद्यपरं—‘वेदाध्ययनमित्यादि’ तदपि विषेऽपि समानम्—

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

लद्ययनस्वाच्छवादध्ययनाध्ययनं यथा ॥ २६॥ इति

यच्चाभ्यशुक्तम्—‘अनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वे भल्यस्मर्यमाणकर्तुं कर्त्वादिति, तत्र जीर्णकूपारामादिभिर्व्यभिचारनिवृत्य थेमनवच्छिन्नसम्प्रदायत्वविशेषेऽपि विशेषस्या-स्मर्यमाणकर्तुं कर्त्वस्य विश्वार्थमाणस्यायोगादसाधनत्वम् । कर्तुरस्मरणं हि वादिनः प्रतिवादिनः सर्वस्य वा ? वादिनहेदमुपलब्धेरभावाद्वा ? आच्चे पक्षे विट्कव्येऽपि स्वादनुपलब्धेरविशेषात् । तत्र परैः तत्कर्तुरङ्गीकारान्नो चेत एवाश्रापि न

है तो अतीत और अनामत काल में भी कर्ता का ग्रहण नहीं होना चाहिए । ( साध्य-साधन में व्यापक-व्यापक भाव की सिद्धि होने पर व्याप्य का स्वीकार व्यापक के स्वीकार के विना नहीं बन सकता, इस प्रकार जहाँ कहा जाता है वह प्रसंग साधन है ) ।

वर्तमान काल के दृष्टान्त के बल से व्याप्य-व्यापकभाव बन जायगा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस समय भी देशान्तर में सीमत आदि ने अष्टक आदि को वेद का कर्ता स्वीकार किया है ।

और जो आपने “वेदाध्ययनमित्यादि” श्लोक कहा है, वह विषेष अर्थात् पौरुषेय पक्ष में भी समान है—

श्लोकार्थ—महाभारत का सर्व अध्ययन गुह के अध्ययन पूर्वक है; क्योंकि वह अध्ययन पद का वाच्य है; जैसे कि वर्तमान काल का अध्ययन ॥ २७ ॥

और जो कहा गया है कि वेदाध्ययन की अविलिङ्गन परम्परा होने पर उसके कर्ता का स्मरण नहीं है, इस हेतु मैं जीर्ण, शीर्ण, कूप, उद्घान आदि से होने वाले व्यभिचार की निवृत्ति के लिए अनवच्छिन्न सम्प्रदायत्वविशेषण के लाने पर भी विशेष पद जो अस्मर्यमाण कर्तुकर्त्व है, वह विचार किए जाने पर सिद्ध नहीं होता है । कर्ता का स्मरण वादी को नहीं या प्रतिवादी को नहीं या सभी को नहीं ? यदि वादी को नहीं तो क्या उसकी उपलब्धि नहीं होने से वादी को कर्ता का अस्मरण है अथवा अभाव होने से वादी को कर्ता का स्मरण नहीं है ? आदि पक्ष में त्रिपिटक में भी अपीरुषेयता प्राप्त हो जायगी; क्योंकि वेद के समान उसके कर्ता की भी उपलब्धि नहीं है । यदि कोई कहे कि पिटकत्रय का तो बीदों ने कर्ता स्वीकार किया है, अतः उन्हें अपीरुषेय नहीं माना जा सकता तो हमारा कहना है कि वेद का किसी ने कर्ता स्वीकार किया अतः वेद भी

तदस्तु । अभावादिति चेदस्मासदभावसिद्धावितरेतराभ्यर्थम्—सिद्धे हि सदभावे  
तन्निक्षेप्त्वं तदस्मरणमसभाच्च तदभाव इति । प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेस्तदभावान्ते-  
तरेतराश्रयत्वमिति चेत्वा; प्रामाण्येनाप्रामाण्यकारणस्यैव पुरुषविशेषस्य निराकर-  
णान् पुरुषमात्रस्यानिराकृतेः । अत्रातीन्दियार्थदशिनोऽभावादन्यर्थं च प्रामाण्य-  
कारणत्वानुपपत्तेः सिद्धे एव सर्वथा पुरुषमात्र इति चेत्कुतः सर्वज्ञाभावी विभा-  
वित ? प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति चेदितरेतराश्रयर्थम् । कर्तुरस्थरणादिति चेत्पूर्वक-  
कप्रसङ्गः ।

अपौरुषेय नहीं माना जा सकता । कर्ता का अभाव होने से स्मरण नहीं है, यदि यह पक्ष लिया जाय तो कर्ता के अस्मरण से वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध करने में इतरेतराश्रय दोष प्राप्त होता है । वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध होने पर उसके निमित्त से वेद के कर्ता का अस्मरण सिद्ध हो और जब वेद कर्ता का अस्मरण सिद्ध हो, तब वेद के कर्ता का अभाव सिद्ध हो । यदि कहो कि प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति से वेद के कर्ता का अभाव होने पर उस वेद के प्रमाणता नहीं बन सकती, अतएव इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है, सो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति से सो अप्रमाणता के कारणभूत पुरुषविशेष का ही निराकरण किया गया है, उससे पुरुषमात्र का निराकरण नहीं होता ।

**सीमांसक**—अलीन्द्रिय पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ का अभाव है और अन्य अल्पज्ञ पुरुष के प्रमाणता का कारणपना नहीं बनता है, अतः पुरुष का अभाव सर्वथा सिद्ध है ।

**जैन**—आपने सर्वज्ञ का अभाव कैसे जान लिया ? प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति से कहें तो इतरेतराश्रय दोष आता है अथवा जब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो जाय, तब वेद की प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति सिद्ध हो और जब प्रामाण्यान्यथानुपपत्ति सिद्ध हो, तब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो । यदि वेद के कर्ता का स्मरण न होने से सर्वज्ञ का अभाव कहें तो चक्रक नाम के दोष का प्रसंग आता है । ( बार-बार उन्हीं वातों के दुहराने की चक्रक दोष कहते हैं, ( जैसे चक्र घूमने पर उसके आरे बार-बार घूमकर सामने आते हैं । वेद के कर्ता का स्मरण न होने से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो, सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होने पर वेद के प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध हो, वेद के प्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति सिद्ध होने पर कर्ता का अभाव सिद्ध हो, इस प्रकार पुनः-पुनः प्रसंग आने से एक की भी सिद्धि न होने पर चक्रक नामक दोष होता है । तीन बार अथवा बार बार घूमना चक्रक दोष है । )

अभावप्रमाणादिति चेन्म; लक्षणाधकस्यानुमानस्य प्राप्तं प्रतिपादित्वादभाव-  
प्रमाणोत्थानायोगात् प्रमाणपञ्चकाभावेऽभावप्रमाणप्रवृत्तेः ।

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।

वस्त्वसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥२८॥

इति पर्वरभिधानात् । ततो न वादितः कतुरस्मरणमुपपन्नम् । नायि प्रतिवादितोऽसिद्धेः । तत्र हि प्रतिवादी स्मरणेव कतरिभिति । नायि सर्वस्य वादितो वेदकतुरस्मरणेऽपि प्रतिवादिनः स्मरणात् ।

तनु प्रतिवादिना वेदेऽष्टकादयो बहवः कर्त्तरः स्मर्यन्ते, असत्तस्मरणस्य  
विवादविवेयस्याप्रामाण्यादृभवेदेव सर्वस्य कतुरस्मरणभिति चेन्म; कतुविशेषविविक्षण-  
एवासौ विवादो न कर्त्तुमान्ये । एहं सर्वस्य कतुरस्मरणस्यसिद्धम् । 'सर्वतिम-  
मानरहितो वा कर्थं सर्वस्य कतुरस्मरणमर्वति ? तस्मादपौरुषेयस्य वेदे व्यवस्था-

**भीमांसक—अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है ।**

**जैन—**यह बात ठीक नहीं है । सर्वज्ञ के साथक अनुमान का पूर्व में  
प्रतिपादन किया जा चुका है, अतः अभाव प्रमाण के उत्थान का योग  
नहीं है । पर्योगों प्रमाणों के अभाव में अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है ।

**कलोकार्य—**जिस वस्तु के स्वरूप में प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति  
नहीं होती है, वहाँ वस्तु की असत्ता जानने के लिये अभाव प्रमाण की  
प्रमाणता है ॥ २८ ॥

ऐसा भीमांसकों ने कहा है । अतः वादी के कर्त्ता का अस्मरण तो  
बनता नहीं है । न ही प्रतिवादी के बनता है; क्योंकि असिद्ध हेतु है ।  
प्रतिवादी तो वेद के कर्त्ता का स्मरण करते ही हैं । सभी के ( वादी और  
प्रतिवादी दोनों के ) ही कर्त्ता का स्मरण नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं  
है; क्योंकि वादी के वेद के कर्त्ता का स्मरण न होने पर भी प्रतिवादी के  
तो वेद के कर्त्ता का स्मरण है ही ।

**शङ्का—**चूँकि प्रतिवादी के हारा वेद में अष्टक आदि बहुत से  
कर्त्तव्यों का स्मरण किया जाता है, अतः विवाद के विषयभूत उनका  
स्मरण अप्रामाण्य होने से सभी के कर्त्ता का अस्मरण ही भावना चाहिये ।

**समाधान—**यह बात ठीक नहीं है । यह विवाद कर्त्ता—विशेष के  
विषय में ही है, न कि कर्त्ता सामान्य के विषय में । अतः सभी के कर्त्ता  
का अस्मरण भी असिद्ध है । समस्त आत्माओं के ज्ञान से रहित भीमांसक  
कैसे सभी के कर्त्ता का अस्मरण जानता है ? अतः वेद में अपौरुषेयता की

परितु प्रश्नाकथनान् तलक्षणस्याव्यापकात्वमसम्भवितस्ये वा सम्भवति । पौरुषेयत्वे  
पुनः प्रमाणानि बहूनि सन्धेव ।

सजन्ममरणिंगोत्तरणादिनाभश्रुते-

रनेकपदसंहितप्रतिनियमसन्दर्शनात् ।

फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिनिवृत्तिहेत्वात्मनां,

श्रुतेत्वं मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः ॥२९॥ इति वचनात्

अपौरुषेयत्वेऽपि वा न प्रामाण्यं वेदस्योपयुक्तते; तदेतूनां गुणानामभावात् ।

ननु न गुणकृतमेव प्रामाण्यम्; किन्तु दोषाभावप्रकारेणापि । स च दोषान्वय-  
पुरुषाभावेऽपि निश्चीयते, न गुणसद्भाव एवेति । तथा षोक्तम्—

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्भक्तिवधीन इति स्थितम् ।

तदभावः कवचित्सावद् गुणवद्भवतुकत्वतः ॥३०॥

व्यवस्था करना अशक्य होने से पूर्वोक्त आगम लक्षण के अव्यापकता और  
असम्भवता रूप दोष सम्भव नहीं हैं । वेद की पौरुषेयता के विषय में  
बहुत से प्रमाण ही ही ॥

**इलोकार्थी**—जन्म और मरण सहित अृषियों के गोत्र, आचरण आदि  
के नाम वेद मूर्स्ती में सुने जाते हैं । अनेक पदों के समूह रूप पृथक्-पृथक्  
शब्द रचना आदि के प्रतिनियम भी वेद में देखे जाते हैं, फलार्थी पुरुषों  
के लिए 'स्वर्ग' का इच्छुक अग्निष्टोम से यज्ञ करे, हत्यादि प्रवृत्ति रूप  
और प्याज न खावें, मदिरा न पिये, गौ का पैर से स्पर्श न करे हत्यादि  
निवृत्ति वाक्य भी वेद में सुने जाते हैं, अतः अनुसृति के समान श्रुति  
और वेद वाक्य भी पुरुषकर्तृक ही हैं, ऐसा पात्रकेसरी स्वामी ने बहुत  
पञ्च नमस्कार नामक स्तोत्र में कहा है ॥ २९ ॥

वेद की अपौरुषेय मान भी लिया जाय तो भी वेद की प्रमाणता नहीं  
बनती है, क्योंकि प्रमाणता के कारणभूत गुणों का अभाव है ।

**शब्दः**—प्रमाणता गुणकृत ही नहीं होती, किन्तु दोष के अभावरूप  
प्रकार से भी प्रमाणता होती है । वह दोष का अभाव दोष के आश्रय  
पुरुष के अभाव में भी निश्चय किया जाता है, न कि गुण के सद्भाव में  
ही । जैसा कि कहा है—

**इलोकार्थी**—शब्द में दोष का उत्पन्न होना तो वक्ता के अधीन है,  
यह बात सिद्ध है । दोष का अभाव कहीं पर गुणवान् वक्तापने के अधीन

तदगुणैरपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात् ।

यद्वा वक्तुरभावेन न स्थुर्दीर्घा निराशयाः ॥३१॥

इति तदपाण्युक्तम्; पराभिप्रायापरिज्ञानात् । नास्माभिर्बलुरभावे वेदस्य प्रामाण्याभविः समुद्रभाव्यते; किन्तु तदधार्यात् एषामतीन्द्रियार्थदर्शनादिगुणाभावे । ततो दोषाणामनपोदितस्थानं प्रामाण्यनिश्चय इति । सतोऽपीश्वेष्वत्वेऽपि वेदस्य प्रामाण्यनिश्चयायोगान्वानेन लक्षणस्याद्याः पञ्चमसम्बिलत्य वंशलमात्रांलग्नेन ।

ननु शब्दार्थयोः सम्बन्धाभावादन्यादोहमात्राभिष्ठावित्वादाप्तप्रणीताकृपि शब्दात्कथं वस्तुभूतार्थविगम इत्यत्राह—

**सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्वि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥३२॥**

सहजा स्वभावभूता योग्यता शब्दार्थयोर्बच्यकार्यकालकिंतः, तस्यां वस्तुतस्त-

है; क्योंकि वक्ता के गुणों से दूर किंव गए पुनः शब्द में आना असम्भव है । अथवा वक्ता के अभाव से दोषों का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि दोष निराश्रय नहीं रह सकते ॥ ३०-३१ ॥

**समाधान**—यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि आपने जेन्टों के अभिप्राय को नहीं समझा है । हम जैन वक्ता के अभाव में वेद के प्रामाण्य का अभाव नहीं मानते हैं, किन्तु उस वेद के व्याख्याताओं के अंतीन्द्रिय पदार्थों को देखने आदि गुणों का अभाव है तथा गुणों के अभाव से दोषों का निराकरण न होने से वेद के प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता । अतः अपीश्वेष्य वेद के द्वारा हमारे आगम के लक्षण में न अव्यापकत्व दोष है और न असम्भवपना है । अतः अधिक बोलने से बस ।

**बीड़ी**—शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का अभाव होने से अन्य शब्द अन्य के निषेध मात्र को कहने वाला है, अतः आप प्रणीत भी शब्द से कैसे वस्तुभूत अर्थ की जानकारी होती है? इसके विषय में कहने हैं—

**बिदेष**—बीड़ों का कहना है कि नाम जात्यादि योजनासमक पदार्थ नहीं है । वाच्य वाचक रूप सम्बन्ध परतन्त्रता के कारण है, सिद्ध वस्तु में परतन्त्रता क्या है? अतः समस्त पदार्थों का तत्त्वतः सम्बन्ध नहीं है । बीड़ों की इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं—

**सूत्रार्थ**—सहज योग्यता के होने पर संकेत के वश से शब्दादि वस्तु का ज्ञान कराने के कारण हैं ॥ ३६ ॥

**सहजा**—स्वभावभूता योग्यता = शब्द और अर्थ की वाच्य-वाचक

द्वादृ हि रकुटं शब्दार्थः प्रागुक्ता वस्तुप्रतिपत्तिहेतव इति ।

उदाहरणभाष्ट—

### यथा भेदार्थः सन्ति ॥९७॥

नन् ए प्रय आद्याऽप्यादे शृणुमत् शब्दार्थादेऽपि दृश्यन्ते तत्कथमधीभित्त्वा-  
कल्पमिति ? तदन्ययुक्तम्; अनर्थकेऽथः शब्देभ्योऽर्थवतामन्यत्वत् । न चान्यस्य  
व्यभिचारेऽन्यत्यासौ युक्तोऽप्रतिसङ्घात् । अन्यथा मोपालघटिकामर्गतस्य धूमस्य  
पावकस्य व्यभिचारे पर्वतादिनमूस्यापि सत्प्रसङ्गात् । 'यत्नतः परिभित्त कार्यं  
कारणं नातिवर्तते' इत्यन्यथापि समानम् । सुपरीषितो हि शब्दोऽर्थं न  
व्यभिचरतीति ।

तथा अन्यापौहुस्य शब्दार्थत्वकल्पनं प्रयासमात्रमेव । न चान्यतोहः शब्दार्थो

भाव रूप शक्तिः, उसके होने पर संकेत के बश से स्फट रूप से पहले कहे  
गए शब्दादिक वस्तु का ज्ञान कराने में कारण होते हैं । ( यहाँ आदि  
शब्द से अङ्गुलि का संकेत आदि गृहीत होते हैं ) ।

उदाहरण कहते हैं—

सूत्रार्थ—जैसे—मेरु आदि हैं ॥ ९७ ॥

शब्दा—जो ही शब्द पदार्थ के होने पर उसके वाचक देखे जाते हैं, वे  
ही शब्द पदार्थ के अभाव में भी आकाश एवं अमल आदि के वाचक देखे जाते  
हैं तो वे अर्थ का कथन करले वाले कैसे माने जा सकते हैं ?

तथाधान—पह कथन ठीक नहीं है । ( रामादि नहीं हैं, किर भी  
उसके वाचक शब्द विद्यमान हैं, अतः शब्द अर्थ के वाचक कैसे हैं ? यह  
कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उनसे उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा  
रहा है, अपितु स्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है, अतः दोष नहीं  
है । ); क्योंकि अनर्थक शब्दों से सार्थक शब्द भिन्न हैं । अन्य के व्यभिचार  
में अन्य के व्यभिचार की परिकल्पना करता युक्त नहीं है, नहीं तो अति-  
प्रसङ्ग दोष लग जायेगा । यदि ऐसा होने लगे तो ऐन्द्रजालिक के घड़े  
के अन्तर्गत धुयें के होने पर भी अपिन का अभाव होने से व्यभिचार होने  
से पर्वतादि के धुयें के व्यभिचार का प्रसङ्ग आ जायेगा । 'यत्न से परि-  
भित्त कार्य कारण का उल्लंघन नहीं करता है, यह बात अन्यत्र भी  
( शब्द में भी ) समान है । सुपरीषित शब्द अर्थ का व्यभिचारी नहीं  
होता है ।

तथा अन्यापौह के (अन्य के निषेध के) शब्दार्थपने की कल्पना प्रयास

व्यवसिष्ठते, प्रतीतिविरोधात् । न हि गवादिशब्दशब्दणाशगवादिव्यावृत्तिः प्रतीयते । ततः सास्नादिमत्थर्थे प्रवृत्तिवर्णसाहगवादिबुद्धिजनकं तत्र शब्दान्तरं भग्यम् । अर्थकहमादेव गोशब्दादर्थं द्वयस्यापि सम्भावनान्तर्थः शब्दान्तरेत्तेति चेन्नैवम्; एकर्थं परस्परविवदार्थं द्वयप्रतिपादनविरोधात् । किञ्च गोशब्दस्यगो-व्यावृत्तिविषयत्वे प्रथममगोरिति प्रतीयेत । न चेत्पम्, अतो नान्यापोहः शब्दार्थः ।

किञ्च—अपोहाक्षयं सामान्यं वाच्यत्वेन प्रतीयमानं पर्युदासरूपं प्रसञ्जद्वयं का ? प्रथमपक्षे गोत्वमेव नाभान्तरेणोक्तं स्पात्; अभावभावस्य भावान्तरस्वभावेन व्यवस्थितत्वात् । कष्टाद्यमश्वादिनिवृत्तिलक्षणो मात्रोऽभिधीयते ? न लाभत्-

मात्र ही है । अन्यापोह शब्दार्थं नहीं ठहरता है, क्योंकि प्रतीति से विरोध आता है । गवादिशब्द के अर्थ से गवादिकी व्यावृत्ति प्रतीत नहीं होती है । गो आदि शब्द के सुनने से सास्नादिमान् अर्थ में प्रवृत्ति देखे जाने से जो अगवादि बुद्धि का जनक है ऐसा अन्य शब्द ( गो शब्द से भिन्न शब्द ) वहाँ पर ( गवादि में ) ढूँढना चाहिए । यदि कहो कि एक ही गो शब्द से ( विष्णि निषेध रूप ) दो अर्थ की सम्भावना होने से अतः अन्य शब्द से कोई प्रयोजन नहीं है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही शब्द के परस्पर विरोधी दो अर्थों का प्रतिपादन मानने में विरोध है । ( अर्थात् एकान्तवादियों के यहाँ एक ही शब्द का गवादि का अस्तित्व और अगवादि का निषेध रूप दो अर्थ मानने में विरोध है ) । दूसरी बात यह है कि गो शब्द ( गो शब्द का गोपिण्ड रूप भावार्थं यदि विषय न हो ) को जो गो नहीं है ऐसे अश्वादि व्यावृत्ति का विषय माने जाने पर आपके अभिप्राय के अनुसार पहले अगो की प्रतीति होना चाहिए । चूँकि ऐसा प्रतीत नहीं होता है, अतः अन्यापोह शब्द का अर्थ नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि वाच्यरूप से प्रतीयमान अपोह नामक सामान्य पर्युदासरूप है अथवा प्रसञ्जयरूप है ? ( नज् दो प्रकार के कहे गए हैं—पर्युदास और प्रसञ्जय । सदृश् पदार्थ को ग्रहण करने वाला पर्युदास है और निषेध करने वाला प्रसञ्जय है । ) प्रथम पक्ष में गोत्व ही अन्य नाम से कही जाती है । ( अन्यापोह की शब्दार्थपने रूप से वाच्यता ही तो सिद्ध साध्यता होती है, क्योंकि जब गोत्तिवृत्ति लक्षण सामान्य गो शब्द से आपके द्वारा कहा जाता है तभी हम लोग गोत्व नामक भावलक्षण सामान्य को गो शब्द से वाच्य कहते हैं ), क्योंकि अभाव का अभाव भावान्तर स्वभाव से व्यवस्थित होता है अर्थात् अपोह निवृत्ति लक्षण अभाव

स्वलक्षणरूपस्तस्य सकलविकल्पवामोचरातिकान्तव्यात् । नापि शाब्देयादिव्यस्ति  
रूपः; तस्यासामान्यत्वप्रसङ्गात् । तस्यात् सकलमोषप्रित्यनुवृत्तप्रत्ययजनकं सर्वं  
प्रत्येकं परिसमाप्त्या वर्तमानं सामान्यमेव गोशदद्वाच्यम् । तस्यापोह इति  
नामकरणे नामपार्थं भिष्ठेत, नामेत इति, अतो नामः पशः वेदान् । नापि  
द्वितीयः गोशददादेः क्वचिद्गृह्णेऽर्थं प्रवृत्ययोगात् । तुच्छाभावाम्बुपगमे परमत-  
प्रवेशानुषङ्गाच्य ।

किंच—गवाद्यो ये सामान्यशब्दा ये च शाब्देयादिव्यस्तेषां भवदभिप्राप्य  
पर्याप्तां स्यात्; अर्थभेदाभावाद् वृक्षपादप्रदिशद्वयत् । न खलु तुच्छाभावस्य  
भेदो युक्तः; वस्तुत्येव संस्कृत्येकत्वनानात्मादिविकल्पानां प्रतीतिः । भेदे वा

भावान्तर से वोपने से व्यवस्थित होता है । यह अश्वादिनिवृत्ति लक्षण-  
भाव कोइ कहा जाता है? ( इसर्वे एहु किं नेत्रिन रूप पदार्थ ही  
पदार्थ है । वगो शब्द से महिषादि का अभाव नहीं कहा जाता है, अपितु  
गो ही कहा जाता है ) । स्वलक्षण तो पदार्थ माना नहीं जा सकता,  
क्योंकि वह समस्त विकल्प रूप वृक्षों का विषय होने से वृक्षन अगोचर  
है । शाब्देय आदि व्यक्ति रूप वोपदार्थ भी अपोह का विषय नहीं माना  
जा सकता है अन्यथा अपोह के असामान्यत्वे ( विशेषणे ) का प्रसंग  
प्राप्त होता है । अतः समस्त गो व्यक्तियों में अनुवृत्ति प्रत्यय का जनक  
और उन्हीं में एक एक व्यक्ति के प्रति पूर्ण रूप से वर्तमान गोत्व सामान्य  
को ही गो शब्द का वाच्य मानना चाहिए । उसका 'अपोह', पह नाम  
करने पर नाम मात्र का ही भेद रहेगा, अर्थ से कोई भेद नहीं रहेगा ।  
अतः ( पर्युदास रूप ) प्रथम पश्च श्रेयस्कर नहीं है । प्रसज्ज्य रूप द्वितीय  
पश्च भी ठीक नहीं है, क्योंकि गो शब्द की किसी वाहिरी पदार्थ में प्रवृत्ति  
नहीं हो सकती है । प्रसज्ज्य रूप अपोह की तुच्छाभाव रूप मानने पर  
परमत ( नैयार्थिक भूत ) में प्रवेश का प्रसंग आ जायगा ।

दूसरा दोष यह भी है कि गो आदि जो सामान्य शब्द हैं, और शाब्देय  
आदि जो विशेष शब्द हैं, वे आपके अभिप्राय से एक अर्थ के वाची हो  
जायेंगे । ( द्रव्य, गुण, क्रिया रूप भेद होता है । शाब्देयत्व गुण है, उससे  
भेद होता है, इस प्रकार का लोक व्यवहार है, परन्तु आपके अभिप्राय से  
तुच्छ अभाव भेद नहीं ही है ); क्योंकि वृक्ष, पादप आदि शब्द के समान  
अर्थ में भेद नहीं रहेगा । तुच्छ अभाव ( नित्यभाव रूप अपोह ) का भेद  
युक्त नहीं है ( आपके मत में प्रसज्ज्य निषेध के अन्तर्कार करने से वस्तु

अभावस्य वस्तुतापत्तिः; तल्लक्षणत्वाद् वस्तुत्वस्य । न चापोह्यालक्षणसम्बन्धभेदाद् भेदः; प्रमेयाभिधेयादिकाद्यानामप्रवृत्तिप्रसञ्चात् । व्यवच्छेदस्यात्मद्रौपेणाप्यप्रमेयादि-कृपत्वे<sup>१</sup> ततो व्यवच्छेदायोगात् कर्तं तत्र सम्बन्धभेदाद् भेदः?

किञ्चन—शाब्देयादिक्येकोऽपोहो न प्रसन्न्येत; किन्तु प्रतिव्यक्तिं भिन्नं एव स्थात् । अथ शाब्देयादिक्येतन्म भिन्नमिति, तस्मांस्वादयोऽपि भेदका भासूदन् ; परस्यान्तरज्ञातः शाब्देयादयो न भेदकास्तस्याद्वादयो भेदका इत्यतिसाहस्रम् । वस्तुनोपि सम्बन्धभेदाद् भेदो नोपलभ्यते, किमुतावस्तुनि । तथाहि—एक एव ऐश्वर्यादिः कुरुकुरुद्वादिः त्रिश्चक्षुद्वादिः मात्रै न त्रिनात्यमास्तिष्ठुषानः समुप-लभ्यते इति । भवतु वा सम्बन्धभेदाद् भेदस्तथापि न वस्तुभूतस्याद्यमस्तरेणा-

---

नहीं है); क्योंकि यदार्थ वस्तु में ही अन्य से संयुक्तपना, एकत्रिपना, नानापना आदि विकल्पों की प्रतीति होती है । यदि अभाव में भेद माना जायगा तो अभाव के वस्तुपने की प्राप्ति होगी; क्योंकि भेदात्मकता ही वस्तुत्व का लक्षण है । अपोह्यालक्षण सम्बन्धी के भेद से अभाव में भेद माना नहीं जा सकता अन्यथा प्रमेय, अभिधेय आदि शब्दों की अप्रवृत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा । प्रमेय आदि शब्दों का व्यवच्छेद योग्य जो व्यप्रमेयत्व आदि है, वह यदि अतदरूप से अर्थात् अप्रमेय आदि रूप से अप्रमेय है तो अप्रमेयादि से प्रमेय आदि का व्यवच्छेद नहीं बन सकेगा, इसलिए प्रमेय, अभिधेय इत्यादि शब्द वाच्य अपोह में सम्बन्धी के भेद से भेद कैसे माना जा सकेगा ?

दूसरी बात यह है कि शाब्देय आदि में एक ही अपोह नहीं रह सकेगा, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिको भिन्न-भिन्न ही अपोह मानना पड़ेगा । यदि कहीं कि शाब्देय आदि गाथें अपोह में भेद नहीं करती हैं तो फिर अशब्दादिक अपोह में भेद करने वाले नहीं होना चाहिए । जिस अगोव्यावृत्ति रूप अपोह के अन्तरें शाब्देय आदि भेदक नहीं, उसके अशब्दादि भेदक है, यह कहना अति साहस है । पदार्थ का भी सम्बन्धी के भेद से भेद नहीं पाया जाता है तो अपोह रूप अवस्तु की तो बात ही क्या कहना ? इसे ही स्पष्ट करते हैं—एक ही देवदत्त आदि कटक, कुण्डल आदि से सम्बन्ध को प्राप्त होकर नानापन को प्राप्त हुआ नहीं पाया जाता है । अथवा सम्बन्धी के भेद से अपोह में भेद ही भी, तथापि परमार्थ रूप गोत्वादि

१. इदं प्रमेयं न भवतीति आत्मा अप्रमेयत्वम्, तदा प्रमेयत्वं न भवति आमविषयं भवति तदपेक्षयाऽप्रमेयहृष्णं प्रमेयतः । अपोहस्याप्रमेयादेः ।

परोपोहाश्वः सम्बन्धी भवतो भवित्वमहेति । तथा हि—यदि शाब्दलेपादिष्ठु वस्तुभूतसारलक्ष्याभावोऽवादिपरिहरिण तत्रैव विशिष्टाभित्रात्प्रत्ययौ कथं स्यात्म् । अतः सम्बन्धिभेदाद् भेदमिच्छत्वादिति सामान्यं वास्तवमञ्जीकर्तव्यमिति ।

किञ्च—अपोहाश्वाश्वार्थपक्षे सच्छेत् एवानुपपत्त्वः; तदप्रहणोपायासम्भवात् । न प्रत्यक्षं तदप्रहणसमर्थम्, तस्य वस्तुविषयत्वात् । अन्यापोहस्य आवस्तुत्वात् । अनुभानभिति न तत्सद्भावमवदोध्यति; तस्य कार्यस्वभावलिङ्गसम्पादत्वात् । अपोहस्य निरूपाख्येयत्वेनानर्थं क्रियाकारित्वेन च स्वभावकार्ययोरसम्भवात् । किञ्च गोशब्दस्यागोपोहाभित्वादित्वैज्ञानित्यत्र गोशब्दस्य किमभित्वेयं स्यात् ? अशात्स्य विवितिषेवयोरसमिकारात् । अगोव्यावृत्तिरिति चेदितरेतराश्वयत्वम्—अगोव्यवच्छेदो हि गोनिष्ठये भवति, स चागोगोविवृत्यात्मा गोशब्दवच्छेदस्य इति । अगोविरित्यश्रोतरपदार्थोऽप्यनवीव दित्ता चित्तनीयः । न च मीरित्यत्रात्य एव विवि-

सामान्य के दिता अपोह का आश्रयभूत सम्बन्धी आप बोडों के यहाँ होने थोग्य नहीं है । इसी को स्पष्ट करते हैं—यदि शाब्दलेप आदि में वस्तुभूत सामान्य का अभाव है तो घोड़ा आदि के परिहार से गो में ही विशिष्ट शब्द का उच्चारण और ज्ञान कैसे हो सकेगा ? चैकि सामान्य को न मानने पर विवित अपोह आश्रय सम्बन्धी सिद्ध नहीं होता है, अतः सम्बन्धी के भेद से भेद की इच्छा करने वाले सीगत को सामान्य वास्तविक रूप से अज्ञोकार करना चाहिए ।

दूसरी बात यह है कि अपोह ही शब्दार्थ है, इस पक्ष में सच्छेत् ही नहीं बन सकता है, क्योंकि अपोह को प्रहण करने का उपाय असम्भव है । प्रत्यक्ष प्रमाण अपोह को प्रहण करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तु को विषय करता है । अन्यापोह अवस्तु रूप है । अनुभान भी उन अपोह के सद्भाव का ज्ञान नहीं करता है, क्योंकि अनुभान कार्य और स्वभाव रूप लिङ्ग से उत्पन्न होता है । अपोह के निरूपाख्य होने और जल धारण आदि अर्थक्रियाकारित्व के अभाव के कारण कमशः स्वभाव और कार्यहेतु असम्भव है । दूसरी बात यह है कि गो शब्द के अगोव्यावृत्ति का वाचक मानने पर 'अगो' ऐसे वाक्य प्रयोग के समय गो शब्द का क्या वाच्य होगा ? अज्ञात पदार्थ के विधि और निषेध का अधिकार नहीं होता है । यदि गो शब्द का अगोव्यावृत्ति अर्थ प्रहण करेंगे तो इतरेतराश्वय दोष होगा । अगोव्यवच्छेद गो का निश्चय होने पर होता है । वह अगो गोवृत्ति रूप है और गो अगो व्यवच्छेद रूप है । 'अगो', यहाँ गो यह उत्तर पद है, उसका अर्थ इसी दित्ता से विचारना चाहिए । 'अगो' ऐसा

रुपो गोवाद्वामिधेयस्तथाऽपोहः शब्दार्थं इति विषटेत् । तस्मादपोहस्येनामुक्त्या  
विचार्यमणस्यायोगान्वान्यापोहः शब्दार्थं इति स्थितम्—‘सहजयोऽयतासङ्केतवक्ता-  
शब्दादयो वस्तु प्रतिपत्तिहेतकः’ इति ।

समृतिरनुपहतेर्य प्रत्यभिज्ञानवक्ता,

प्रमितिनिरतचिन्ता लैज्जिकं सञ्ज्ञतार्थम् ।

प्रवचनमनवक्त्यं निश्चितसं देववाचा

रचितमुचितवाग्मिभस्तथ्यमेतेत् गीतम् ॥ ९ ॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्तौ परोक्षप्रपञ्चस्सूतीयः समुद्रेशः ।

कहने पर गो शब्द का वाच्य विचित्र रूप अन्य ही हैं, जो कि अगो को निवृति रूप नहीं है, तब तो शब्द का वाच्य अपोह है, यह धारणा विधित हो जाती है। इस प्रकार उक्त युक्ति से विचारा गया अपोह सिद्ध नहीं होता, इसलिए अन्य का अपोह शब्द का अर्थ नहीं है, यह स्थित हुआ। गो आदि शब्द अपनी सहज योग्यता और पुरुष के सङ्केत के बश वस्तु का ज्ञान कराने में कारण हैं।

**इलोकार्थ—अतः** सिद्ध हुआ कि समृति निर्दोष है, प्रत्यभिज्ञान अकला करने योग्य नहीं है, तर्क प्रमिति का ज्ञान कराने में तिरत है, लैज्जिक अनुमान सञ्ज्ञत अर्थ वाला है और प्रवचन निर्दोष है, यह बात अकलङ्कृदेव की वाणी से मणिक्यनन्दि ने निश्चित की। तथा उचित वाणी से उद्घोर्णे (सूत्र रूप) रचा तथा मुझ अनन्तवीर्य ने यह तथ्य गाया ॥९॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में परोक्ष प्रमाण का विवेचन करने वाला सूतीय समुद्रेश समाप्त हुआ।



## चतुर्थः समुद्रदेशः

अथ स्वरूपसङ्कल्पाविप्रतिपत्तिं निराकृत्य विषयविप्रतिपत्तिनिरालार्थमाह—  
सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥

तस्य प्रमाणस्य ग्राह्योऽर्थो विषय इति यावत् । स एव विशिष्यते सामान्य-  
विशेषात्मा । सामान्य-विशेषी वक्ष्यशाश्वलक्षणोः, तावारमानी वस्त्रेति विश्रहः ।  
तदुभयं ग्रहणमात्मग्रहणं च केवलस्य सामान्यस्य विशेषस्य तदुभयस्य वा स्वतन्त्रस्य  
प्रमाणविषयत्वप्रतिपेक्षार्थम् ।

तत्र सम्भाप्तवेहस्य परमग्रहणो निरस्तत्त्वात्सवितरद्विधार्थते । तत्र साइस्त्रीः  
प्रधानं सामान्यमुक्ताम्—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसम्बर्मि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ३२ ॥

इति वक्षनात् ।

## चतुर्थ समुद्रदेश

प्रमाण के स्वरूप और संख्या विषयक विवाद का निराकरण करके  
अब विषय विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है ॥१॥**

उस प्रमाण के ग्राह्य पदार्थ को तदर्थं कहते हैं, वह प्रमाण का विषय है । वह पदार्थ सामान्य विशेषात्मक विशेषण से विशिष्ट है । सामान्य और विशेष जिनके लक्षण हम आगे कहेंगे, वे दोनों जिसकी आरम्भ हैं, यह विश्रह है । सामान्य और विशेष इन दोनों पदों का ग्रहण तथा आरम्भ का ग्रहण केवल सामान्य, केवल विशेष और स्वतन्त्र सामान्य विशेष की प्रसाण विषयता के निषेध के लिए है ।

इन दोनों मतों में से सत्ता मात्र देह वाले परम ब्रह्म का ( 'सावरण' इत्यादि सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर पूर्वमीमांसक के साथ सर्वज्ञ के विषय में विवाद के समय ) निराकरण किया जा चुका है अतः उससे भिन्न ( सांख्याभिमत प्रकृति रूप ) के विषय में विचार किया जाता है । सांख्यों ने प्रकृति रूप प्रधान को सामान्य कहा है—

**दलोकार्थ—व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक ( सुख दुःख मोहात्मक ) अपृथक् या अभिन्न, विषय, सर्वसाधारण, जड़ तथा परिणामी हैं । पुरुष उन दोनों से विपरीत भी है, एवं सदृश भी ॥३२॥**

तत्त्व के बहुत प्रधानं महादायिकार्यनिष्पादनाय प्रवर्तमानं किमप्यपेक्ष्य प्रवर्तते, निरपेक्ष्य वा । प्रथमपक्षे तन्निमित्तं वाच्यम्, यदपेक्ष्य प्रवर्तते । नगु पुण्यार्थं एव

**विशेष—**अविवेकी अर्थात् जैसे प्रधान अपने से अभिन्न या अपृथक् है, उसी प्रकार महाद इत्यादि व्यक्ति भी प्रधान से अभिन्न होने के कारण उससे अपृथक् हैं । अथवा अविवेकि का तात्पर्य यहाँ पर कार्य 'मिलकर उत्पन्न करना' है । कोई भी तत्त्व अकेला अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु दूसरे के साथ मिलकर ही समर्थ होता है । इसलिए किसी भी एक तत्त्व से किसी कार्य की किसी भी एक प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं ।

जिन विज्ञानवादी बौद्धों का यह कहना है कि विज्ञान ही मुख दुःख तथा मोह उत्पन्न करने वाले शब्द इत्यादि विषयों का आकार या रूप व्यारण कर लेता है, मुखादि स्वभाव वाले शब्द आदि इससे भिन्न या पृथक् कोई पदार्थ नहीं है, उनके उत्तर में कानिका में "विद्या" यह शब्द आया है । जिसका अर्थ है ग्राह्य अर्थात् विज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने योग्यता इसलिए उन्हें 'सामान्य' अर्थात् साधारण कहा, जिसका भाव यह हुआ कि वे अनेक पुरुषों से ग्रहण किए जाते हैं । प्रधान, बुद्ध इत्यादि सभी पदार्थ जड़ हैं । 'प्रसवधर्मि' अर्थात् जिसमें 'परिणाम' धर्म (नित्य) विद्यमान रहे । कारिकाकार का अस्तिप्रेत है कि व्यक्ति तथा प्रधान सदृश एवं भिन्न परिणामों से कभी भी वियुक्त नहीं रहते । जैसे व्यक्ति इन धर्मों से युक्त है, वैसे ही प्रधान भी । पुरुष इन दोनों से विपरीत (अर्थात् निर्गुण, विवेकी या असंहृत, अविषय, असाधारण अर्थात् प्रतिपिण्ड विभिन्न, चेतन तथा अपरिणामी) है । परन्तु प्रधान को ही भाँति पुरुष में भी कारणहीनता और विल्पता इत्यादि और इसी प्रकार व्यक्ति की ही भाँति असेक इत्यादि विद्यमान हैं, तब पुरुष इन दोनों से विपरीत है, यह कैसे कहा गया ? इसीलिए 'पुरुष उनके सदृश भी है'—ऐसा कहा । तात्पर्य यह है कि अद्यति इसमें कारणहीनता इत्यादि समान धर्म हैं तथा विनिर्मुणत्व इत्यादि विशेष धर्म भी हैं ।

**जैन—**वह अद्वितीय प्रधान महादायि कार्य के निष्पादन के लिए प्रवृत्त होता हुआ क्या कुछ अपेक्षा करके प्रवृत्त होता है या अपेक्षा किए बिना ही प्रवृत्त होता है । प्रथम यक्ष में जो कुछ भी अपेक्षा करके प्रवृत्त होता है, वह निमित्त प्रतिपादित करना चाहिए ।

तथा कारणम्; पुरुषार्थेन हेतुना प्रधानं प्रवर्तते । पुरुषार्थस्व वेदा; शब्दाशुपलिधि-  
गुणपुरुषान्तरविवेचनां स, इत्येतिपादविधिः जेतावत् । तथा प्रवर्तमानमयि  
वहयानकं पुरुषकृतं कञ्चिकुपकारं समासादयत्प्रवर्तते, अनासादयद्वा ? प्रधानपक्षे स  
उपकारस्तस्मादिभन्नोऽभिन्नो द्वा ? यदि भिन्नस्तदा तस्येति व्यपदेशाभावः सम्ब-  
न्धाभावात् तदभाववद्वा; समवायादेवनन्युपगमात् । तादारम्य च भेदविरोधीति ।  
अथाभिन्नं उपकार इति पक्ष आश्रीयते सदा प्रधानमेव तेन कुर्त स्यात् । अथोप-  
कारनिरपेक्षमेव प्रधानं प्रवर्तते, तर्हि मुक्तात्मानन्यत्यपि प्रवर्ततेताविदेशात् । एतेन  
निरपेक्षप्रवृत्तिपक्षोऽपि प्रत्युक्तस्तत एव । किञ्च सिद्धे प्रधाने सर्वमेतदुपपत्नं स्यात् ।  
न च तत्सदिः कुर्तव्यमिवजीयत इति ।

**सांख्य**—पुरुषार्थ ही प्रवृत्ति में कारण है । पुरुषार्थ हेतु से प्रधान प्रवृत्त  
होता है । पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है—(1) शब्द, रूप, रस, गन्ध,  
स्वर्ण को ग्रहण करना और (2) गुण और पुरुषान्तर के विवेक को  
देखना ।

**जैन**—आपका कहना सत्य है, किन्तु हमारा प्रश्न है कि इस प्रकार  
से प्रवृत्ति करता हुआ भी वह प्रधान पुरुषकृत किसी उपकार को लेकर  
प्रवृत्ति करता है या पुरुषकृत किसी उपकार को नहीं लेकर प्रवृत्ति करता  
है ? प्रथम पक्ष में वह उपकार प्रधान से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न  
है तो यह उपकार प्रधान का है, ऐसा कथन नहीं हो सकेगा । सम्बन्ध  
का अभाव होने पर उपकार का भी अभाव है; क्योंकि आपने समवाय  
और संयोग आदि सम्बन्ध तो माने नहीं हैं । यदि तादारम्य सम्बन्ध  
मानते हैं तो वह सम्बन्ध भेद का विरोधी है । यह उपकार है, यह प्रधान  
है, इस प्रकार का भेद नहीं होगा । यदि उपकार प्रधान से अभिन्न है,  
ऐसा पक्ष लेते हैं तो प्रधान ही उस उपकार के द्वारा किया हुआ मानना  
चाहिए ( ऐसी स्थिति में नित्यत्व की हानि होगी ) ।

**सांख्य**—पुरुषकृत उपकार से निरपेक्ष ही प्रधान प्रवृत्त होता है ।

**जैन**—तब तो प्रधान को मुक्त आत्मा के प्रति भी प्रवृत्ति करना  
चाहिए; क्योंकि वही भी उपकार निरपेक्षता समान ही है । इससे पुरुष-  
कृत उपकार की अपेक्षा के बिना ही प्रधान प्रवृत्ति करता है, यह पक्ष भी  
खण्डित समझना चाहिए । दूसरी बात यह है कि प्रधान नामक तत्त्व  
सिद्ध होने पर यह सब कथन युक्तशुक्त सिद्ध हो सके, किन्तु उसकी  
सिद्धि किसी भी प्रमाण से निश्चित नहीं है ।

न तु कायणिमेकान्वयदर्शनादेककारणप्रभवत्वं भेदानां परिमाणदर्शनाच्छेति । तदप्यचारुचादिसम्; सुखदुःखमोहरूपस्तथा घटादेवस्याभावादन्तस्तत्त्वस्मीद तदीयलम्भात् । अथान्तस्तत्त्वस्य न सुखादिपरिणामः, किन्तु तथापरिणममानप्रधानसंसर्गदात्मनोऽपि तथा प्रतिभास इति । तदप्यनुपातन्मम्; अप्रतिभासमानस्यापि संसर्गकल्पनायां तत्त्वेष्टात्मा निश्चेतुमशास्त्रे । तदुक्तम्—

संसर्गादिभिर्भागश्चेदयोगोलकव्यहितवत् ।

भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु ॥ ३३ ॥ इति

यदपि परिमाणार्थं साधनम्, तदप्येकप्रकृतिकेषु घटघटीशरावोदञ्चनादिभैर्नेकप्रकृतिकेषु पटकुटमकुटशकटादिषु चोपलम्भादनैकान्तिकमिति न ततः प्रकृतिसिद्धिः । तदेवं प्रधानशृणुषायासम्भवात्मभवे वा ततः कार्योदियायोगस्त्वः ।

**सांख्य**—महदादि कार्यों के एक रूप अन्वय के देखे जाने से तथा महत् आदि भेदों का परिमाण पाया जाने से उनका एक कारण से उत्पन्न होना सिद्ध है । तात्पर्य यह है कि जैसे छोटे बड़े परिमाण वाले घट, घटी, सकोरा आदि का भिन्नी से अन्वय पाया जाता है, उसी प्रकार महत् अहंकार आदि के भी एक प्रकृति का अन्वय देखा जाता है तथा भेदों में परिमाण पाया जाने से प्रधान सिद्ध है ।

**जैन**—यह कथन भी असुन्दर है; क्योंकि सुख, दुःख और मोह रूपपते से घटादि के अन्वय का अभाव होने से अन्तस्तत्त्वरूप आत्मा का चेतन पुरुष के ही सुख दुःख की उपलब्धि होती है ।

**सांख्य**—अन्तस्तत्त्व रूप चेतन का सुखादि परिणाम नहीं है, किन्तु सुख दुःखादि रूप से परिणमन करने वाले प्रधान के संसर्ग से आत्मा के भी सुख दुःखादि रूप से प्रतिभास होता है ।

**जैन**—यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि अप्रतिभासमान भी प्रधान की आत्मा के साथ संसर्ग की कल्पना करने पर तत्त्वों की संख्या का निश्चय करना अशक्य हो जायगा । जैसा कि कहा है—

**इत्योकार्थ**—यदि लोहे के गोले और अग्नि के समान संसर्ग से प्रधान और आत्मा में अभेद माना जाय तो सब वस्तुओं में भेद और अभेद की व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी ॥३४॥

जो आपने परिमाण नामक हेतु दिया है, वह एक प्रकृतिक घट, घटी, शराव, उदञ्चन आदि में तथा अनेक प्रकृतिक पट, कुट, मुकुट आदि में पाए जाने से अनैकान्तिक है, अतः उससे प्रधान की सिद्धि नहीं होती है । इस प्रकार प्रधान के ग्रहण का उपाय असम्भव है अथवा सम्भव भी नान् ।

यदुकर्त्त परेण—

प्रकृतेर्महान् ततोऽहम्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।  
तस्मादधि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ ३४ ॥  
इति सूष्टिक्रमः,  
मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त ।  
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्विकृतिः पुरुषः ॥ ३५ ॥

लिया जाय तो भी प्रकृति से (धटादि) कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कि सांख्य ने कहा है—

**इलोकार्थ—**प्रकृति से महत् या बुद्धितत्त्व, महत् से अहंकार और अहंकार से पौर्ण तन्मात्रायें तथा यारह इन्द्रियाँ इन सोलह सत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलह के समान में शब्दभूति पौर्ण तन्मात्राओं से पौर्ण महाभूत (आकाशादि) उत्पन्न होते हैं ॥ ३४॥

**किञ्चेष्व—**प्रकृति अव्यक्त है। महत् का अर्थ बुद्धि है। अहंकार अभिमान को कहते हैं। अक्षु, श्वोऽह, घ्राण, रसन तथा त्वक् नामक पौर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पौर्ण कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं। इनमें मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है। तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म शब्दादि। तन्मात्र में आए हुए मात्र पद का अर्थ यह है कि इनमें अनुभव योग्य सुख, दुःख, मोह इत्यादि विशेषतायें नहीं होती हैं। शब्द तन्मात्र से शब्द गुण वाला आकाश, शब्द तन्मात्र से युक्त स्पर्श तन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुणों वाला वायु, शब्द और स्पर्श तन्मात्राओं से युक्त रूप तन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुणों वाला तेजस्, शब्द स्पर्श और रूप तन्मात्राओं से युक्त रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस गुणों वाला जल तथा शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्रों से युक्त से गन्ध तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

यह सूष्टि का क्रम है।

**इलोकार्थ—**मूल प्रकृति किसी का विकार अवश्य कार्य नहीं है, महत् इत्यादि सात तत्त्व अहंकार का कारण और मूल प्रकृति का कार्य दोनों ही हैं। १६ तत्त्वों का समुदाय तो केवल कार्य ही है। पुरुष न कारण ही है और न कार्य ही ॥ ३५॥

**किञ्चेष्व—**सांख्य शास्त्र के अन्तर्गत चार प्रकार के पदार्थ हैं। कोई

इति हवरुगारुद्यान् च वस्त्रासुतसौख्यवर्णनमिदासद्विषयत्वाद्युपेक्षामहीनः। अमूर्तस्याऽज्ञानात्म्यं मूर्तस्य पृथिव्यादेवत्वैककारणकात्मादोगमन्तः। अन्यथा अचेतना-ब्रह्म पञ्चभूतकदम्बुद्धकाल्पीतन्यसिद्धेश्चावकिमतसिद्धिप्रशङ्खात् साङ्ख्यगत्य एव न भवेत्। सत्कार्यवादप्रतिषेधश्चान्यथ विस्तरेणोक्त इति नेहोल्यते; सहृदेपस्वरूपाद-स्थितिः।

तथा विशेषा एव तत्त्वम्; तेषामसमानेन विशेषेभ्योऽशेषात्मना विद्येषात्मक-त्वात् सामान्यस्यैकस्यानेकत्र व्याप्त्या वर्तमानस्य सम्भवामावाक्ष्यत्। उत्पैकार्थकिन-

पदार्थ केवल कारण रूप है, कोई केवल कार्य रूप है, कोई कारण और कार्य दोनों है, कोई दोनों में से एक भी नहीं। मूल प्रकृति कार्य से भिन्न अर्थात् केवल कारण है। जो कार्यों को उत्पन्न करती है, वही प्रकृति है। इसे प्रधान भी कहते हैं, जो कि सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की साम्यान्वस्था का नाम है। यह कारण ही है, कार्य नहीं। यह क्यों? इसके उत्तर में कहा है कि यह सकल कार्यों की मूल है। इसका भी मूल प्रानने पर अनवस्था दोष होगा। भहत, अहंकार और पञ्च तन्मात्रा ये सात कारण और कार्य दोनों हैं। प्रकृति और विकृति का अर्थ है—कारण और कार्य। ये सात हैं जो इस प्रकार हैं—महत् तत्त्व अहंकार का कारण और मूल प्रकृति का कार्य है, इस प्रकार अहंकार तत्त्व पाँच तन्मात्राओं और यारह इन्द्रियों का कारण और महत् तत्त्व का कार्य है। इसी प्रकार पाँच तन्मात्रा आकाश इत्यादि पाँच स्कूल भूतों के कारण तथा अहङ्कार के कार्य हैं। सोलह तत्त्वों (आकाशादि पाँच स्थूल भूत तथा ११ इन्द्रियों) का समुदाय केवल कार्य ही है, कारण नहीं। पुरुष न कारण है और न कार्य है।

इस प्रकार स्वरूप का कथन वस्त्रासुत के सौम्यवर्णन के समान असत् को विषय करने से उपेक्षा के योग्य है; क्योंकि अमूर्त आकाश और मूर्त पृथिवी आदि का एक कारण से उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। अन्यथा अचेतन भी पञ्चभूतों के समूह से नाविक मत को सिद्धि के प्रसङ्ग से सांख्यमत की बाध भी नहीं रहेगी। सत्कार्यवाद का प्रतिषेध अन्यत्र (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में) विस्तार से कहा गया है, अतः यहाँ पर नहीं कहा जाता है; क्योंकि यह ग्रन्थ संक्षेप स्वरूप वाला है।

सांख्याभिमत सामान्य का निराकरण होने पर बौद्ध कहता है कि विशेष ही वस्तु का स्वरूप है। जैसे सामान्य का प्रतिपादन सांख्यों ने किया है, उसी प्रकार बौद्धों ने परमाणुरूप पर्यायं स्वीकृत की है। ये परमाणु प्रतिक्षण विनाशशील, अनित्य, निरंका और परस्पर सम्बन्धरहित हैं। वे विज्ञातीय और सज्ञातीय विशेषों से समस्त रूप से भिन्न स्वरूप वाले हैं;

निष्ठस्य सामस्त्येनोपलब्धस्य तथैव व्यक्त्यन्ते उपलब्धप्रसङ्गात् । उपलब्धी वा सम्भासात्वाप्तेयुगपद् भिन्नदेशातया सामस्त्येनोपलब्धेस्तद्वयक्त्यन्तः । अन्यथा व्यक्त्योऽपि भिन्ना माशुभवन्ति । ततो वृद्धधर्मेद् एव सामान्यम् । तदुक्तम्—

एकत्र दृष्टो भावो हि वृत्तिव्यान्यत्र दृश्यते ।

तस्मान्तन भिन्नमस्त्यन्यत् सामान्यं बुद्ध्यभेदतः ॥ ३६ ॥ इति

ते च विशेषाः परस्यरासमझा एव, तत्सम्बन्धस्य विचार्यमाणस्यायोगात् । एकदेशीम् याज्ञासे आणुषट्टकेन गृणात् दोषाद्यै । इत्याप्यते । गृहिणामाभिसम्बन्धे पिण्डस्याणुमात्रकल्पाप्सोः । अवयविनिषेधाच्चास्यद्वयमेषामुपपद्यते एव । तत्त्वाद्ये-  
षश्च वृत्तिविकल्पादिकाभ्यनात् । तथाहि अवयवा अवयविनि वर्तन्ते इति नाम्युप-

क्योंकि नैयायिकादि के अनुसार माना गया, अनेक व्यक्तियों सर्वात्म रूप से व्याप्त होकर वर्तमान किसी एक सामान्य रूप तत्त्व के सम्बन्ध होने का अभाव है । जैसे वह सामान्य रूप पदार्थ एक व्यक्तिनिष्ठ होकर सामस्त्य रूप उपलब्ध हो रहा है, उसी प्रकार उसके उसी प्रकार ही सामस्त्य रूप से व्यक्त्यस्तर अर्थात् अन्य व्यक्ति में प्राप्त न होने का प्रसङ्ग है । सामान्य प्राप्त भी हो तो नामाधने की आपत्ति प्राप्त होती है; क्योंकि वह एक साथ भिन्न-भिन्न देशवर्ती व्यक्तियों में सम्पूर्ण रूप से पाया जाता है । अन्यथा व्यक्तियों भी भिन्न-भिन्न न हों । इसलिए सर्वत्र गो व्यक्तियों में बुद्धि का अभेद ही सामान्य है । जैसा कि कहा गया है—

३६

इलोकार्थ—एक स्थान पर देखा गया पदार्थ कहीं अन्यत्र दिखाई नहीं देता है, इसलिए बुद्धि के अभेद से भिन्न अन्य कोई सामान्य नहीं है ॥३६॥

नैयायिक मत को दोष देकर बोलु कहते हैं कि वे विशेष परस्पर में सम्बन्ध से रहित ही हैं; क्योंकि उनका सम्बन्ध विचार किए जाने पर सिद्ध नहीं होता है । (सम्बन्ध एक देश से होता है या सर्वात्मना, इस प्रकार की शङ्का होने पर कहते हैं) एकदेश से सम्बन्ध मानने पर छह परमाणुओं के साथ एक साथ योग होने से परमाणु के छह अंश होने की आपत्ति प्राप्त होती है । सर्वात्मना सम्बन्ध मानने पर परमाणुओं के परस्पर में प्रवेश हो जाने से अणुमात्रपने की आपत्ति आती है । और अवयवी के निषेध से उन विशेषों के असम्बद्धपना भी प्राप्त होता है । अवयवी का निषेध वृत्तिविकल्प अर्थात् अवयवी का अवयवों में विचार करने तथा अनुभान से बाधा आने के कारण किया जाता है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

गतम् । अब यही चावयवेषु वर्तमानः किसेकदेशोन वर्तते, सवत्तिभवा वा ? एकदेशोन वृत्तावयवान्तरप्रसङ्गः । तत्राप्येकदेशान्तरेणाद्यगम्भिनो वृत्तावयवस्थाः । सवत्तिभवा वर्तमानोऽपि प्रस्पवयवं स्वभावभेदेन वर्तते, आहोऽस्मिद्विदेशकाहेषीति ? प्रथमपक्षे अब्यविच्छुत्वापत्तिः । द्वितीयपक्षे सु अब्यवासामेकस्पत्वापस्मिति । प्रत्येकं परिशमाप्या वृत्तावयवयवथविष्वहुत्वमिति ।

तथा यद्युद्धर्षं सन्नोपलभ्यते लन्नास्तथैव; यथा माननेन्द्रीयरम् । नोपलभ्यते अवयवेष्ववयवीति । तथा यद्युद्धर्षे यद्युद्धधमावस्तासो मार्यान्तरम्, यथा वृक्षापहे क्वामति । तत्तद्वय निरक्षा एवान्योन्यासंस्पर्शिणो रूपादिपरमावयवः, ते च एकवणस्थायिनो न नित्याः; विनाशो प्रस्थन्यामपेक्षणात् । प्रदोगस्त्रा—यो यद्यावं

अब्यव अब्यवी में रहते हैं, ऐसा तो नैवादिकों ने माना नहीं है तथा अब्यवी अब्यवों में रहता हुआ क्या एकदेश से रहता है या सम्पूर्ण रूप से रहता है । एकदेश से रहने पर उसके दूसरे भी अब्यव होने का प्रसंग आता है । दूसरे अब्यवों में भी अन्य देश से अब्यवी की वृत्ति मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है । यदि कहें कि सम्पूर्ण रूप से अब्यवी अब्यवों में रहता है तो हमारा प्रश्न है कि एक-एक अब्यव के प्रति स्वभावभेद से अर्थात् अनेक स्वभावों से रहेगा अथवा एक रूप से रहेगा ? प्रथम पक्ष में अब्यवियों के बहुत होने की आपत्ति आती है । द्वितीय पक्ष मानने पर अब्यवों के एक रूप होने की आपत्ति आती है । एक-एक अब्यव के प्रति अब्यवों के सम्पूर्ण रूप से वृत्ति मानने पर अब्यवियों के बहुत होने की आपत्ति आती है ।

अब्यवों में अब्यवी नहीं है; क्योंकि देखने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं होता है । जो देखने योग्य होते हुए भी नहीं उपलब्ध होता है, वह नहीं है, जैसे—आकाश कुमुम । अब्यवों में अब्यवी उपलब्ध नहीं होता है । तथा अब्यवों से अब्यवी भिन्न नहीं है; क्योंकि अब्यवों के प्रहृण न होने पर 'यह अब्यवी है', ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है । जिसके अप्रहृण में जिसकी बुद्धि का अभाव है, वह उससे भिन्न नहीं है । जैसे वृक्ष के प्रहृण न होने पर वन का अभाव है । प्रथम अनुमान से अब्यवों में अब्यवी का अभाव सिद्ध किया, इस अब्यवी के निवेद से उस प्रकार के सम्बन्ध का निषेध किया, इस प्रकार हेतु द्वय से रूपादि परमाणु निरक्षा और परस्पर में असंस्पर्शी ही हैं और वे एककण स्थायी हैं, नित्य नहीं हैं; क्योंकि वे अपने विनाश के प्रति किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखते । इसका

प्रस्तुन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः; यथाऽन्त्या कारणसामग्री स्वकार्ये । नाशो लि-  
भुक्तगराधिमा क्रियमाणास्ततो भिन्नोऽभिन्नो वा कियते ? भिन्नस्य करणे घटस्य  
स्थितिरेव स्यात् । अथ विनाशसम्बन्धान्वष्ट इति अपदेश हस्ति वेद भावाभावयोः  
कः सम्बन्धः ? न साप्तसादारम्भम्; तयोर्मेवात् । नापि तदुत्पत्तिरात्मस्य कार्य-  
धारलबाधदात् । अमिन्नस्य करणे घटादिरेव कृतः स्यात् । तस्य च प्रागीव निष्प-  
न्नत्वाद् व्यथे कारणमित्यन्यान्मोक्षत्वं सिद्धमिति विनाशसम्बन्धनियतत्वं साधयत्येव ।  
सिद्धे चानित्यानां तत्स्वभावनियतत्वं तदितरेवामालभाषीनां निमत्यचिकरणभावा-  
पन्नानां सत्त्वादिसा साप्तसेन तदृदृष्टान्तादृभवत्येव शशिष्ठिस्त्वभावत्वम् ।  
तथाहि—प्रस्तुतस्वभेदकाण्डस्थितिलब्धभावम्; यथा घटः । सन्तश्चामी भावा  
इति ।

अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—जो जिस ( विनाश ) भाव के प्रति अपेक्षा-  
रहित है, वह तत्स्वभावनियत ( विनाशस्वभावनियत ) है । जैसे अन्त्य  
तन्तु संयोग स्फूरण अन्त्य कारण सामग्री अन्ने कार्य पटोत्पत्ति में किसी  
अन्य कारण से निरपेक्ष है । मुद्गरादि से किया जाने वाला नाश घटादि  
रूप स्वकार्य से भिन्न किया जाता है या अभिन्न किया जाता है । विनाश  
के भिन्न करने पर घड़े की स्थिति ही रहेगी । यदि कहें कि विनाश के  
सम्बन्ध से 'घट नष्ट हुआ, ऐसा कहा जाता है तो हमारा प्रश्न है कि  
भाव अभाव ( घट और विनाश ) में क्या सम्बन्ध है ? तादारम्भ सम्बन्ध  
तो हो नहीं सकता; क्योंकि भाव और अभाव में भेद है । तदुत्पत्ति सम्बन्ध  
भी नहीं कह सकते; क्योंकि अभाव के कार्य का आधारपना घटित नहीं  
होता है । मुद्गरादि से घड़े से अभिन्न अभाव के करने पर घड़े आदि ही  
किए सिद्ध होते हैं । घड़े के पहले ही निष्पत्त होने से करना व्यर्थ है,  
इस प्रकार अन्य की अपेक्षा सिद्ध है । इस प्रकार विनाश स्वभाव की  
नियतता को सिद्ध करती है । अनित्य परमाणुओं के विनाश स्वभाव-  
नियतता सिद्ध होने पर उसे भिन्न आप्ता आदि के विवादापन्न सत्त्वादि  
हेतुओं के द्वारा घड़ा आदि विशेष के दृष्टान्त से एक क्षण स्थिति बाले  
स्वभावपने की सिद्ध होती ही है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—जो सद्  
होता है, वह सब एकक्षण स्थिति स्वभावरूप है, जैसे—घड़ा । ( परमार्थ  
रूप से घट क्षणिक है, पृथुदुर्धनोदराकार रूप से देखा जाता हुआ घड़ा  
कुछ काल तक स्थायी दिखाई देता है, शीघ्र विनाशी दिखाई नहीं देता  
है, इस प्रकार की आन्ति अविद्या के ब्रह्म होती है ) । और ये परमाणु  
रूप पदार्थ सद् हैं ।

अथवा सत्त्वमेव विषये बाधकप्रमाणलेन दृष्टान्तनिरोक्तमशेषस्य वस्तुनः  
क्षणिकत्वमनुमाप्यति । तथाहि—सत्त्वमर्थक्रियया व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रम-  
यीगपद्याभ्याम्; ते च नित्यान्तिवर्तमाने स्वव्याप्त्यापर्थक्रियाभावादयं निवृत्तेते । सापि  
स्वव्याप्त्यं सत्त्वमिति नित्यस्य क्रमन्यीगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् सत्त्वासम्भावनं  
विषये बाधकप्रमाणमिति । न हि नित्यस्य क्रमेण युगपद्या या सम्भवति; नित्य-  
स्मैकेव स्वभावेन पूर्वपिरकालभाविकापृथक्ये शुर्वतः कार्यभैरवकत्वात् तस्यैकस्वभाव-  
स्वात् तथापि कार्यनानात्मेऽन्यत्र कार्यभेदात्कारणभेदकल्पतात् विकल्पैषं स्थान् ।  
तादृशमेकमेव किञ्चित् कारणे कल्पनीयं यत्कस्वभावेनकेवै चरत्वरमुत्पद्यते  
इति ।

अथ स्वभावसमात्वमेव तस्य कार्यमेवादिव्यत इति चेत्सहि ते स्वभावसत्त्वस्य

( अब बहिर्भूतिपूर्ण अनुमान से सिद्धि करते हैं )—अथवा सत्त्व ही  
विषय रूप नित्य में बाधक प्रमाण के बल से ( नित्य पदार्थ नहीं है;  
क्योंकि उसमें क्रम से या एक साथ अर्थक्रियाकारिता का अभाव है, इस  
प्रकार बाधक प्रमाण के बल से ) दृष्टान्त के बिना ही समस्त वस्तुओं के  
क्षणिकत्वे का अनुमान करता है । इसको ही स्पष्ट करते हैं—सत्त्व  
अर्थक्रिया से व्याप्त है । अर्थक्रिया क्रम तथा यीगपद्य से व्याप्त है । वे  
क्रम और यीगपद्य नित्य पदार्थ से निवृत्ति होते हुए अपने साथ व्याप्त  
अर्थक्रिया को लेकर निवृत्त होती है, इस प्रकार नित्य का क्रम और युगपत्  
अर्थक्रिया से विरोध है, ( नित्य पदार्थ नहीं है; क्योंकि उसमें क्रम से और  
युगपत् अर्थक्रिया का अभाव है । जैसे—खरविषयण ) । सत्त्व की असम्भा-  
वता ( नित्य रूप ) विषय में बाधक प्रमाण है । नित्य पदार्थ के क्रम से  
और एक साथ अर्थक्रिया संभव नहीं होती है । ( एक स्वभाव अथवा  
अनेक स्वभाव रूप विकल्पदृष्ट्य को मन में रखकर क्रम से अर्थक्रिया का  
निराकरण करते हुए कहते हैं ) । नित्य के एक ही स्वभाव से युक्तिपूर-  
कालभावी दो पदार्थों को करते हुए, वह कार्य का भेदक नहीं हो सकता;  
क्योंकि नित्य पदार्थ एक स्वभाव बाला होता है, तथापि कार्यों का  
नानापन मानने पर अन्य जगह अर्थात् अनित्य पदार्थों में कार्य के भेद से  
कारण के भेद की कल्पना करना विफल हो जायगी । अतः उस प्रकार के  
किसी एक कारण की कल्पना करनी योग्य है, जिससे कि एक स्वभाव  
बाले एक ही पदार्थ से चराचर जगत् उत्पन्न हो जाय ।

नैयायिकोंका कहना है कि यदि नित्य पदार्थ के स्वभाव का नानापन

सर्वदा सम्भविनस्तवा कार्यसाङ्कुर्यम् । तो चेत् तदुत्पत्तिकारणं वाच्यम् ? तस्मादेव तद्गुणनी तत्त्वभावानां सदा सम्भवात्सैव कार्यणां युगपत्याप्तिः । सहकारिकमो-  
पेक्षया तत्त्वभावानां क्रमेण भावान्वेष्ट दोष इति चेतादपि न साधुमङ्गलम्; समर्थ-  
त्व्य नित्यस्य परामेश्वायोगात् । मैः सामर्थ्यकरणे नित्यताहानिः । तस्मादभिन्नमेव  
सामर्थ्य लीबिदीयत इति न नित्यताहानिरिति चेतहि नित्यमकिञ्चित्करमेव स्वात् ,  
सहकारिजनितसामर्थ्यस्त्वं कार्यकारित्वात् । तस्मभव्यात्तस्यापि कार्यकारित्वे  
तस्मभव्यस्यैकस्त्वभावत्वे सामर्थ्येनानास्त्रामावान्म कार्यभेदः । अनेकस्त्वभावत्वेऽकम-  
वस्त्रे च कार्यकारित्वं नित्यस्य । नापि युगपत् ; अशेषकारणां युगपद्वृत्यस्त्री द्वितीयक्षणे  
कार्यकारणादनर्थकिञ्चित्कारित्वेनावस्तुत्प्रसङ्गात् । इति नित्यस्य क्रमयोगापद्याभ्यः-

ही कार्य के भेद से मानते हैं तो हमारा प्रश्न है कि वे स्वभाव उस नित्य  
पदार्थ के सर्वदा सम्भव हैं तो कार्यों की सङ्कुरता प्राप्त होती है, यदि  
सर्वदा सम्भव नहीं है तो उन स्वभावों की उत्पत्ति का कारण कहना  
चाहिए । उस नित्य पदार्थ से ही उन स्वभावों को उत्पत्ति मानने पर उन  
स्वभावों के सदा सम्भव होने से कार्यों की युगपत् प्राप्ति होती है । यदि  
कहें कि निमित्स कारणों के क्रम की अपेक्षा नित्य पदार्थों के स्वभाव क्रम  
से उत्पन्न होने के कारण उक्त दोष नहीं हैं तो यह भी ठीक तरह से  
सङ्कल नहीं है; क्योंकि जो नित्य समर्थ है, वह दूसरे की अपेक्षा नहीं कर  
सकता । सहकारी कारणों के द्वारा नित्य के भी सामर्थ्य करना मानने पर  
नित्यता की हानि होती है । अतः सहकारियों के द्वारा भिन्न ही सामर्थ्य  
की जाति है, इस प्रकार नित्यता की हानि नहीं होती है, यदि ऐसा कहें  
तो नित्य अकिञ्चित्कर ही होता है, क्योंकि सहकारियों से उत्पन्न सामर्थ्य  
ही कार्यकारी होती है । सहकारी कारणों से उत्पन्न हुई सामर्थ्य के  
सम्बन्ध से नित्य पदार्थ के भी कार्यकारी मानने पर उस सम्बन्ध का एक  
स्वभाव मानने पर सामर्थ्य के नामापने के अभाव होने से कार्यमेद नहीं  
होगा । सामर्थ्य के सम्बन्ध को अनेक स्वभाव वाला मानने पर अक्रम  
रूप से सम्बद्ध होने से वड़े आदि कार्यों के समान उस सामर्थ्य के भी  
सङ्कुरणमा प्राप्त होगा । इस प्रकार समस्त दोषों के आवर्तन से अक्रक  
दोष हो जायगा । अतः नित्य पदार्थ क्रम से कार्य नहीं करता है ।

नित्य पदार्थ एक साथ भी कार्य नहीं करता है । समस्त कार्यों की  
एक साथ उत्पत्ति मानने पर द्वितीय क्षण में कार्य के न करने से अर्थकिया-  
कारिता का अभाव हो जायगा, वैसो दशा में उसके अवस्थापने का प्रसंग ...

सिद्ध एवेति सौगताः प्रतिमेदिरे । तेऽपि न युक्तिवादिनः; सज्जातीयेतरज्यावृत्तास्थाना विद्योषाणामनंशानां ग्राहकस्य प्रमाणस्थाभावात् । प्रत्यक्षास्य स्थिरस्थूलसाधारण्डिकारबस्तुप्राप्ताद्विन निरेणवस्तुप्रहृणायोगात् । न हि परमाणवः परस्परसम्बद्धाच्चक्षुरादिबुद्धी प्रतिभासित, तथा सत्यविवादप्रसङ्गात् ।

अथानुभूयत्त एव प्रथमं तथाभूताः थणाः, पश्चात् विकल्पवासमावलः दान्तरादन्तरालानुग्रहाभलभणाद् वाह्याक्षाविद्यमानोऽपि स्थूलाधाकारो विकल्प-बुद्धी अकास्ति । स च तदाकारेणानुरज्यमानः स्वव्यापारं तिरस्कृत्य अत्यक्ष-व्यापारपुरस्करत्वेन प्रवृत्तत्वात् प्रत्यक्षायत् इति । सदिव्यसिद्धालविलसितम्; मिविकल्पक-व्योमस्यानुपलभणात् । मुहीते हि निविकल्पकेतरयोर्भवि अन्याकड़रात्-रागस्यान्यत्र कल्पना युक्ता स्फटिकजपाकुसुमयोरित, नाम्ययेति ।

आता है । इस प्रकार नित्य व्यार्थ के क्रम से और एक साथ कार्य का अभाव सिद्ध ही है, ऐसा बीद लोग प्रतिपादन करते हैं ।

इस प्रकार कहने वाले बीद भी युक्तिवादी नहीं हैं; क्योंकि सज्जातीय-विजातीय भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले अंश रहित विद्यों के ग्राहक प्रमाण का अभाव है । प्रत्यक्ष प्रमाण तो स्थिर, स्थूल और साधारण आकार वाले पदार्थ का ग्राहक है, अतः वह निरेण वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता । परस्पर असम्बद्ध परमाणु चक्षु आदि इन्द्रियों की बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होते हैं । यदि प्रतिभासित होते तो फिर विवाद का प्रसङ्ग ही नहीं आता ।

**बीद**—इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने के बाद सर्वप्रथम निरेण परमाणु ही प्रतिभासित होते हैं, यीछे विकल्प की वासना रूप अन्तर्गत कारण से और बाहरी अन्तराल के नहीं वाये जाने रूप बहिरंग कारण से अविद्यमान भी स्थिर-स्थूल आदि आकार विकल्पबुद्धि में प्रतिभासित होते हैं और वह विकल्प उस निविकल्प प्रत्यक्ष के आकार से अनुरक्षित होकर अपने विकल्प रूप अस्पष्ट व्यापार के तिरस्कृत कर स्पष्ट रूप प्रत्यक्ष व्यापार पूर्वक प्रवृत्त होने से प्रत्यक्ष के समान प्रतिभासित होता है ।

**जैन**—बीदों का कथन भी असि बाल-बैद्या के समान है; क्योंकि किसी को भी निविकल्प ज्ञान का अनुभव नहीं होता है । निविकल्प और सविकल्प के भेद गृहीत होने पर ही अन्य निविकल्प के आकार की अन्यत्र कल्पना करना युक्त है । जैसे पूर्व में स्फटिक वस्तु के विश्वित होने पर स्फटिक में जपाकुसुम की कल्पना युक्त है, अन्यथा नहीं । (निविकल्प

एतेन तयोर्युगपदवुसीर्घुवृत्तेवी तदेकस्वाध्यवसाय इति निरस्तम्; तस्यापि कोशपामप्रतियेत्वादिति । केन वा तयोरेकतत्त्वाध्यवसायः? न तावदिकल्पेन, तस्याविकल्पयातनिभिन्नत्वात् । नाप्यनुभवेन; तस्य विकल्पागोचरत्वात् । न च तदुभयाविषये तदेकस्वाध्यवसाये समर्थमतिप्रसङ्गात् । ततो न प्रत्यक्षबुद्धौ तथा विषयिष्ठेषावभासः । नाप्यनुमानबुद्धौ, तदविनाभूतस्वभावकार्यलिङ्गाभासात् । अनुपलभ्येऽसिद्धं एष, अनुवृत्ताकारस्य स्थूलाकारस्य चापलवर्धीस्तत्त्वात् ।

और सविकल्प में भेद के न प्रहण करने पर निविकल्प आकार की सविकल्प में अनुरागता युक्त नहीं है ।

सविकल्प में निविकल्प के आकार के निराकरण द्वारा उन दोनों ( सविकल्प और निविकल्प ) में धुगपत् वृत्ति से ( यदि दोनों में एकत्र का अध्यवसाय माना जाय तो अम्बी पूरी के भक्षण आदि में रूपादि पर्यावरणों का ज्ञान एक साथ होने से उनमें भी अभेद का अध्यवसाय माना जाना चाहिए ) अथवा लघुवृत्ति से ( क्रमवृत्त्य होने पर भी ) उस निविकल्प और सविकल्प की एकत्र का निश्चय होता है, इस कथन का भी निराकरण हो गया । ( यदि लघुवृत्ति से अभेद का अध्यवसाय ( निश्चय ) माना जाय तो गधे के रैकड़े इत्यादि में भी अभेद का अध्यवसाय हो ) । उनका यह कथन सौगम्य खाने के समान है । ( जिस प्रकार सौगम्य खाकर बलात् विश्वास दिलाया जाता है, उसी प्रकार उनका कथन है । ) अथवा निविकल्प और सविकल्प के एकत्र का निश्चय किस ज्ञान से होगा? विकल्प से तो हो नहीं सकता; क्योंकि विकल्प ज्ञान अविकल्प की बाती से अनभिज्ञ है । अनुभव रूप निविकल्प प्रत्यक्ष से भी नहीं हो सकता; क्योंकि विकल्प अनुभव के अगोचर है । और उन दोनों को हो विषय न करने वाला निविकल्प और सविकल्प का निश्चय कराने में समर्थ नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आ जायगा । अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में परस्पर असम्बद्ध परमाणु विशेष प्रतिभासित नहीं होते हैं । और अनुमान ज्ञान में भी उनका प्रतिभास होता है; क्योंकि परस्पर असम्बद्ध परमाणुओं के अविभाजनी स्वभावलिङ्ग और कार्यलिङ्ग का अभाव है । अनुपलभ्य हेतु तो असिद्ध ही है ( यदि कहा जाय कि स्थिर, स्थूल और साधारण आकार वाले पदार्थ के नहीं पाए जाने से ( परमाणुरूप ) विशेष ही तत्त्व है, सो यह कथन असिद्ध है; क्योंकि अनुवृत्त आकार की और स्थूल आकार की उपलक्ष्य के विषय में हम कह चुके हैं । ( यदि अनुवृत्त आकार और

यदपि 'परमाणुभेदेशेन सर्वात्मना वा सम्बन्धे नोपयथत इति' तत्राभ्युपगम एव परिहारः, स्तिरधर्मक्षणां सजातीयनां विजातीयनां च दृष्टिकृणानां कथंचिचत्स्कृष्टाकारपरिणामात्मकस्य अनुपगमात् ।

स्थूल आकार के अनुपलभ्म के बल से अनुपलब्ध हो तो निरंश परमाणुओं की सिद्धि हो, अन्यथा न हो; क्योंकि प्रत्यक्ष से स्थूलादि आकार की प्रतीति होती है ।

जो आप बौद्धों ने कहा कि परमाणुओं का एकदेश अथवा सबदेश से सम्बन्ध नहीं बनता है, उस विषय में जैनों का वैसा नहीं मानना ल्पी परिहार है । स्तिरधर्म और रूक्ष, सजातीय और विजातीय दो अधिक गुण वाले परमाणुओं का कथंचिचत् स्कन्ध के आकार से परिणत होने रूप सम्बन्ध को जैन मानते हैं ।

**विशेष—बास्तु और आभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है, उससे पुद्दाल स्तिरधर्म कहलाता है । रूखेपन के कारण पुद्दाल रूक्ष कहा जाता है । स्तिरधर्म और रूक्ष गुण वाले दो परमाणुओं का परस्पर संप्रलेपलक्षण बन्ध होने पर द्विधणुक नाम का स्कन्ध बनता है । इसी प्रकार संख्यात् असंख्यात् और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार जल तथा बकरी, गाय, भैस और ऊट के दूध और धी में उत्तरोत्तर अधिक रूप से स्नेह गुण रहता है तथा पांशु, कणिका और शर्करा आदि में उत्तरोत्तर अनुभूति रूप से रूक्ष गुण का अनुभान होता है । जिनका शक्त्यंश निकृष्ट होता है, वे जघन्य गुण वाले कहलाते हैं । उन जघन्य गुण वालों का बन्ध नहीं होता है । समान शक्त्यंश होने पर तुल्य जाति वालों का बन्ध नहीं होता है । दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों का तो बन्ध होता है । समानजातीय या असमानजातीय दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों का बन्ध होता है, दूसरों का नहीं । जैसे—दो स्तिरधर्म शक्त्यंश वाले परमाणु का एक स्तिरधर्म शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ, दो स्तिरधर्म शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ और तीन स्तिरधर्म शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता, चार स्तिरधर्म शक्त्यंश वाले परमाणुओं के साथ अबद्य बन्ध होता है । तथा दो रूप शक्त्यंश वाले परमाणु का एक, दो और तीन रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता । चार रूक्ष शक्त्यंश वाले परमाणु के साथ अबद्य बन्ध होता है । कहा भी है—**

यज्ञवावयविनि वृत्तिविकल्पादि बाधकमुक्तम्; सत्त्वावयविनो वृत्तिरेत् यदि नीतिपश्चते; तदा न वर्तते इत्यमित्यात्म्यम् । भैक्षेशादिविकल्पस्त्वस्य विशेषामात्मरीयकल्पात् । तथाहि—‘नैकदेशेन कर्त्तते, मापि सर्वतिमना’ इत्युक्ते प्रकार-रात्मरेण वृत्तिरित्यभिहितं स्यात् । अन्यथा न वर्तते इत्येवं वक्तव्यभिति विशेषप्रतिषेधस्य शीषाभ्यनुज्ञानस्त्वात् कथंचिच्छत् । दलक्षणेण वृत्तिरित्यवसीयते; तत्र यद्योक्तादोषाणमनवकाशात् । विशेषादिविद्वचाये प्रतिषेद्यत इति नेह प्रत्यक्षते ।

यज्ञवीक्षणस्याचित्के साम्राज्यम्—‘यो यद्ग्रावं प्रतीत्याद्युक्तम्’, तदप्य-साम्राज्यम्; असिद्धादिदोषदुष्टत्वात् । तत्रान्यानपेक्षत्वं तावदित्यम्, घटाण-

“णिद्रस्स णिद्रेण दुराधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिएण ।

णिद्रस्स लुक्खेण हृक्षेष बंधो जहृण्णवडजो चिसमे समे वा ॥”

स्त्रिमध का दो अधिक शक्त्येश वाले स्त्रिमध के साथ बन्ध होता है । रुक्ष का दो अधिक शक्त्येश वाले रुक्ष के साथ बन्ध होता है । तथा हित्रमध का रुक्ष के साथ सम या विषम गुणों के होने पर इसी नियम से बन्ध होता है, किन्तु जघन्य शक्त्येश वाले का बन्ध सर्वथा वर्जनीय है ।

( सर्वार्थसिद्धि ५/३३-३६ की व्याख्या )

जो अवयवी में वृत्तिविकल्प आदि बाधक कहे हैं सो अवयवों में अवयवी की वृत्ति ही यदि नहीं बनती है तो अवयवी अवयवों में रहता ही नहीं है, ऐसा कहना चाहिये । एकदेश से रहता है या सर्वदेश से रहता है, इत्यादि विकल्प नहीं कहना चाहिये; क्योंकि एकदेशादि विकल्प के अन्य विकल्प विशेष के साथ अविनाभाव पाया जाता है । इसे ही स्पष्ट करते हैं—

अवयवी अवयवों में न एकदेश से रहता है और न सर्वदेश से, ऐसा कहे जाने पर अन्य प्रकार से रहता है, ऐसा कहा गया समझना चाहिए । अन्यथा अवयवों में अवयवी सर्वता रहता ही नहीं, ऐसा कहना चाहिए; क्योंकि विशेष का निषेध शीष के अङ्गोकार रूप होता है, अतः कथंचिकृता दात्म्य रूप से अवयवी की अवयवों में वृत्ति है, ऐसा निश्चय होता है । अवयवी के अवयवों में तादात्म्य रूप से रहने पर जो आपने कहे हैं, उन दोषों का अवकाश ही नहीं रह जाता है । विशेष आदि दोषों का आगे निषेध किया जायगा, अतः यहाँ पर विस्तार नहीं करते हैं ।

और जो बौद्धों ने पदार्थों के एकक्षणस्थायी रहने में साधन कहा है—जो जिस भाव के प्रति अन्य की अपेक्षा रहित है, वह विनाशस्वभावी है,

भावस्य मुद्गरादिभापाराऽवयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कारणत्वेष्यपर्यः । कपाली-  
दिव्यधियालरभावो हि षट्देवेभावः; तु चक्राभावस्य सकलप्रमाणगीचत्तिकाम्ब-  
रुपत्वात् ।

किञ्च—अभावो यथे स्वतन्त्रो भवेत्सदाभ्यानंकर्त्त्वं विशेषणं युक्तम् । न  
अ सौगतपते सोऽस्तीति हेतुप्रयोगाभवतार एव । अवैकान्तिकं चेदम्; शालिदीजस्य  
कोद्रवाङ्गुरजननं प्रति अस्यानपेक्षत्वेऽपि तजजननवस्त्रभावानियत्वात् । तस्म-  
भावत्वे सतीति विशेषणात्म दोष इति चेत्त; सर्वेषा पदार्थानां विनाशस्वभावान्-  
सिद्धेः । पर्याप्त्यर्थेण इति भावानाभूत्यादविनाशावङ्गोक्तिभेते, न द्रव्यस्थेष ।

समुदेति विलयमृच्छति भावो नियमेन पर्यथनयस्य ।

तोदेति नो विनश्यति भावनयालिपितो नियम् ॥ ३७ ॥

इति वचनात् ।

वह भी असाधन है; क्योंकि वह असिद्ध आदि दोषों से दूषित है। उस  
अनुमान में अन्यानपेक्षत्व रूप हेतु असिद्ध है, घट आदि के अभाव का  
मुद्गर आदि के व्यापार के साथ अन्यव्यव्यतिरेकपना पाए जाने से विनाश  
के प्रति मुद्गरादि के व्यापार की कारणता बन जाती है। ( कपालादि  
की उत्पत्ति के प्रति मुद्गरादि का व्यापार है, अभाव के प्रति नहीं, ऐसी  
आशंका होने परहकहते हैं ) कपालादि अन्य पर्याप्त का होना ही घट आदि  
का अभाव कहलाता है अत्यन्ताभावरूप निःस्वभाव किसी भी प्रमाण का  
विषय नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि अभाव यदि स्वतन्त्र ( कारणनिरपेक्ष ) हो, तब  
अन्यानपेक्षत्व विशेषण युक्त है, किन्तु बीद्रमत में स्वतन्त्र रूप से अभाव  
है नहीं, अतः विनाश के प्रति अन्य हेतु की अपेक्षा न रहने से हेतु के प्रशोग  
का अवतार ही नहीं है । यह हेतु अनैकान्तिक भी है ( शालि बीज कोद्रव के  
अंकुरोत्पत्ति के प्रति अपेक्षा से रहित है, परन्तु शालिदीज में कोद्रव के  
अंकुरजनन की सामर्थ्य नहीं है, अतः साध्य के अभाव में भी साधन का  
सद्भाव होने से यह हेतु अनैकान्तिक है ) । शालिदीज कोद्रवाङ्कुर के  
जनन के प्रति अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, क्योंकि उसकी उसे उत्पन्न  
करने की सामर्थ्य ही नहीं है । बीद्र कहते हैं कि समस्त पदार्थ विनाश  
स्वभावनियत हैं । विनाश स्वभाव होने पर ऐसा विशेषण अन्यानपेक्षत्व  
हेतु का कर देने पर उक्त दोष नहीं रहेगा, यह कहता ठीक नहीं है;  
क्योंकि पदार्थों का विनाश स्वभाव असिद्ध है । पर्याप्त्याधिकनय से ही पदार्थों  
का उत्पाद और विनाश स्वीकार किया जाता है, द्रव्याधिकनय से नहीं ।

क्लोकार्थ—पर्याप्त्याधिकनय के नियम से पदार्थ उत्पन्न होता है और

न हि निरन्वयविनाशी पूर्वक्षणस्य ततो मृताच्छिक्षिनः केकापितस्येवोसर-  
काणस्योत्पत्तिर्वित्ते । द्रव्यरूपेण कथंश्चित्त्वकरुपस्यापि सम्भवात् न सर्वथा  
भावानां विनाशास्वभावत्वं युक्तम् । न च द्रव्यरूपस्य ग्रहीकुमारवरत्वावभावः;  
तदूप्रहृणोपायस्य प्रत्यभिज्ञानस्य बहुलमुपलब्धात् । सत्त्वाभाष्यस्य च प्राणेवोक्त-  
त्वात्, उत्तरकार्योत्पत्त्वन्वयानुपपत्तेष्व रिद्धत्वात् ।

यच्चाभ्यत्साधनं सत्त्वावर्णं सदपि विषयावस्त्वपक्षेऽपि समानस्वान्म साध्य-  
सिद्धिगिर्भवनम् । तथाहि—सस्कर्मर्थक्रियया व्याप्तम्, अर्थक्रिया च क्रमयोग्यपद्धा-  
स्याम् ते च क्षणिकान्तिवर्तमाने स्वव्याप्त्यामर्थक्रियामादाय निवैते । सा च  
निवर्तमामा स्वव्याप्त्यसत्त्वमिति निरप्स्येव क्षणिकस्यापि ऋद्धविधाणवदसत्त्वमिति  
म तत्र सत्त्वव्यवस्था । न च क्षणिकस्य वस्तुः क्रमयोग्यपद्धाभ्यामर्थक्रिया-  
विरीघीऽसिद्धः; तस्य वेदाकुत्स्य कालकृतस्य वा क्रमस्यासम्भवात् । अवस्थितस्यै-  
नाश को प्राप्त होता है, किन्तु द्रव्याधिक गय की अपेक्षा पदार्थ न उत्पन्न  
होता है और न विनष्ट होता है, किन्तु नित्य ही रहता है ॥३७॥

इस प्रकार आगमन में कहा गया है ।

पूर्व क्षण का निरन्वय विनाश मानने पर पूर्व क्षण से उत्तर क्षण की  
उत्पत्ति घटित नहीं होती है, जिस प्रकार मरे हुए मोर से वाणी नहीं  
निकल सकती है । द्रव्य रूप से कथंश्चित् अत्यवत रूप पदार्थ के भी  
सम्भव होने से पदार्थों का सर्वथा विनाशास्वभावपना युक्त नहीं है । ऐसा  
नहीं कहा जा सकता है कि द्रव्य रूप का ग्रहण करना अवश्य होने से अभाव  
है । द्रव्य को ग्रहण करने का उपायभूत प्रत्यभिज्ञान बहुलता से पाया जाता  
है । प्रत्यभिज्ञान का ग्रामाध्य पहुँच ही कह चुके हैं । यदि द्रव्य रूप से  
अन्वित न हो तो उत्तर कार्य की उत्पत्ति भी न हो । इस प्रकार की अन्य-  
यानुपत्ति से द्रव्यरूप की सिद्धि होती है ।

क्षणिकत्व की सिद्धि के लिए जो सत्त्व नामका हेतु कहा है, वह भी  
विषय ( नित्य ) के समान स्वपक्ष ( अनित्य ) में भी समान होने से साध्य-  
की सिद्धि में कारण नहीं है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

सत्त्व अर्थक्रिया से व्याप्त है । अर्थक्रिया क्रम और योगपद्ध से व्याप्त  
है । वे क्रम और योगपद्ध क्षणिक से निवृत्त होते हुए स्वव्याप्त्य अर्थक्रिया  
को लेकर निवृत्त होते हैं और वह अर्थक्रिया निवृत्त होती हुई स्वव्याप्त्य  
सत्त्व को लेकर निवृत्त होती है । इस प्रकार नित्य के समान क्षणिक  
पदार्थ का भी ऋद्धविधाण के समान असत्त्व सिद्ध है । इस प्रकार क्षणिक  
पक्ष में सत्त्व की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है । क्षणिक वस्तु का क्रम और  
योगपद्ध से अर्थक्रिया का विरोध असिद्ध नहीं है; क्योंकि क्षणिक वस्तु के

काम्य हि नानादेशकालकलाव्याप्तिर्व देशान्मः कालक्रमद्वाभिषीयते । न च अणिके  
सोऽप्ति ।

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदेव तदेव सः ।

न देशकालयोव्याप्तिभवित्वामिह विद्यते ॥ ३८ ॥

इति स्वधर्मसेवाभिवानात् ।

न च पूर्वोत्तरस्थानामैकसन्तानायेकाया क्रमः सम्भवति; सन्तानस्य वास्तवत्वे  
तस्यापि अणिकत्वेन क्रमायेगात् । अणिकत्वेऽपि वास्तवत्वे तेजेव सत्त्वादि-  
साधनमनेकान्तिकम् । अवास्तवत्वे न तदपेक्षः क्रमो युक्त इति । नापि योग्यत्वेन  
तदार्थं क्रिया सम्भवति; युगपौर्वेन स्वभावेन नानाकार्यकरणे तद्वार्थकत्वे स्पात् ।  
नानालक्षभावकल्पनायां ते स्वभावास्तेन व्याप्तिर्वाः । तर्वेन स्वभावेन स्वधर्मस्ते-  
तेषामेकरूपता । नानास्वभावेन अद्वावस्था । अर्थकीकरणोपादामभाव एवान्यतः

देशकृत और कालकृत क्रम का होना असम्भव है । अवस्थित एक पदार्थ के नाना देश में व्याप्त होकर रहने को देशक्रम और नाना काल कालओं में  
व्याप्त होकर रहने को कालक्रम कहते हैं । अणिक पदार्थ में वह सम्भव नहीं है ।

**इलोकार्थ—**जो पदार्थ जिस देश में उत्पन्न हुआ है, वह वहीं विनष्ट होता है और जो पदार्थ जिस काल में उत्पन्न हुआ है, वह भी उसी समय विनाश को प्राप्त होता है । इसलिए पदार्थों की अणिक पक्ष में देशक्रम और कालक्रम की अपेक्षा देश और काल की व्याप्ति नहीं है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ब्रीदों ने स्वर्यं कहा है ।

पूर्व और उत्तर क्षणों का एक सन्तान की अपेक्षा क्रम सम्भव नहीं है ।  
सन्तान को वास्तव मानने पर उस सन्तान के भी अणिक होने से क्रम नहीं बनता है । सन्तान नित्य मानने पर भी सन्तान में ही सत्त्वादि साधन अनेकान्तिक हो जाता है । सन्तान के अवास्तविकपने के होने पर सन्तान को अपेक्षा क्रम युक्त नहीं है । एक साथ भी अणिक पदार्थ में अर्थक्रिया सम्भव नहीं है । युगश्च एक स्वभाव से अणिक के नाना कार्य करने पर उन कार्यों के एकत्र सिद्ध होता है । नाना स्वभाव से क्रिया करता है, ऐसी कल्पना करने वाले स्वभाव उस अणिक वस्तु के साथ व्याप्त होकर रहने आहिए । उनमें एक स्वभाव से अणिक पदार्थ के नामां स्वभावों की व्याप्ति मानने पर उन नाना स्वभावों के एकरूपता आपत्ति प्राप्त होती है । यदि नाना स्वभाव से अणिक पदार्थ के साथ-

सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्ट्यते, तर्हि नित्यस्वैकस्यापि अस्तुनः क्रमेण  
नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कृद्य वा मामूल् । अक्रमात् क्रमिणामनुत्पर्स-  
मेवभिति चेदेकानंशकारणात्युपदेनेककारणसाध्यमेककार्यविरोधादक्रमिणोऽपि न  
क्षणिकस्य कार्यकारित्वभिति ।

किञ्चन—भवत्पश्च सतोऽसतो वा कार्यकारित्वम् ? सतः कार्यकर्तुत्वे सुकल-  
कालकलाभ्यापिक्षणामेकक्षणवृत्तिप्रसञ्जः । द्वितीयपक्षे खरविषाणवैरपि कार्य-  
कारित्वम्, अस्त्वाथिशेषात् । सत्वलक्षणवृत्तिभित्तारदर्थ । तस्मान्न विशेषकान्त-  
पक्षः शेषान् ।

नाना स्वभावों की क्षणिति मानते हैं तो अनदस्था दोष आता है । (नाना स्वभाव से यदि नानास्वभावों की व्याप्ति होती है तो नानास्वभाव किससे व्याप्तीय होगी ? दूसरे नाना स्वभाव से कहो तो अनदस्था दोष आता है; क्योंकि इससे तो दूसरे-दूसरे नाना स्वभावों की कल्पना करनी पड़ेगी ।

यदि दोढ़ों द्वारा कहा जाय कि एक जगह ( रूपक्षणादि में ) एक उत्तरक्षण का उपादान भाव ही अत्य रूपक्षणादि में सहकारिभाव है, अतः हमें स्वभाव भेद इष्ट नहीं है तो नित्य एक ही वस्तु के क्रम से नाना कार्य करने पर स्वभाव भेद या एक साथ अनेक कार्यों की प्राप्ति रूप कार्य साङ्कृद्य भी नहीं मानना चाहिए । यदि कहा जाय कि अक्रम रूप नित्य पदार्थ से क्रम बाले कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तो हमारा कहना है कि एक निरंश क्षणिक रूप कारण से युगमत् अनेक कारण साध्य अनेक कार्यों के होने का विरोध है, अतः अक्रम से भी क्षणिक पदार्थ के कार्यकारीपना नहीं बनता है ।

दूसरी बात यह है कि आपके क्षणिक पक्ष में सत् के कार्य कारित्व है या असत् के । सत् के कार्यकारीपना मानने पर काल की सब कलाओं में व्याप्त अनेक क्षण रूप कार्यों के एकक्षणवर्तीपने का प्रसंग आएगा । दूसरा पक्ष मानने पर खरविषाणादि के भी कार्यकारित्व ही जायगा; क्योंकि असत् की अपेक्षा दोनों समान हैं । सत्त्व का जो अर्थक्रियाकारित्व लक्षण है, वह असत्त्व में भी सम्भव होने से सत्वलक्षण व्यभिचरित होता है; क्योंकि असत्त्व में भी अर्थक्रिया घटित ही रही है । अतः अनित्य, निरंश, परस्य असम्बद्ध परमाणुओं के कार्यकारित्व का अभाव होने से विशेष-कान्त पक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।

नापि सामान्यविशेषी परस्तामपेषाऽक्षिति योगमतमपि युक्तिवृक्तमवभावति, तथोरुद्योन्यभेदेवयोरन्यकरत्यापि अवस्थापित्तुमशक्तेः । सधाहि—विशेषस्ततावद् द्रव्यगुणकर्मात्माः, सामान्यं तु परापरभेदाद् उक्तिवृक्तम् । तत्र परसामान्या-सत्तालक्षणाविशेषाणां भेदेऽस्त्वापित्तिरिति । तथा च प्रथोगः—द्रव्यगुणकर्मात्माः सदृशाणि, सर्वावल्यन्तं भिन्नत्वात् प्रागभावाविवितिः । त सामान्यविशेषसम्भवाद्य-व्यभिचारः तत्र स्वरूपसर्वस्त्राभिन्नस्य परिभ्युपगमात् ।

सामान्य और विशेष परस्पर निरपेक्ष हैं, यह योगमत भी युक्तिवृक्त प्रतीत नहीं होता है । निरपेक्ष सामान्य और विशेष में परस्पर अभेद मानने पर दोनों में किसी एक को भी व्यवस्था करना सम्भव नहीं है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—विशेष तो द्रव्य, गुण और कर्मस्वरूप हैं और सामान्य पर और अपर दो प्रकार का होता है । ( सामान्य की आधार भूत व्यक्तिर्थी यहाँ पर विशेष सब्द से ग्रहण की जाती है, नित्य द्रव्य में रहने वाले अन्त्य विशेष यहाँ विशेष सब्द से ग्रहण नहीं किए जाते हैं । ) उनमें से सत्ता लक्षण वाले पर सामान्य से विशेषों के सर्वथा भेद मानने पर उनके असत्त्व की आपत्ति आती है । इसका अनुभाव प्रथोग इस प्रकार है—द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों पदार्थ असदृश हैं; क्योंकि सत्त्व से अत्यन्त भिन्न है, जैसे कि प्रागभाव आदि सत्त्व से अत्यन्त भिन्न हैं । 'सत्त्व से अत्यन्त भिन्न हैं', इस हेतु मैं सामान्य, विशेष और समवाय से व्यभिचार नहीं बाता हूँ; क्योंकि उनमें अभिन्न स्वरूप सत्त्व को योगों ने भाना है ।

**विशेष**—सामान्य दो प्रकार का कहा गया है—(१) पर (२) अपर । द्रव्यादि तीन में रहने वाली सत्ता पर स्वरूप से कही जाती है । पर से भिन्न जो जाति है, वही अपर स्वरूप से कही जाती है । द्रव्यत्वादिक जाति परापर कही जाती है । व्यापक होने से वह पर होती है और व्याप्त होने से अपर भी होती है । बहुत बड़े देश में व्यापित्व परत्व है, अल्पदेश व्यापित्व अपर है ।

अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतरभाव और अत्यन्ताभाव । दूध में दही आदिक नहीं है, यह प्रागभाव है । दही में दूध नहीं है, यह प्रध्वंसाभाव का उदाहरण है । तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव है । जैसे घड़ा बस्त्र नहीं है । त्रैकालिक संसर्गविच्छिन्न प्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव है । जैसे इस भूतल पर घड़ा नहीं है ।

ननु द्रव्यादीनां प्रमाणोपगमनस्ये धर्मियाहकप्रमाणवाचितो हेतुर्येन हि प्रमाणेन  
द्रव्यादीयो निश्चयन्ते तेन लक्षणत्वमपीति । अथ न प्रमाणप्रतिपत्नाः द्रव्यादव्यहस्तहि  
हेतुराध्यागित्तिरिति तद्युक्तम्; प्रसङ्गसाधनात् । प्रागभावादी हि सत्त्वाद्  
भेदोऽप्त्वेन व्याप्त उपलब्ध्यन्ते, ततद्वच व्याप्तस्य द्रव्यादावस्थुपरामो व्याप्तकाम्यु-  
पगमनात्मरीयक इति प्रभासङ्गसाधनेऽप्य दोषस्याभावात् ।

एतेन द्रव्यादीनामध्यद्रव्यादित्वं द्रव्यादित्वेऽप्य जितिर्ज जोडन्तम् । एव  
वा व्याप्तां पदार्थानां परस्परं भेदे प्रतिनियतस्तत्त्वस्वयव्यवस्था ? द्रव्यस्त्वं हि द्रव्यमिति  
व्यपदेशस्य द्रव्यत्वाभिसंबन्धव्याख्यात्वान्ते ततः पूर्वं द्रव्यस्वरूपं किञ्चिद्वदाच्यम्;  
येन सह द्रव्यत्वाभिसम्बन्धः स्यात् ? द्रव्यमेव स्वरूपमिति चेन्न; समूद्धपदेशस्य  
द्रव्यत्वाभिसम्बन्धनिवन्धनतया एवलक्षणव्याप्तेनात् । सत्त्वं तिज्ञपमिति चेन्न;  
तस्यापि सत्त्वासम्बन्धनादेव तद्यथावदेशकरणात् । एवं गुणादिव्यपि वाच्यम् ।

**यौग**—( द्रव्यादि प्रमाण प्राप्त हैं या प्रमाण प्राप्त नहीं है, इस प्रकार  
दो विकल्पों का आश्रय लेकर दोष उपलिखित करते हैं ) । द्रव्यादि यदि  
प्रमाण से परिगृहीत हैं तो सत्त्व से अत्यन्त भिन्न होने के कारण यह हेतु  
प्रमाण वाचित है । जिस प्रमाण से द्रव्यादिक निश्चय किये जाते हैं,  
उसी प्रमाण से उन द्रव्यादिकों का सत्त्व भी निश्चय करना चाहिए ।  
यदि द्रव्यादिक प्रमाण से परिगृहीत नहीं है तो हेतु आश्रयासिद्ध हो  
जाता है ।

**जैन**—यह कहना व्युक्त है; क्योंकि यहाँ पर हमने प्रसंग साधन  
किया है । प्रागभाव आदि में सत्त्व से जो भेद है, वह असत्त्व से व्याप्त  
पाया जाता है इसलिए सत्त्व से भेद रूप व्याप्त का द्रव्यादिक में जो  
अज्ञोकार है, वह व्यापक जो असत्त्व उसमें अंगीकार के साथ अविना-  
भावी है, इस प्रकार प्रसंग साधन करने पर प्रमाणवाचित आदि दोषों  
का आभाव है ।

इसी कथन से ( पर सामान्य से विशेषों के भिन्न मानने पर उनके  
असत्त्व समर्थन से ) द्रव्यादिक के भी अद्रव्यत्व आदिपना द्रव्यत्व आदि से  
भेद मानने पर विचार कर लिये गए जानना चाहिए । द्रव्य, गुण, कर्म,  
सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों का परस्पर भेद मान लेने  
पर प्रतिनियत स्वरूप वाली व्यवस्था कैसे होगी ? द्रव्य के द्रव्य ऐसा तिर्देश  
द्रव्यत्व के सम्बन्ध से करने पर द्रव्यत्व के सम्बन्ध से पूर्वं द्रव्य का व्या-  
स्वरूप था, उसके विषय में कुछ कहना चाहिए, जिसके साथ द्रव्यत्व का  
सम्बन्ध हो सके । यदि आप कहें कि द्रव्य का द्रव्य ही स्वरूप है तो यह  
कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसका द्रव्य यह नाम तो सत्त्व के सम्बन्ध से

केवल सामान्यविशेषमवायातसेव स्वरूपसत्त्वेन तथाव्यपदेशोपस्तत्त्वयव्यक्तस्यैव स्थान् ।

ननु जीवादिपदार्थर्ता सामान्यविशेषात्मकत्वं स्पष्टादिभिरभिष्ठीयते, तथोद्धव वस्तुमोर्भवाभेदाभिति ती च विशेषादिदोयोपनिषातात्मकत्वं अभिवितादिति । ३४॥१॥ गीढ़—गीढ़ विश्वायदधिकरणभग्नेवस्त्र यान्यदिति कैव्यविकरण्यम् २ । धमात्मनं पुरोषाय भेदो यं च समाधित्याभेदः, तावात्मासौ भिन्नौ चाभिन्नौ च । तत्रापि तथापरिकल्पमादनवस्था न । येन रूपेण भेदस्तेन भेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः ५ । भेदभेदात्मकत्वे च वस्तु-नोऽसाकारणाकारेण निष्पत्तुभवत्तेः संख्यः ६ । तत्रव्याप्रतिपत्तिः ७ । ततोऽसाकः ८ । इत्यनेकान्तात्मकमपि न सौख्यमाभजतीति केवित् ।

होता है । द्रष्ट्य के समान मूणादिक में भी कथन करना चाहिए । केवल सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों के स्वरूप सत्त्व से 'सत्' व्यवहार बन जाता है, अतः सामान्य, विशेष और समवाय इन तीन पदार्थों की ही व्यवस्था सिद्ध होती है ।

**योग—स्याद्वादी** लोग जीवादि पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक कहते हैं । उस सामान्य और विशेष का वस्तु से भेद भी कहते हैं और अभेद भी कहते हैं । वे दोनों विशेष जादि दोषों के आने से एक वस्तु में सम्भव नहीं है । भेद और अभेद ये दोनों विचि और निषेध स्वरूप हैं, इसलिए उनका एक अभिन्न वस्तु में रहना असम्भव है, जैसे कि शीत और ऊर्ण स्पर्श का एक साथ वस्तु में रहना असम्भव है । (अतः भिन्न और अभिन्न के एक वस्तु में रहने में विशेष है ) ॥१॥ भेद का अधिकरण अन्य है और अभेद का अधिकरण अन्य है, अतः वैयाखिकरण दोष है ॥२॥ जिस स्वरूप को मूल्य कर भेद है और जिसका आशय लेकर अभेद है, वे दोनों स्वरूप भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं । उनमें भी भेद और अभेद की कल्पना करने से अनवस्था दोष है ॥३॥ जिस रूप से भेद है, उस रूप से भेद और अभेद दोनों होने से सङ्कर दोष है ॥४॥ जिस रूप से भेद है, उससे अभेद है और जिससे अभेद है, उससे भेद है, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है ॥५॥ वस्तु के भेदाभेदात्मक होने पर असाकारण आकार से निष्पत्त करना संभव न होने से संशय दोष है ॥६॥ संशय होने के कारण वस्तु का ज्ञान नहीं होने से अप्रतिपत्ति दोष है ॥७॥ अप्रतिपत्ति न होने से अभाव साकार दोष भी आता है ॥८॥ इस प्रकार वस्तु को ज्ञेकान्तात्मक

तेऽपि न प्रातीतिकवादिमः; विरोधस्य प्रतीयमानयोरसम्भवात् । अनुपलभ्यसाध्यो हि विरोधः, नशेपलभ्यमानयोः को विरोधः । यज्ञव धीतोल्लस्यर्थं-योवेति दृष्टान्ततयोक्ताम्, तच्च धूपदहनाद्यकेन्वयविनः शोतीष्णस्यर्थस्वभावस्यो-पलधीरकुक्तमेव; एकस्य चलाचलरक्तारक्तावृत्तानावृत्तादिविशुद्धमर्मणां चुगपदु-पलधीरस्य प्रकृतयोरेति । एतेन वैयधिकरण्यमप्यपास्तम्; तथोरे-काधिकरणत्वेन प्रतीतेः । अत्रापि प्रागुक्तनिदर्शनान्येव बोद्धस्यानि । यच्चानव-स्थानं दूषणं तदपि स्याद्वादिमतानमिहीरेवाधादितम् । तत्परं हि सामान्यविशेषात्मके-वस्तुनि सामान्यजिशेषवेद भेदः; भेदव्यविना तथोरेवाभिधानात् इत्यरुपेणाभेद-इति इत्यमेवाभेदः; एकानेकात्मकरवादुस्तुतः । यदि वा भेदन्यप्राप्तान्येन वस्तु-

मानना भी स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता है, ऐसा कुछ ( धीमादि ) लोगों  
ने कहा है ।

जैन—उपर्युक्त कथन करने वाले भी यथार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि  
यथार्थ रूप से प्रतीत होने वाले सामान्य-विशेष या भेद-अभेद में विरोध  
का होना असम्भव है । विरोध तो अनुपलभ्यसाध्य होता है, उपलभ्यमान  
भेद और अभेद में क्या विरोध है? जो आपने शीत और उष्ण सर्वांको  
दृष्टान्त रूप में कहा है, वह कथन धूप दहन वाले घट आदि एक अवयवों  
के शीत और उष्ण स्वभाव की उपलब्धि होने के कारण अयुक्त ही है ।  
एक ही वस्तु के चल-अचल, रक्त-अरक्त, आवृत्त-अनावृत्त आदि विरोधी  
धर्मों की एक साथ उपलब्धि होने से अतः प्रकृत सामान्य-विशेष और  
भेदाभेद में विरोध नहीं है । एक ही वस्तु में भेद और अभेद के विरोध का  
परिहार करने से वैयधिकरण का भी निराकरण कर दिया; क्योंकि उन  
भेद और अभेद एकाधिकरण के रूप में प्रतीत होती है । वैयधिकरण के  
निराकरण के प्रकरण में भी पहले कहे गए आदि दृष्टान्त समझना चाहिए ।  
और जो अनवस्था तामक दोष दिया गया है, वह भी उन लोगों द्वारा  
दिया गया है जो स्याद्वाद घल से अनभिज्ञ हैं । स्याद्वादियों का भत है कि  
सामान्य विशेषात्मक वस्तु में सामान्य और विशेष ही भेद है; क्योंकि भेद  
रूप ध्वनि के द्वारा उन दोनों सामान्य-विशेषों का कथन किया जाता है ।  
इत्याधिक नय की प्रधानता से अभेद है, यथार्थ में इत्य ही अभेद है; क्यों-  
कि एकानेकात्मक है—इत्यदृष्टि से वस्तु एक रूप है और पर्यायदृष्टि से  
वस्तु अनेक रूप है, यह भाव है । अथवा भेदनय की प्रधानता से वस्तु के  
अनन्त अर्थ होने से अनवस्था दोष नहीं आता है । इसी को स्पष्ट करते  
हैं—जो सामान्य है और जो विशेष है, उन दोनों से अनुकूल और व्याख्या-

वर्मणामामन्त्यामानवस्था । तथा हि—वस्तामार्यं यद्व विशेषस्तयोरनुवृत्त-  
व्यावृत्ताकारेण भेदः; तयोर्हत्यार्थक्रियाभेदात्, तद्यभेदश्च प्रवित्तभेदात्, सोऽपि सह-  
कारिभेदादित्यनन्तवर्मणामङ्गीकरणात् कुतोनवस्था ? सधार चोक्तम्—

मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम् ।

वस्तवानन्त्येऽप्यथावत्तौ च नानवस्था विचारते ॥ ३९ ॥ इति

ये च सङ्कुर-व्यतिकरी ताथपि मेचकज्ञानविदश्चेन सामान्यविशेषशृष्टान्तेन च  
परिहृती । अथ तथा प्रतिभासनं परस्परापि वस्तुनि तर्वैव प्रतिभासोप्तु;

आकार से भेद है और अनुवृत्त-व्यावृत्ताकार का भेद अर्थक्रिया के भेद से  
है—गो गो, इस प्रकार का उदाहरण अनुवृत्ताकार का है, श्याम शुक्ल  
नहीं होता है, यह उदाहरण व्यावृत्ताकार का है । अर्थक्रिया का भेद उन  
दोनों की शक्तियों के भेद से है, वह शक्तिभेद भी सहकारिभेद से है ।  
इस प्रकार अनन्त धर्मों के अन्तर्मेत्र करने से तनावलक्ष्य कहा जा सकता  
है ? जैसा कि कहा गया है—

**इत्योकार्थं—**मूल का विनाश करने वाली अनवस्था को दूषण कहते हैं,  
किन्तु वस्तु के अनन्तपना होने पर अथवा विचार करने की अनन्तर्याता  
होने पर ( वस्तुविकल्प की परिसमाप्ति होने पर ) अनवस्था दोष का  
विचार नहीं किया जाता है ॥ ३९ ॥

जो सङ्कुर और व्यतिकर दोष कहे गए हैं, उनमें से सङ्कुर मेचकज्ञान  
के उदाहरण से और व्यतिकर सामान्य-विशेष के दृष्टान्त से निराकृत कर  
दिए गए । ( पौर्व वर्ण का मेचक नामक रूप होता है । जैसे मेचक में  
नीलादि अमेक प्रतिभास होने पर यह कहना सम्भव नहीं है कि जिस रूप  
से पीत प्रतिभास है, उस रूप से पीत प्रतिभास भी है और नील प्रतिभास  
भी है, किन्तु भिन्न आकार से प्रतिभास है । उसी प्रकार एक ही वस्तु में  
भेद और अभेद को व्यवस्था भवीभावि घटित होती है । ऐसा नहीं है  
कि जिस रूप से विशेष हो, उस रूप से सामान्य ही अथवा जिस रूप से  
सामान्य है, उस रूप से विशेष हो । इस प्रकार व्यतिकर दोष को  
अवकाश नहीं है । सामान्य ही विशेष है । जैसे—गोत्व ) खण्डो, मूण्डो  
आदि गायों की अपेक्षा सामान्य है और भैंसा आदि की अपेक्षा विशेष है ।  
इस प्रकार व्यतिकर दोष का निराकरण कर दिया गया । )

**योग—**मेचक वर्ण में उस प्रकार का ( विकार और सामान्य-विशेष  
रूप ) प्रतिभास होता है ।

**जैन—**स्थानादियों के भी अनेकान्तात्मक वस्तु में उसी प्रकार भेदाभेद

संशय पक्षपाताभावात् । निर्णये संशयोऽपि न युक्तः, तस्य अलितप्रतिपत्तिस्तुत्यवाद-  
चलितप्रतिपत्तिस्तुत्यवाद् । प्रतिपत्ते वस्तुन्यप्रतिपत्तिस्तुत्यतिसाहस्रम् । उपलब्धय-  
भिक्षानादनुपलम्भोऽपि न रिद्धस्ततो नाभाव इति दृष्टेष्टाविरुद्धभनेकात्तथासनं  
निदिग्म् । ०लेनावश्यत्ययविनोग्यगुणयुग्मिनोः कर्मतद्वत्तोर्ब्रह्म कथञ्चिच्च भेदाभेदी  
प्रतिपादितो वीडुव्यो ।

अथ समवायवशाद्विभन्नेऽवप्यभेदप्रतीतिरनुपलम्भव्यात्युल्याहश्चामस्येति चेत्त;  
तस्यापि ततो भिन्नस्य व्यवस्थापरित्युपात्तेः । तथाहि—समवायदृत्तिः स्वसम-  
वायिषु वृत्तिमती स्याद्वृत्तिमती वा ? चुलिमस्ये स्वेनैव वृत्त्यवश्वरेण वा ? तावदाच्चः

रूप से ही प्रतिभास हो । प्रतिभास किसी के विषय में पक्षपात नहीं करता  
है । मेचक आदि में प्रतिभास के बल से निर्णय हो जाने पर संशय भी युक्त  
नहीं है । संशय तो स्थान है या पुरुष है, इस प्रकार चलित ज्ञान रूप  
होता है, किन्तु स्थिर प्रतिभास रूप वस्तु में संशय दुर्घट है । प्रमाण से  
जानी हुई वस्तु में अप्रतिपत्ति नामक दोष कहना अति साहस्र है । अनेका-  
न्तालम्भ वस्तु की उपलब्धि के कथन से अनुपलम्भ भी सिद्ध नहीं होता  
है । अनुपलम्भ के अभाव के कारण अभाव नामक दोष भी प्राप्त नहीं  
होता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान से अविष्ट अनेकान्त शासन  
सिद्ध है । विरोधादि दोष के परिहार से—सामान्य और विशेष में कथञ्चिच्चत्  
भेद और अभेद सिद्ध करने से अवयव और अवयवी । जैसे कपाल और  
घट ), गुण और गुणी ( जैसे ज्ञान और आत्मा ) तथा क्रिया और क्रिया-  
वान् में कथञ्चिच्चत् भेद और कथञ्चिच्चत् अभेद प्रतिपादित किए गए  
समझना चाहिए ।

बीम—जिसे बहुतुल्य ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे अलगज पुरुष के  
समवाय सम्बन्ध के बाहे से भिन्न पदार्थों में भी अभेद की प्रतीति होती  
है । ( अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, नित्य-  
द्रव्य और विशेष, इनमें जो सम्बन्ध होता है, वह समवाय है । )

जैन—यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि समवाय सम्बन्ध की भी पदार्थों  
से भिन्न व्यवस्था करना सम्भव नहीं है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—  
समवाय सम्बन्ध अपने समवायी पदार्थों में ( द्रव्यादि पाँच में तथा गुण  
गुणी आदि में ) सम्बन्ध वाला है अथवा असम्बन्ध वाला है ? यदि  
सम्बन्ध वाला है तो समवाय से ही अपने समवायियों में सम्बन्ध वाला है  
या अन्य सम्बन्ध से ? समवाय सम्बन्ध से अपने समवायियों में समवाय

पक्षः समवाये समवायानभ्युपगमात्; पञ्चांसां समवायित्वमिति वचनात् । वृत्त्य-  
स्तरकल्पनायां तदपि स्वसम्बन्धिषु यत्क्षेत्रे न वेति कल्पनायां कृत्यन्तरधरम्परा-  
प्राप्तेरमवश्या । वृत्त्यन्तरस्य स्वसम्बन्धिषु वृत्त्यन्तरभ्युपगमान्मानवस्थेति चेत्तदि-  
समवायेऽपि वृत्त्यन्तरं भासुत् । अथ समवायो न स्वाश्रय्युत्तिरङ्गीकियते तद्दि-  
व्यामायित्वमिति ग्रन्थो विश्वाते । अथ समवायिषु सत्स्वेकं समवायप्रलीते-  
स्तस्याभित्वमुपलक्ष्यते, तद्हि मूर्त्तद्वयेषु सत्स्वेकं दिग्मिलङ्गस्थेदमतः पूर्वेण इत्यादि-  
ज्ञानस्य, कालङ्गिङ्गस्य च परापरादिप्रत्ययस्य सद्भावात्तयोरपि तथाभित्वं  
स्थान् । तथा चायुक्तमेतद्वयत्र नित्यद्रव्येभ्य इति । किञ्च समवायस्वानाचित्तत्वे  
सम्बन्धलक्षणैर्य त शट्टते । तथा च प्रयोगः—समवायो न समवायः; अनाश्रितस्वादि-  
आदिविति । अत्र समवायस्य वर्णिणः कथञ्जलादात्यरूपस्यानेकस्य च एहि-

बाला है यदि यह मानों तो आप लोगों में समवाय में समवायों की नहीं  
माना है । आपके यहाँ कहा गया है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और  
विशेष इन चाँच पदार्थों में ही समवाय सम्बन्ध होता है । अन्य  
सम्बन्ध से सम्बन्ध बाला है, ऐसी कल्पना करने पर वह सम्बन्ध भी अन्ये  
सम्बन्धियों में है अथवा नहीं है, इस प्रकार की कल्पना होने पर अन्य  
सम्बन्ध की परम्परा प्राप्त होने से अनवस्था दोष आता है । अन्य  
सम्बन्ध का (विशेषण विशेष्य भाव का) अपने सम्बन्धियों में ( दण्ड-  
दण्ड में ) सम्बन्धान्तर स्वीकार न करने से अनवस्था नहीं आती है,  
यदि आप ऐसा कहते हैं तो हमारा कहना है कि समवाय में सम्बन्धान्तर  
न हो । यदि आप लोग ( नैयायिक ) कहें कि समवाय को स्वाश्रय  
( तन्तुपराश्रय ) वृत्ति अंगीकार नहीं करते हैं तो छह पदार्थों के आश्रित-  
पना है, यह आपका ग्रन्थ विशेष को प्राप्त होता है ।

**पौन—**समवायियों के होने पर समवाय की प्रतीति होती है अतः  
समवाय के आश्रितपने की प्राप्ति होती है ।

**जैन—**तो मूर्त्तद्रव्योंके होने पर ही दिशा रूप द्रव्य का लिङ् जो यह  
इससे पूर्व में है इत्यादिज्ञान के और काल द्रव्य का लिङ् जो परमपरादि  
प्रत्यय का सद्भाव है ( उसके पाए जाने से दिशा और काल को भी मूर्त्त  
द्रव्यों के आश्रित मानना पड़ेगा । ऐसा होने पर 'नित्य द्रव्योंको  
'छोड़कर', ऐसा सूत्र कहना अयुक्त ही है । दूसरी बात यह है कि समवाय  
के अनाश्रितपना मानने पर सम्बन्धरूपता ही घटित नहीं होती है ।  
वचनात्मक अनुभाव प्रयोग इस प्रकार है—

समवाय सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वह दिशा आदि के समान अनाश्रित  
है । वहीं पूर्व समवाय रूप थर्मों के कथञ्जित् तादात्म्य और अनेक होने

प्रतिपन्नत्वात्मियाद्वकप्रमाणवाधा आश्रयासिद्धिशब्द न बास्त्वति । तस्याऽधितत्वे-  
उद्योगत्वमिधीयते न समवाय एकः सम्बन्धात्मकत्वे सत्याशिद्वात् संयोगवत्  
सत्त्वाऽभेकात् इति सम्बन्धशिष्टेष्यम् ।

अथ संयोगे निविड-शिथिलादिप्रत्ययनामात्मानात्म नान्यश्च विषय्यादिति  
चेन्न, समवायेऽन्युत्पत्तिस्तमस्त्वनश्वरत्वप्रत्ययनामात्मवृह्ण सुलभत्वात् । सम्बन्धमेदाद-  
भेदोऽन्यत्रापि समानं इति नैकत्रैव पर्यनुशोणो युक्तः । तस्मात्समवायस्य परपरि-  
कलिपत्वस्य विचारसंहत्वान्न तद्वाद् गुणगुण्डादिष्वभेदप्रतीतिः । अथ भिन्नप्रति-  
भासाद्वयदाक्षयव्यादीनां भेद एवेति चेन्न; भेदप्रतिभासस्या भेदाविरोधात् । घट-

की जैनों की स्वीकृति होने पर धर्मी को सहृण करने प्रमाण से बाधा और  
आश्रयासिद्ध महीं कहना चाहिए । ( समवाय है; क्योंकि समवायियों में  
होने पर ही समवाय की प्रतीति होती है, इस प्रमाण से जो बाधा होती  
है । उससे, जैनमत में समवाय रूप धर्मी के अंगीकार न किए जाने से  
आश्रयासिद्धि है, ऐसा नहीं कहना चाहिए । यद्यपि हम आपके द्वारा कहे  
हुए लक्षण वाले समवाय को स्वीकार नहीं करते, किन्तु कथकित्वं  
तादात्म्य रूप को स्वीकार करते हैं, अतः आश्रयासिद्धि नहीं है । ) समवाय  
के आश्रितपना स्वीकार करने पर भी यह दोष कहा जा सकता है कि  
समवाय एक नहीं है; क्योंकि सम्बन्धात्मकता होने पर भी आश्रितपना  
पाया जाता है । सत्ता के द्वारा व्यभिचार दोष आता है, अतः उसके  
निवारण के लिए सम्बन्धात्मकपना होने पर, यह विशेषण दिया है ।

यौग—संयोग में, यह सध्वन संयोग है, यह शिथिल संयोग है, इत्यादि  
माना प्रकार की प्रतीति होने से नानापना पाया जाता है, किन्तु समवाय  
में यह नानापन नहीं पाया जाता है; क्योंकि वह संयोग से विपरीत है  
( क्योंकि समवाय में निविड, शिथिल आदि माना प्रकार की प्रतीतियों  
का अभाव है ) ।

जैन—ऐसा कहना ठीक नहीं है । समवाय में भी उत्तिमत्व,  
विनश्वरत्व आदि माना प्रकार के धर्मों की प्रतीति सुलभ है । यदि कहा  
जाय कि सम्बन्धी के भेद से समवाय में नानापन का भेद प्रतीत होता है  
तो जो समवाय नहीं है, उसमें भी यह नानापन समान है, अतः एक  
जगह ( संयोग के विषय में ) प्रश्न करना युक्त नहीं है । अतः यौगों के  
द्वारा कल्पित समवाय विचार को सहन नहीं कर पाता है । अतएव उस  
समवाय के कथ से गुण-गुणी आदि में अभेद की प्रतीति नहीं हो सकती है ।

भिन्न प्रतिभास होने से अवयव-अवयवी आदि में भेद ही है, तो ऐसा

पटादीनामपि कथकिच्चदभेदोपपत्तेः, सर्वंया प्रतिभासमेवस्यासिद्धेष्व; इवमित्याच्च-  
भेदग्रस्तिभासस्यापि भावात् । ततः कथकिच्चद भेदमेवात्मकं द्रव्यापर्यायात्मकं सामा-  
न्यविशेषात्मकं च तत्त्वं तीरुक्षिणकुनिन्यायेनाऽप्यात्मित्यलमतिप्रशङ्खेन ।

इदानीमकेकान्तात्मकवस्तुमर्थनार्थमेव हेतुदण्डाह—

**अनुवृत्तव्याद्वृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तरकारपरिहारा-  
वाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेष्व ॥ २ ॥**

अनुवृत्ताकारो हि गोर्गीस्त्वादिप्रत्ययः । व्यावृत्ताकारः इत्यादिप्रत्ययः । तयोर्गीष्वरस्तत्त्वं भावस्तत्त्वम्, तस्मात् । एतेन तिर्यक्सामान्यव्यवहितिरेकलक्षणविशेषद्वात्मकं वस्तु साधितम् । पूर्वोत्तरकारयोर्यासदृश्येन परिहाराकाली, ताम्यां स्थितिः मैव उक्तम् यस्य, स चासौ परिणामस्वच्छ, तेजार्थक्रियोपपत्तेष्वेत्यनेन

कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भेद रूप प्रतिभास का अभेद रूप प्रतिभास के साथ कोई विरोध नहीं है । घट पटादि में भी कथकिच्चत् भेद शीक है सर्वथा प्रतिभास भेद की असिद्धि है । 'यह सत् है', इत्यादि अभेद प्रतिभास भी पाया जाता है । अतः कथकिच्चत् भेदभेदात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, और सामान्यविशेषात्मक हो सत्त्व है । जैसे जिसे तीर दिखाई नहीं दे रहा है ऐसे पुरुष की पक्षी दृष्टिगोचर हुआ । उस पक्षी का तीर ही आश्रय है, ऐसा बोध उस पुरुष को अपने आप हो जाता है, इसी न्याय से वस्तु अनेकान्तात्मक सिद्ध हो जाती है । इस प्रसंग में अधिक कहने से बस ।

अब अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन के लिए ही दो हेतु कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक है; क्योंकि वह बनुवृत्त और व्यावृत्त प्रत्यय की विषय है । तथा पूर्व आकार का परिहार और उत्तर आकार की प्राप्ति तथा स्थितिलक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पायी जाती है ॥ २ ॥**

यह भी है, यह भी गी है, यह भी गी है, इत्यादि प्रतीति की अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं । यह व्याप्त कर्ण की है, यह शब्द है इत्यादि व्यावृत्त प्रत्यय है । इन दो प्रकार के प्रत्ययों का विषय होना, उसके भाव को सत्त्व कहते हैं । उससे तत्त्व अनेकान्तात्मक सिद्ध होता है । इस कथन से तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक लक्षण विशेष, इस प्रकार द्रव्यात्मक कल्पुतिद्ध होती है । पूर्वकार और उत्तरकार इन दोनों पक्षों का परामर्श से परिहार और अनुप्ति इन दोनों पक्षों के साथ सम्बन्ध करता चाहिए ।

तु असामान्य पर्यायालयं विशेष वृथ रूपं वस्तु समयितं भवति ।

अथ प्रथमोद्दिष्टसामान्यभेदं ऊर्ध्वस्त्राह—

**सामान्यं हेषा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ३ ॥**

प्रथमभेदं उदाहरणमाह—

**सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ४ ॥**

नित्यैकरूपस्य गोत्वादेः क्रमधौगपद्मास्यामर्थकियाविरोधात्—प्रत्येकं परिसमान्या अविक्षितपु वृत्त्यकोणाच्चामेकं सदृशपरिणामालयकभेदेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम् ।

त्रिसीधभेदमपि उदृष्टान्तमुपवर्णयति—

**परापरविवर्तन्तेभ्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मूदिष्ट स्थासादिषु ॥ ५ ॥**

सामान्यमिति वस्तुते । तेऽप्यमर्थः—ऊर्ध्वतासामान्यं भवति । कि वत् ?

इन दोनों के साथ जो स्थिति है, वही लक्षण जिस परिणाम का है, उस परिणाम से अर्थकिया बन जाती है । इस हेतु से ऊर्ध्वता सामान्य और विशेष रूप वस्तु का समर्थन होता है ।

अब पहले जिसका कथन किया है, ऐसे सामान्य के भेद को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूचार्थ—सामान्य दो प्रकार का है—१. तिर्यक् सामान्य और २. ऊर्ध्वता सामान्य ॥ ३ ॥**

पहले भेद के विषय में उदाहरणपूर्वक कहते हैं—

**सूचार्थ—सदृश परिणाम की तिर्यक् सामान्य कहते हैं । जैसे खण्डों, मुण्डी आदि में भौपता ॥ ४ ॥**

नित्य और एक रूप गोत्व आदि के क्रम और धीगपद्म से अर्थकिया का विरोध है । तथा एक सामान्य के एक व्यक्ति में साकल्य रूप से रहने पर अन्य अविक्षितयों में रहना सम्भव नहीं है । अतः अनेक और सदृश परिणाम ही सामान्य हैं । इस प्रकार तिर्यक् सामान्य का स्वरूप कहा ।

सामान्य के दूसरे भेद को भी उदृष्टान्त के साथ दिखलाते हैं—

**सूचार्थ—पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहने वाले द्रव्य की ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं, जैसे स्थासादि में मिट्टी रहती है ॥ ५ ॥**

यहाँ पर सामान्य पद की अनुवृत्ति होती है । उससे यह अर्थ होता है कि यह ऊर्ध्वता सामान्य है । वह क्या वस्तु है ? द्रव्य है । वह, द्रव्य

द्रव्यम् । तदेव विशेष्यते परापरविवर्तव्यापीति पूर्वपिरकालवति जिकालनुयायो-  
त्तर्चः । चिन्तागताहैःस्ता तु विशेषाद्यते । एव प्रस्तौलयाकाररूपाप्तिवदेवत्य ब्रह्म-  
आविपरिणाम व्यापित्वमित्यर्थः ।

विशेषस्यापि द्विभिर्व्यमुपदेशंयति—

**विशेषशब्द ॥ ६ ॥**

त्वं धैर्यविक्रियमागेनाभिसम्बन्धः ।

**पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥ ७ ॥**

तदेव प्रतिपादयति—

प्रथमविशेषभेदमाह—

**एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि  
हर्षविषादादिवत् ॥ ८ ॥**

अथात्मद्रव्यं स्वदेहप्रमिलिमात्रमेव, न व्यापकम्, नापि वटकणिकामात्रम् । न  
च कायाकारपरिणतम् तकदम्बकमिति ।

‘परापरविवर्तश्चपि’ इस विशेषण से विभिन्न है । परापरविवर्तव्यापि इस  
दब का अर्थ है—पूर्वपिरकालवति या त्रिकाल अनुयायी । जैसे एक चित्र  
ज्ञान एक साथ होने वाले अपने अन्तर्गत अनेक नील-गीतादि आकारों में  
व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वतासामान्य रूप द्रव्य काल क्रम से होने  
वाली पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है । विशेष भी दो प्रकार का है,  
यह दिखाते हैं—

**सूत्रार्थ—विशेष भी दो प्रकार का है ॥६॥**

द्वेष्ठा, इस दब का अधिकार से सम्बन्ध किया गया है ।

**सूत्रार्थ—पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार का है ॥७॥**

विशेष के प्रथम भेद को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं । जैसे—आत्मा में हर्षविषादादिक ॥८॥**

यही पर आत्म द्रव्य अपने शरीर के प्रमाण मात्र ही है, न व्यापक है  
और न वटकणिका मात्र है और न शरीराकार से परिणत भूतों के समुदाय  
रूप है ।

**विशेष—ज्ञान, सुख, वीर्य, दर्शन आदि चौकिं आत्मा के सहभावी हैं,**

तत्र व्यापकत्वे परेषामनुभानम्—आत्मा व्यापकः, द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तित्वादाकाश-वदिति । तत्र यदि रूपादिलक्षणं मूर्त्तिं तत्प्रतिषेधोऽमूर्त्तिं त्वम्, तदा मनसा ज्ञेयालः । अथासर्वं गतद्रव्यपरिभाणं मूर्त्तिं त्वम्, तन्निषेधस्तथा चेत्परम्प्रति साध्यसमो हेतुः । यथामरमनुभानम्—आत्मा व्यापकः, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादाकाशवदिति ।

तदपि न साधु साधनम् । अणुपरिमाणानधिकरणत्वमित्यत्र किमर्य नज्ञवः पर्युदासः प्रसज्जयो वा भवेत् ? तत्राद्यत्वे अणुपरिमाणप्रतिषेधेन महापरिमाणमधान्नार परिभाणं परिभाणमात्रं वा । महापरिभाणं चेत्साध्यसमो हेतुः । अवान्तर-

अतः गुण हैं, क्रमभावि होने से वे पर्याय होते हैं; क्योंकि वस्तु अनेक अभीत्यक है। मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं घट आदि को जानता हूँ, इस प्रकार मैं की प्रतीति से अपने देह में आत्मा सुखादि स्वभाव रूप से प्रतीत होती है, पर सम्बन्धी देहान्तर में या अन्तराल में नहीं प्रतीत होती है। व्यापकत्व का कल्पना करने पर आत्मा सब जगह दिखाई देना चाहिए और भोजनादि के व्यवहार का संकर भी हो जायगा; क्योंकि एक आत्मा का समस्त आत्माओं से सम्बन्ध हो जायगा । समस्त शरीर में सुखादि की प्रतीति से विरोध के कारण आत्मा बटकणिका मात्र भी नहीं है । चाकि लोग ऐसा मानते हैं कि पृथ्वी, जल, वेज, वायु रूप भूतों का समुदाय आत्मा है, किन्तु भूतों का समुदाय अवेतन है, अतः उसकी नेतृत्व की उत्पत्ति में विरोध आता है ।

आत्मा के व्यापकपने के विषय में यीरों का अनुभान है—आत्मा व्यापक है; क्योंकि उसमें द्रव्यपना होने पर भी वह अमूर्त है, आकाश के समान । द्रव्यत्व होने पर अमूर्त होने के कारण, ऐसा साधन करने पर यदि रूपादिलक्षण मूर्त्तिं है और रूपादिलक्षण का प्रतिषेध अमूर्तत्व है तो आपके हेतु मैं मन से व्यभिचार आता है । यदि कहें कि असर्वंगत ( अव्यापक ) द्रव्यपरिभाण का नाम मूर्त्तिं है और उसके निषेध को अभूत्तिं कहते हैं तो आपका हेतु पर के प्रति ( जैरों के प्रति ) साध्यसम हो जाता है । और जो आपका दूसरा अनुभान है कि आत्मा व्यापक है; क्योंकि अणुपरिमाण अधिकरण वाला न होकर नित्य द्रव्य है; जैसे आकाश । यह हेतु भी ठीक नहीं है । आपने जो अणुपरिमाणानधिकरणत्व हेतु दिया है, जो यह नजर्थ है, वह पर्युदास रूप है या प्रसज्ज रूप है ? पर्युदास रूप प्रथम पक्ष है, उसमें अणुपरिभाण के प्रतिषेध से महापरिमाण अभीष्ट है अथवा अवान्तर परिभाण ( मध्यपरिमाण ) अभीष्ट है अथवा

परिमाणं चेद् विषद्गो हेतुः, अवान्तरपरिमाणाधिकरणत्वं लग्नश्चयकरत्वमेव साध्यतीति । परिमाणमात्रं चेत् तस्यपरिमाणसामान्यमज्जीकर्तव्यम् । तथा चाणुपरिमाणप्रसिद्धेभ्यं परिमाणसामान्यान्विकरणत्वमात्मन इत्युक्तम् । तच्चनुपपत्तम्, व्यवस्थिकरणासिद्धिप्रसङ्गात् । न हि परिमाणसामान्यमात्मनि व्यवस्थितम्, किन्तु परिमाणव्यविशेषेभ्यति । न चावान्तरमहापरिमाणदूषान्वाचारतयः उल्लम्बप्रसिद्धेभ्ये परिमाणमात्राधिकरणता तथा निष्ठेतुं शक्या ।

दृष्टान्तश्च साधनविकलः, आकाशस्य भागापरिमाणाधिकरणस्य परिमाणमात्राधिकरणत्वादेत्यात् । नित्यद्रव्यत्वं च सर्वेषाऽसिद्धम्, नित्यस्य क्रमाक्रमान्यामधीक्रियाधिकरोचादिति । प्रभज्यपक्षेऽपि तुच्छामावस्थं प्रहृष्टेषायामन्वात् न विशेषणत्वम् । न चागृहीसविशेषणं नामः ‘न चागृहीसविशेषणा विशेषे शुद्धिः’

परिमाणमात्रं अभीष्टं है, यदि महापरिमाण नामे तो हेतु साधन संक होता है । ( महापरिमाण का अर्थ यदि व्यापकपना मानो तो अनुमान इस प्रकार होया—आत्मा व्यापक है, व्यापकपने के कारण । जैसे शब्द अनित्य है, अनित्यत्वत्व होते हुए वाह्ये निद्रिय प्रत्यक्ष के कारण । यहीं हेतु साध्यसम है । इसी प्रकार प्रकृति में भी जानना चाहिये ) । यदि अवान्तरपरिमाण मानें तो हेतु विषद्ग होगा । अवान्तरपरिमाणाधिकरणपना अव्यापकपने को हो सिद्ध करता है । यदि परिमाणमात्रं रूप कहें तो परिमाणसामान्य हो अज्ञीकार करना चाहिये । इस प्रकार से अणुपरिमाण के प्रतिषेध द्वारा आत्मा के परिमाणसामान्य का अधिकरणपना है, ऐसा कहना सिद्ध होता है, किन्तु यह ठोक नहीं है । ऐसा मानने पर तो व्यधिकरण सिद्धि का प्रसंग आ जायेगा । परिमाणसामान्य आत्मा में व्यवस्थित नहीं है, किन्तु परिमाणविशेषों में ही व्यवस्थित है । और अवान्तरपरिमाण तथा महापरिमाण इन दोनों के आधार रूप से आत्मा के अनिश्चित रहने पर परिमाणमात्र की अधिकरणता भी आत्मा में निश्चित नहीं की जा सकती है ।

आपका आकाश रूप दृष्टान्त साधनविकल है; क्योंकि आकाश महापरिमाण का अधिकरण है, अतः वह परिमाणमात्र का अधिकरण नहीं हो सकता है । हेतु में नित्यद्रव्यत्व रूप जो विशेष्य पद दिया है, वह नित्यद्रव्यत्व सर्वेषा असिद्ध है; क्योंकि नित्य पदार्थ के क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया का विरोध है । प्रसञ्ज पक्ष को मानने पर भी तुच्छ अभाव के शहृण करने का उपाय सम्भव न होने से विशेषणपना नहीं बन सकता है ।

इति वचनात् । न प्रत्यक्षं तद्-ग्रहणोपायः, सम्बन्धाभावात् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षं हि प्रत्यक्षं तन्मते प्रसिद्धम् । विशेषण-विशेष्यभावकरूपमायामभावस्यागृहीतस्य विशेषणस्वमिति तथैव दृष्टिम् । तस्मात्स्य व्यापकमात्मदृष्ट्यम् ।

नापि वटकणिकामात्रम्, कमनीयकान्ताकुचजघनसंधर्षकाले प्रतिलोमकूपमा-ल्हादनाकारस्य सुखस्यानुभवात् । अन्यथा सर्वाङ्गीणरोमाङ्गचादिकायोग्योग्योगाद् । आशुवृत्त्याद्यनात्तद्वक्त्वमेष्टे तत्सुखभित्यनुपत्त्यम्, परापरान्तकरण-सम्बन्धस्य तत्कारणस्य परिकल्पनायां व्यवधानप्रसङ्गात् । अन्यथा सुखस्य मानस-प्रत्यक्षत्वायोगादिति ।

नापि पृथिव्यादिचतुर्ष्यास्त्रकल्पमात्रमनः समभावस्ते, अचेतनेभ्यवैतन्योपत्यस्य-मीगाद् “धारणेण द्विवो<sup>३</sup>णता” लक्षणात्ययाभावाद्यच । तत्त्वज्ञासवालकस्य स्तनादा-

जो अगृहीत है, वहू विशेषण नहीं हो सकता है । विशेषण के नहीं ग्रहण करने पर विशेष्य में लुढ़ि नहीं होती है, ऐसा न्याय का वचन है । प्रत्यक्ष से तुच्छ अभाव के ग्रहण करने का उपाय नहीं है; क्योंकि दोनों में सम्बन्ध का अभाव है । योगों के मत में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है । विशेषण विशेष्य भाव की कल्पना करने पर अभाव जब तक ग्रहण न कर लिया जाय, जब तक विशेषणपना नहीं बन सकता, इस प्रकार वही दोष यहीं प्राप्त होता है । अतः आत्मदृष्ट्य व्यापक नहीं है ।

आत्मा वटकणिकामात्र भी नहीं है, क्योंकि सुन्दर स्त्री के स्तन और जघन के स्पर्श के काल में प्रत्येक रोमकूप में आङ्गाद उत्पन्न करने वाले सुख का अनुभव होता है । अन्यथा समस्त अंगों में रोमाङ्गवादि नहीं होना चाहिये । शीघ्रता के कारण अलातचक्र के समान वह सुख क्रम से ही है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सुख के कारण स्वरूप अन्तःकरण के नये-नये सम्बन्ध की कल्पना करने पर सुख के व्यवधान का प्रसंग आता है । अन्यथा सुख की मानसप्रत्यक्षता नहीं होगी ।

आत्मा के पृथिव्यादिचतुर्ष्यरूप होने की भी समभावना नहीं है । अचेतनों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । धारण, ईरण, द्रव और उष्णता लक्षण स्वभाव वाले जो क्रमशः पृथिवी, वायु, जल, अग्नि हैं, उनका चैतन्य के साथ अन्वय नहीं है । तत्कालीन उत्पन्न हुए शिशु के

१. धारणलक्षणा पृथिवी ।

२. ईरणलक्षणो वायुः ।

३. द्रवलक्षणं जलम् ।

४. उष्णतालक्षणोऽग्निः ।

वभिलाषाभावप्रसङ्गात् । अभिलाषो हि प्रत्यभिज्ञाने भवति, सब उपरणे, स्परणे चानुभवे भवतोति पूर्वानुभवः सिद्धः । मध्यविषयाणां तर्थीय इष्टात्मेः । मूलाना रक्षोदक्षादिकुलेषु स्वयमूरुपन्नत्वेन कथयतां दर्शनात्, केयाद्विद्, भवस्मृतेहालम्बान् चक्रानादिवेतनः सिद्ध एव । तथा कोक्षम्—

तदहृजं स्तनेहातो रक्षोदुष्टेर्भवस्मृतेः ।

भूतानन्वयनास्तिसदः प्रकृतिः सनातनः ॥ ४० ॥ इति

न च स्वदेहप्रमितिरात्मेत्यत्रपि प्रमाणाभावात् सर्वश्च संशय इति वक्तव्यम्; क्षत्रानुभावस्थ्य सद्भावात् । तथाहि—देवदत्तात्मा सद्देह एव; तद्वा सर्वत्रैव च विद्यते, तत्रीय तत्र सर्वत्रैव च स्वात्मापारणगुणाघारतयोपलभात् । यो यत्रीय यत्र

स्तनपान की जो अभिलाषा होती है, उसके भी अभाव का प्रसंग आ आयगा । अभिलाषा प्रत्यभिज्ञान होने पर होती है, प्रत्यभिज्ञान स्मरण होने पर होता है, स्मरण अनुभव होने पर होता है, इस प्रकार पूर्वानुभव सिद्ध है । मध्यदद्याम में भी उसी प्रकार से अभिलाषा आदि की डार्पित सिद्ध ही है । (चेतन्य की अभिलाषा का कारण प्रत्यभिज्ञान है, वह स्मरणपूर्वक होता है, स्मरण पूर्वानुभव होने पर होता है, इस प्रकार को व्याप्ति सिद्ध है । मृत व्यक्ति, राक्षस, यक्ष आदि के कुलों में स्वयं उत्पन्न होने का कथन करते हुए देखे जाते हैं, पूर्वजन्म की स्मृति की प्राप्ति से भी चेतन सिद्ध ही है । जैसा कि कहा गया है—

**इलोकार्थ—**तत्काल उत्पन्न बालक के स्तनपान को इच्छा से, राक्षसादि के देखने से, पूर्वजन्म की स्मृति से और पृथिवी आदिभूत चतुष्टय के अन्वय का अभाव पाया जाने से स्वभाव से जाता और द्रव्य रूप से नित्य आत्मा सिद्ध है ॥ ४० ॥

आत्मा स्वदेह परिमाण है, इस विषय में प्रमाण का अभाव होने से सब जगह संशय है । ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इस विषय में अनुमान का सद्भाव है । इसी बात को स्पष्ट करते हैं—देवदत्त का आत्मा उसके देह में ही है और उसके सब प्रदेशों में ही विचमान है; क्योंकि यह उसके शरीर में और सब प्रदेशों में ही अपने असाधारण गुणों के आधार रूप से उपलब्ध होता है । जो जहाँ पर और जहाँ सब जगह अपने असाधारण गुणों के आधार रूप से पाया जाता है, वह वहाँ पर और वहाँ के सब प्रदेशों में ही विचमान है । जैसे देवदत्त के भर में और उसके सर्वभाग में अपने असाधारण भासुरत्व आदि गुण वर्ता प्रदीप पाया

सर्वत्रैव च स्वाधारणात्पुणाधारणीपश्चायकं स उद्योग तथा सर्वत्रैव च विद्यते;  
यथा देवदत्तगृहे एव तत्र सर्वत्रैव चोपलम्ब्यमानः स्वाधारणमासुरत्वादिगृहः  
प्रदीपः । तथा चायम् । तस्मात्त्वेति । तदसाधारणगृहा ज्ञातवर्णनसुखोर्यक्षणास्ते  
च सर्वज्ञीणास्त्रैव चोपलम्ब्यते ।

सुखमालहादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् ।

शक्तिः कियानुमेया स्याद्युनः कान्तासमागमे ॥ ४१ ॥

इति वचनात् । तस्मादाभ्या देहप्रमितिरेव विद्यतः ।

विशेष विशेषभेदमाह—

**अथन्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमत्तिवादिवत् ॥९**

वैसाकृत्यं हि प्रतियोगिप्रदृष्टे रत्येव भवति । न आवेदिकस्वादस्वावस्तुतम्;  
अवस्तुन्यापेक्षिकस्वायोगत् । अपेक्षाया वस्तु-निष्ठत्वात् ।

जाता है । उसी प्रकार देह में और उसके सब प्रदेशों में अपने असाधारण  
गुण के आधार वाला देवदत्त का आत्मा है, इसलिये वह उसके शरीर  
श्रमाण ही है ( जिस प्रकार दोषक के प्रदेशों में संकोच और विस्तार की  
शक्ति पायी जाती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी शरीर के  
अनुसार सञ्चोच, विस्तार हो जाता है ) । आत्मा के असाधारण गुणज्ञान,  
दर्जन, सुख, वीर्य लक्षण वाले मुण्ड आत्मा में हो पाये जाते हैं ।

**दलोकार्थ—**युवा पुरुष के प्रिया के साथ समागम करने पर आह्लाद  
या आनन्द रूप आकार वाले सुख का, शेष पदार्थ के जानने रूप विज्ञान  
का और रमण रूप किया से शक्ति का अनुमान किया जाता है ॥ ४२ ॥  
ऐसा वचन है । इस अनुभाव की सामर्थ्य से आत्मा देहपरिमाण ही  
स्थित है ।

विशेष के दूसरे भेद को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश  
परिणाम की व्यतिरेक कहते हैं । जैसे—गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना  
पाया जाता है ॥ ९ ॥

वैसा दुश्य प्रतिपक्षी के ग्रहण करने पर ही होता है । आवेदिक होने  
से इस विसदृशता को अवस्तु नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि अवस्तु में  
आवेदिकपने का अयोग है । अपेक्षा वस्तु में पायी जाती है ।

स्यात्कारलाङ्घितमवाध्यमन्तन्तर्षम्—

सन्दोहवर्मितमशेषमयि प्रमेयम् ।

देवैः प्रमाणबलतो निरचायि यज्ञ

संस्तिरलवेष युग्मिनिवृते लपैतत् ॥ १० ॥

इति परीक्षामुखस्य लघुवृत्ती विषयसमृद्देशचतुर्थः ।

**इलोकार्थ—**स्यात् पर से लाङ्घित, अवाध्य, अमन्त धर्मों के सभूह से संयुक्त समस्त प्रमेय को अकलंकदेव ने प्रमाण के बल से कहा और जिस प्रमेय को माणिकयनन्दि देव ने संषेष से रखा, उसे ही मुक्त अमन्तवीर्य ने वृलि रूप से कहा है ॥ १० ॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाण के विषय का कथन काला चतुर्थ समृद्देश समाप्त हुआ ।



## पञ्चमः समुद्रदेशः

अथेदानीं फलविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह—

**अज्ञाननिवृत्तिहृतोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥ १ ॥**

द्विविधं हि फलं साक्षात्यारम्भवेति । साक्षात्वाननिवृत्तिः पारम्पर्येण हानादिकमिति; प्रमेयनिश्चयोत्तरकालभावित्वात्स्येति ।

तद्विविधमपि फलं प्रमाणादिभूतमेवेति यौगाः । अभिन्नमेवेति सौगताः । तन्मत्तद्वयनिरसेत् स्वभवं व्यवस्थापयितुमाह—

**प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥ २ ॥**

कथचिच्चदभेदसमर्थनार्थं हेतुमाह—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्साज्ञानो जहात्यावत् उपेक्षते चेति  
श्रतीतेः ॥ ३ ॥

## पञ्चम समुद्रदेश

अब ( प्रमाण के ) फल के विषय में विवाद का निराकरण करने के लिए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**अज्ञान की निवृत्ति, हृल, उपादान और उपेक्षा ये (प्रमाण के) फल हैं ॥ १ ॥

फल दो प्रकार का होता है—साक्षात्फल और पारम्पर्यफल । प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति करना है, पारम्पर्यफल हान आदिक है; क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है ।

यह दोनों ही प्रकार का फल प्रमाण से भिन्न ही है, ऐसा यौग कहते हैं । प्रमाण से फल अभिन्न ही है, ऐसा बीदू लोग कहते हैं । इन दोनों मतों के निराकरण के साथ अपने मत को व्यवस्था करने के लिए आचार्य कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**फल प्रमाण से कथचिच्चत् अभिन्न है और कथचिच्चत् भिन्न है ॥ २ ॥

कथचिच्चत् अभेद का समर्थन करने के लिए हेतु कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**जो ( जानने वाला ) प्रमाण से पदार्थ को जानता है, उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, कही अभिप्रेत प्रयोजन के अप्रसाधक पदार्थ

अथमर्थः—यस्यवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलस्वयंत्रा परिनामस इत्येकप्रमाणविकल्पा प्रमाणफलयोरभेदः । करणक्रियापरिणामभेदाद् भेद इत्यस्य सामर्थ्यसिद्धत्वान्तोऽनभ् ।

पारम्पर्येण साक्षात्कृतं फलं हृष्टाऽभिव्याहि यत् ।  
ऐष्टीनित्यभिन्नं च प्रमाणसम्बद्धोदित्तम् ॥ २१ ॥

इति परीक्षामुख्यलक्ष्यतौ फलसमुद्रदेशः ५ञ्चमः ।

का त्याग करता है, इष्ट प्रयोजन के प्रसाधक पदार्थ को छहण करता है और इष्ट तथा अनिष्ट प्रयोजन का जो प्रसाधक नहीं है, ऐसे (उपेक्षणीय) पदार्थ को उपेक्षा है । इस प्रकार प्रतीति से सिद्ध है ॥ ३ ॥

इसका यह अर्थ है कि जिस ही आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है, उसके ही फल रूप से परिणाम होता है । इस प्रकार एक प्रमाता की अपेक्षा प्रमाण और फल में अभेद है । करण और क्रिया रूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है । इस भेद की सिद्धि सामर्थ्य होने के कारण कथन नहीं किया है ।

**इलोकार्थ—**आचार्य अकल्पकदेव और माणिक्यनन्द देव ने प्रमाण के जिस फल की साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथनित् भिन्न है, कथनित् अभिन्न भी है । वही यही अनन्तवीर्य के हारा कहा गया है ॥ ११ ॥

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाण के फल का कथन करने वाला पाँचवाँ समुद्रदेश समाप्त हुआ ।



## षष्ठः समुद्रदेशः

अथेषानीभूतप्रमाणस्वरूपादित्यतुष्टयाभासमाहि—

ततोऽन्यत्वाभासम् ॥ १ ॥

ततो उक्तात् प्रमाणस्वरूपस्वरूपादित्यतुष्टयाभासमिति ।  
तत्र क्रमप्राप्तं स्वरूपाभासं दर्शयति—

**अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ॥ २ ॥**

अस्वसंविदितश्च गृहीतार्थेष्व दर्शनश्च संशय आदियेषां ते संशयादयश्चेति सबैयां द्रुमः । आदिष्वद्वेष विपर्ययानध्यवसायोरपि ग्रहणम् ।

तत्रास्वसंविदितं ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रत्यक्षस्वादिति नैयायिकाः । तथाहि—ज्ञानं स्वव्यतिरिक्तवेदनवेदम्; वेदात्मात्, घटवदिति । तदस्तुतम्; वर्मिज्ञानस्य ज्ञानं-अन्तरवेदात्मे साक्षात्पालित्वेन वर्मित्वाद्योगात् । स्वसंविदितस्वे तेनैव हेतोरमे-

## षष्ठ लम्बुद्देश

अब ऊपर कहे गए प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल इन चारों के आभासों को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**उनसे भिन्न तदाभास है ॥ १ ॥

उपर्युक्त प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल से विपरीत स्वरूप, संख्या, विषय और फल को तदाभास कहते हैं ।

अब कम प्राप्त स्वरूपाभास को दिखलाते हैं—

**सूत्रार्थ—**अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशयादिक प्रमाणाभास हैं ॥ २ ॥

**विशेष—**यहीं आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय भी ग्रहण करने चाहिए ।

अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन और संशय हैं आदि में जिनके, ऐसे संशयादिक इन सभी का दृन्द्र समास करना चाहिए । आदि शब्द से विपर्यय और अनध्यवसाय का भी ग्रहण करना चाहिए ।

नैयायिकों का कहना है कि ज्ञात अपने आपको नहीं जानता है । इसी को स्पष्ट करते हैं—ज्ञान अपने से अतिरिक्त अन्य ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है; क्योंकि वह प्रमेय है, धड़े के समान । नैयायिकों का यह कथन असंगत है; धर्मी ज्ञान के अन्य ज्ञान से वैद्युपना मानने पर उसके भी

कान्तात् । महेश्वराणि, एव अधिकरात्, आपसमनेभाष्यनेतत्प्राप्त्य-  
षोगाच्च । ते हि जापकमप्रत्यक्षं जाप्य गमयति; शब्दलिङ्गादीनामयि तथैव गम-  
काल्पप्रसञ्चात् । अनन्तरभाविकानग्राह्यत्वे तस्याप्यगुह्यतस्य पराभावकल्पासदत्त-  
तारं कल्पनीयम् । तथापि तदनन्तरभित्यनवस्था । तस्मान्तार्थं पठः श्रेयान् ।

एतेन करणजागस्य परोक्षत्वेनास्वसंविदितत्वं भूवन्नपि शीमांसकः प्रथुक्तः;

साध्य के अन्तर्गत हो जाने से धर्मीपना नहीं रह सकेगा । यदि धर्मी जान अपने आपको जानता है तो उस धर्मी जान के द्वारा ही वेदात्म हेतु के अनेकान्तराना प्राप्त होता है । और महेश्वर जान से भी व्यभिचार आता है । महेश्वर का ज्ञान यदि अपने आपको नहीं जानता है तो वह सर्वज्ञता रूप नहीं होता है । यदि महेश्वर के ज्ञान को स्वसंविदिति नानो तो आपके मत की हानि होती है । दूसरी बात यह है कि महेश्वर के ज्ञान में ज्ञान-  
न्तरवेदात्म नहीं है, वेदात्म है, इसलिए उससे व्यभिचार आता है । व्याप्ति के ज्ञान से भी व्यभिचार आता है, क्योंकि व्याप्ति ज्ञान में अन्य ज्ञान से व्यवधान का अभाव है । ( ज्ञान स्व और पर का प्रकाशक है, क्योंकि उसमें ज्ञानपना है । जैसे—महेश्वर का ज्ञान । वह बिना किसी व्यवधान के अर्थ का प्रकाशक है अथवा अर्थ के ग्रहण करने स्वरूप है, जैसे—महेश्वर का ज्ञान । जो स्वपर प्रकाशक नहीं होता है, बिना किसी व्यवधान के अर्थ का प्रकाशक या अर्थ का ग्रहण करने वाला नहीं होता है, जैसे—चक्षुरादि ) । जो अप्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह ज्ञेय अर्थ की जानकारी नहीं करता है, अन्यथा शब्द और लिङ्ग ( जैसे—जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है ) आदि के भी स्वर्य अप्रत्यक्ष रहते हुए गमकपने का प्रसंग आता है । ( मैंने यह कहा कि अप्रत्यक्ष ज्ञान जानकारी नहीं करता है, यदि आप यह कहें कि ज्ञान स्वर्य अप्रत्यक्ष रहते हुए पदार्थ की जानकारी करता है तो शब्द कान से सुने बिना ही पदार्थ की जानकारी कराए तथा धूप आँखों से देखे बिना ही अग्नि की जानकारी कराए । ) यदि पूर्वज्ञान के अनन्तरभावी ज्ञान के द्वारा ग्राह्यता बन जाती है तो उस अनन्तरभावी अगृहीत ज्ञान के भी पर की अज्ञापकता रहने से तदनन्तरभावी अन्य ज्ञान की कल्पना करनी चाहिए और उसके लिए भी अन्य तदनन्तरभावी ज्ञान की कल्पना करनी चाहिए, इस प्रकार अनवरथा दोष प्राप्त होता है । अतः ज्ञान अन्य ज्ञान से जानने योग्य है क्योंकि प्रभेय है, यह वक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।

इसी कथन से ज्ञान की ज्ञानान्तरवेदात्म के निराकरण से करण ज्ञान के परोक्ष होने से अस्वसंविदितपना कहने वाले शीमांसक का भी निरा-

तस्यापि ततोऽर्थप्रत्यक्षतायोगात् । अथ कर्मत्वेनाप्रतीषभानत्वादप्रत्यक्षते तदि  
फलज्ञानस्याप्रत्यक्षता सत् एव उपास् । अथ फलत्वेन प्रतिभासनात् तो चेत्  
करणज्ञानस्यापि करणत्वेनायभासनात् प्रत्यक्षत्वमस्तु । तस्मादर्थप्रतिपर्यन्यथाऽनुप-  
यत्ते । करणज्ञानकर्मत्वादर्थप्रत्यक्षान्यथाऽनुपपत्तेजनिस्यापि प्रत्यक्षत्वमस्तु ।  
अथ करणस्य चक्षुरादेवप्रत्यक्षत्वेऽपि रूपप्राकटघात् व्यभिचार इति चेन्न, भिन्न-  
कर्तुं करणस्यैव सहशभिभासात् । अभिन्नकर्तुं के करणे सति कर्तुं प्रत्यक्षतायां तद-  
भिन्नस्यापि करणस्य करणकर्तुं प्रत्यक्षत्वेनाप्रत्यक्षतैकान्तविरोधात्, प्रकाशा-  
स्यनोऽप्रत्यक्षत्वे प्रदीपप्रत्यक्षस्यविरोधवदिति ।

गृहीतशाहिधारावाहि ज्ञानं गृहीतार्थम्, दर्शनं सौहृदाभिभृतं निविकल्पकम्,

करण हो गया; क्योंकि मीमांसक के भी उस करण ज्ञान से अर्थ की  
प्रत्यक्षता नहीं बतती है । यदि कर्म रूप से प्रतीत न होने से करणज्ञान के  
अप्रत्यक्षता है तो इसीलिए ही ( कर्म रूप से प्रतीत न होने के कारण ही )  
फलज्ञान के भी अप्रत्यक्षता मानी जाय । यदि फल रूप से प्रतिभासित  
होने के कारण फलज्ञान के परोक्षता नहीं है तो व्यञ्जनात ने भी अपना  
रूप से प्रतिभासित होने के कारण प्रत्यक्षता मानी जाय । इसलिए अर्थ  
का ज्ञान अन्यथा नहीं हो सकने से करणज्ञान की कल्पना के समान अर्थ  
की प्रत्यक्षता अन्यथा नहीं हो सकने से ज्ञान के भी प्रत्यक्षता रही आवे ।  
यदि आप कहें कि करण चक्षु आदि के अप्रत्यक्षता होने पर भी रूप की  
प्रकटता से व्यभिचार आता है, तो वह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि  
भिन्न कर्ता वाले करण के ही वह व्यभिचार दोष प्राप्त होता है, किन्तु  
अभिन्न कर्ता वाले करण के होने पर कर्ता के प्रत्यक्ष होने की दशा में  
उससे अभिन्न करण के भी कष्टिचक्षु प्रत्यक्ष होने से अप्रत्यक्षता रूप  
एकान्त ऋचिनीय है, जैसे प्रकाशात्मकता के अप्रत्यक्ष रहने पर दोषक  
की प्रत्यक्षता का विरोध है । ( करणज्ञान प्रत्यक्ष है, अभिन्न कर्तुं क होते  
हुए प्रत्यक्ष कार्य करने से । जैसे दोषक का भासुराकार ) ।

**विशेष**—करण दो प्रकार का होता है ( १ ) विभक्तकर्तुंक ( २ ) अविभक्तकर्तुंक । कर्ता से अन्य विभक्तकर्तुंक करण है, जैसे देवदत्त करसे  
से करण है । कर्ता से भिन्न अविभक्तकर्तुंक है । जैसे अग्नि उषणा से  
जलाती है । यहाँ पर अविभक्तकर्तुंक करण विवित है, अतः विभक्त-  
कर्तुंकरण से व्यभिचार भी दोष के लिए नहीं है, यह भाव है । ( टिप्पणी )

गृहीतप्राहो धारावाहिक ज्ञानं गृहीतार्थप्रसाणाभास है ( यह भी

तदन् स्वविषयानुपदर्शकत्वात्प्रमाणम्, व्यवसायस्थैव सञ्जनितस्य तदुपदर्शकत्वात् । अथ व्यवसायस्य प्रत्यक्षाङ्कारेणानुरक्तत्वात् ततः प्रत्यक्षस्थैव प्राप्ताण्म्, व्यवसायस्तु गृहीतग्राहित्वादप्रमाणमिति । तस्मि सुभाषितम्, दर्शनस्याविकल्पकस्यानुपलक्षणात् तत्सद्भावायोगात् । सद्भावे या नीलादाविक क्षणक्षयादावपि तदुपदर्शकत्वप्रमाणात् । तत्र विपरीतसमारोपान्मिति चेत्तहि सिद्धं नीलादी समारोपविरोधिसहणलक्षणी निष्ठाय हति तदात्मकमेव प्रमाणम्, दत्तरत्वादभासमिति ।

संप्रयादपश्च प्रसिद्धः एव । तत्र संशय उभयकोटिसंस्पर्शी स्थानुकी युक्तो चेति धरामर्दीः । विषयेः पुनरत्स्मिन्द्विति विकल्पः । विशेषानवधारणमन्त्यवस्थायः ।

प्रमाण नहीं है; क्योंकि इसमें अज्ञाननिवृत्तिलक्षण वाले फल का अभाव है । ऐसा कहा जाता है कि जो प्रमाण होता है, वह फलवान् होता है । ( बीदों द्वारा माना गया निविकल्पक प्रत्यक्ष दर्शन नामक व्रापाणात्मक है । वह दर्शन अपने विषय का उपदर्शक न होने से अप्रमाण है । दर्शन से उत्पन्न निष्ठचयात्मक ज्ञान ही अपने विषय का उपदर्शक है ।

**बौद्ध—**निष्ठचय रूप सविकल्पज्ञान प्रत्यक्ष के आकार से अनुरक्त है ( सविकल्प प्रत्यक्ष में साक्षात्प्रमाणस्व का अभाव है ) अतः निविकल्प के ही प्राप्ताण्म् है । निष्ठचय रूप सविकल्प ज्ञान गृहीत्वादी होने के कारण अप्रमाण है ।

**जैन—**बीदों का यह कहना सुभाषित नहीं; क्योंकि विकल्परहित दर्शन की उपलब्धि न होने से उसका सद्भाव नहीं है । यदि सद्भाव मान लिया जाय तो नीलादि के समान क्षणक्षयादि में भी उसके उपदर्शकपने का काप्रसंग आता है ।

**बौद्ध—**क्षणक्षयादि में विपरीत अक्षणिक का संवायादि रूप समारोप ही जाने से वह उसका उपदर्शक नहीं हो सकता ।

**जैन—**उब तो नीलादि में समारोप के विरोधी एहुण लक्षण वाला निष्ठचय स्वीकार कर लेने से तदात्मक अर्थात् व्यवसायात्मक दर्शन ही प्रमाण है और जो उससे भिन्न है अर्थात् अनिष्ठचयात्मक है, वह निविकल्प दर्शन प्रमाणाभास है ।

संवायादिक प्रमाणाभास प्रसिद्ध ही है । इनमें संशय उभयकोटिसंस्पर्शी धरामर्दी होता है । जैसे—यह स्थान है या पुरुष ? जो वस्तु जैसी नहीं है, उसमें वैसी होने की कल्पना करना विषयय है । विशेष के नाम, जाति आदि का निष्ठचय न कर पाना अनव्यवसाय है ।

कथमेषामस्तसंविदितादीनः तदाभाससेत्यन्वाऽऽहु—

**स्वविद्योपदर्शकत्वाभावत् ॥ ३ ॥**

गतार्थमेतत् ।

अत्र दृष्टान्तं यथाक्रममाह—

**पुरुषान्तरपूर्वर्थिंगच्छत्तुणस्पर्शाणुपुरुषादिकानवत् ॥ ४ ॥**

पुरुषान्तरज्ञ पूर्वर्थिश्च गच्छत्तुणस्पर्शश्च स्थाणुपुरुषादिश्च तेषां ज्ञानम्, तद्वत् ।

अपरं च सन्तिकर्षवादिनं प्रति दृष्टान्तमाह—

**चक्रूरसयोर्द्वये संयुक्तसमवायवच्च ॥ ५ ॥**

अयमर्थो यथा चक्रूरसयोः संयुक्तसमवायः सन्तिपि त्र प्रमाणम्, तथा चक्रूल्पयोरपि । तस्मादध्यभयि प्रमाणाभास एवेति । उपलक्षणमेतत् अतिथ्यापिकवन-

इन अस्वसंविदितादि के प्रमाणभासता क्यों हैं? इस विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**क्योंकि वे अपने विषय का निश्चय नहीं करते हैं ॥ ३ ॥

इस सूत्र का अर्थ कहा जा चुका है ।

अब यथाक्रम रूप से दृष्टान्त कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**अस्वसंविदित ज्ञान प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है जैसे—दूसरे पुरुष का ज्ञान । गुहीतार्थ ज्ञान प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है, जैसे पूर्व में जाने हुए पदार्थ का ज्ञान । निविकल्प ज्ञान प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है । जैसे—जाते हुए पुरुष के तुण स्पर्शादि का ज्ञान । संवायादि ज्ञान भी प्रमाण नहीं होता है; क्योंकि वह अपने विषय का निश्चायक नहीं होता है, जैसे—स्थाणुपुरुषादि का ज्ञान ।

(टिप्पण)

पुरुषान्तरज्ञ पूर्वर्थिश्च गच्छत्तुणस्पर्शश्च स्थाणुपुरुषादिश्च तेषां ज्ञानम् तद्वत्, सूत्र में इस प्रकार द्वन्द्व समाप्त कर लेता चाहिये ।

सन्तिकर्षवादी के प्रति दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**द्रव्य में चक्षु और रस के संयुक्त समवाय के समान ॥ ५ ॥

(सूत्र का) यह अर्थ है कि जिस प्रकार चक्षु और रस का संयुक्त समवाय होने पर भी प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार चक्षु और रूप का भी संयुक्त समवाय प्रमाण नहीं है । अतः यह भी प्रमाणभास ही है । यह

मध्याप्तिश्च, सन्निकर्षप्रत्यक्षादिमा चक्षुषि सन्निकर्षस्याभवत् ।

अतिव्याप्ति का कथन उपलक्षण रूप है, अतः इससे अव्याप्ति का भी ग्रहण करना चाहिये । ( कदाचित् असम्बद्ध उपलक्षण है । जैसे—काक से उपलक्षित घर ) सन्निकर्ष प्रमाण है, इस प्रकार लक्षण के होने पर चक्षु और रस में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष है, परन्तु वहाँ पर चक्षु से रस का ज्ञान नहीं है । अतः प्रमिति के अभाव में भी लक्षण का सद्भाव होने से अतिव्याप्ति है । चक्षु और मन के प्रमिति उत्पादकता है, सन्निकर्षपना नहीं है । अतः लक्षण मात्र में अव्याप्त होने से लक्षण की अव्याप्ति है । आशय यह है कि जब सन्निकर्ष की प्रमाणता करते हैं, तब चक्षु और रस द्वय में संयुक्त समवाय की भी प्रमाणता का प्रसंग हो, इस प्रकार से अतिव्याप्ति है । लक्षण और वलक्षण में पाये जाने को अतिव्याप्ति कहते हैं । चक्षु के बिना इतर इन्द्रियों को सन्निकर्ष सम्बन्ध है, अतः अव्याप्ति है । लक्षण के एकदेश में पाये जाने को अव्याप्ति कहते हैं । ) सन्निकर्ष प्रत्यक्षादिमों चक्षु में सन्निकर्ष का अभाव है । ( इससे असम्भावित दृष्टि को दिखलाया गया है । चक्षु अप्राप्यकारी है; क्योंकि वह छूकर पदार्थों का ज्ञान नहीं करती है । यदि चक्षु प्राप्यकारी होती तो स्पृशन इन्द्रिय के समान छूए हुए ( छूकर ) अञ्जन को ग्रहण करती । चौंकि ग्रहण नहीं करती है अतः मन के समान अप्राप्यकारी है, ऐसा जानना चाहिये । )

**विशेष**—नैवायिकों के यहाँ सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है—(१) संयोग, (२) संयुक्त समवाय, (३) संयुक्त समवेत समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत समवाय और (६) विशेष्य विशेषणभाव । उनमें जब चक्षु से घटविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, तब चक्षु इन्द्रिय और घट अर्थ होता है । इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग हो होता है; क्योंकि अयुतसिद्धि का अभाव है । इसी प्रकार अन्तःकरण मन से जब आत्मविषयक ज्ञान होता है, तब मन इन्द्रिय और आत्मा अर्थ इन दोनों का सम्बन्ध संयोग हो होता है ।

जब चक्षु आदि से घटविषयक का ग्रहण होता है कि घट में व्याप रूप है, तब चक्षु इन्द्रिय और घटरूप अर्थ होता है और इन दोनों का सन्निकर्ष संयुक्त समवाय होता है । चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय होने से चक्षु इन्द्रिय और घटरूप अर्थ का संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है । इसी प्रकार मन से आत्मा में रहने वाले सुखादि गुणों

अथ चक्षुः प्राप्तार्थं परिष्ठेद्वाम्, व्यवहिताय प्रिकाशकत्वात् प्रदीपविदिति  
तत्सिद्धिरिति मतम्, तदपि न साधीयः, काञ्चनभूषणलादिव्यवहितायनामपि चक्षुषा

के ग्रहण होने पर यह सन्निकर्ष ही होता है। घटगत रूपादि गुणों के समान घटगत परिमाणादि का ग्रहण भी संयुक्त समवाय सम्बन्ध से ही होता है, परल्पु घटगत परिमाण आदि के ग्रहण में इन्द्रिय और अर्थ दोनों के अवयव, दोनों के अवयवी, पहिले का अवयव और दूसरे का अवयवी या दूसरे का अवयव और पहिले का अवयवी इन चार के चतुष्टय सन्निकर्ष को भी अतिरिक्त कारण मानना अभीष्ट है; क्योंकि इस चतुष्टय सन्निकर्ष के अभाव में परिमाण आदि के साथ चक्षुः का संयुक्त समवाय होने पर भी दूर से पदार्थ के परिमाणादि का ग्रहण नहीं होता। इसलिए परिमाणादि के ग्रहण में 'संयुक्त समवाय' के अतिरिक्त चतुष्टय सन्निकर्ष को भी कारण मानना अवश्यक है।

जब श्रीओन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द अर्थ होता है। इन दोनों का सम्बन्ध समवाय ही है; क्योंकि कर्ण शब्दुली से धिरा हुआ आकाश श्रोत्र है। इसलिए श्रोत्र के आकाश रूप होने से और शब्द के आकाश का गुण होने तथा गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से श्रोत्र के शब्द का ग्रहण समवाय सम्बन्ध से होता है।

जब शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दत्व आदि सामान्य का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है, तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्दत्व आदि सामान्य अर्थ है। इन दोनों का सन्निकर्ष समवेत समवाय ही होता है। श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द में शब्दत्व जाति का समवाय होने से श्रीओन्द्रिय से शब्दत्व जाति का ग्रहण समवेत समवाय सम्बन्ध से ही होता है।

जब चक्षु से संयुक्त भूतल में 'इस भूतल में घट का अभाव है,' इस प्रकार घटाभाव का ग्रहण होता है, तब विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध होता है। तब चक्षु से संयुक्त भूतल का घटाभाव विशेषण होता है और भूतल विशेष्य होता है।

यदि कहा जाय कि चक्षु प्राप्त करके पदार्थ का निवचय करने वाली है, किन्तु अन्य पदार्थ के व्यवधान के कारण वह अपने विषयभूत पदार्थ का प्रकाशन नहीं कर पाती है। जैसे दीपक। इस प्रकार चक्षु की प्राप्य-क्षमता लिङ्ग होती है। लो ऐसा कहना भी कीक नहीं है; क्योंकि काञ्च-

प्रतिभासनाद्युतोरसिद्धेः । शाखाचन्द्रमसोरेककालदर्शनानुपर्यातिप्रसक्तेऽच । न च  
तथा क्रमेऽपि यौवाचार्थभिमान हति वक्तव्यम्, कालव्यवधानात्मुप लक्ष्येः । किञ्च—  
कामश्चित्प्रियतिः प्रदिवनिर्वाचने मति शब्दति । न च क्रमप्राप्तौ प्रभाषणालरमस्ति ।  
तैजसत्वमस्तीति चेन्न; तस्या भिद्धेः । अथ चक्षुस्तैजसम्; उपर्योगं मत्वे रूपस्यैव  
प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवदिति । तदप्यपयालोचिताभिधानम्, मण्यञ्जनादेः पृथिवत्वेऽपि  
कृपप्रकाशकात्मकत्वात् । पृथिव्यादिरूपप्रकाशकत्वे पृथिव्याहारव्यत्प्रसङ्गात्म ।  
तस्मात्सन्निनिकर्षेस्याभ्यापकत्वात् प्रमाणत्वम्, करणज्ञानेन व्यवधानात्मदेति ।

और बादल के समूह आदि से व्यवधान को प्राप्त भी पदार्थी का चक्षु  
इन्द्रिय से प्रतिभास होता है, अतः आपका हेतु असिद्ध है । तथा शाखा  
और चन्द्रमा के एक ही समय में दर्शन नहीं होने का प्रसंग आता है ।  
शाखा और चन्द्रमा के एक काल में घटण करने में कम होने पर भी एक  
साथ घटण होने का अभिमान होता है ऐसा भी नहीं कहना चाहिए;  
क्योंकि शाखा और चन्द्रमा के एक साथ घटण करने पर काल का व्यवधान  
उपलब्ध नहीं होता है । दूसरी बात यह है कि क्रम का ज्ञान क्रम की उपलब्धि  
का निश्चय होने पर ही हो सकता है । क्रम की प्राप्ति में अन्य कोई  
प्रमाण भी नहीं है । यदि कहा जाय कि क्रम प्राप्ति के निश्चय में तैजसत्व  
प्रमाण है अर्थात् चक्षु प्राप्त अर्थ की प्रकाशक है, तैजस होने के कारण  
से चक्षु के तैजोद्रव्य होने से कम से ही शाखा और चन्द्रमा की प्राप्ति  
है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षु के तैजसपना असिद्ध है ।  
( चक्षु अतैजस है; क्योंकि उसमें भासुरता नहीं पायी जाती है, इस हेतु से  
चक्षु का तैजसपना असिद्ध है । यदि आप कहें कि चक्षु तैजस है; क्योंकि  
वह रूप, रस, गन्ध और स्फर्क के मध्य में रूप की ही प्रकाशक है । जैसे  
दीपक रूप का ही प्रकाशक है । आपका यह बिना विचार किए किया  
गया कथन है; क्योंकि मणि और अञ्जन आदि के पार्थिवपना होने पर  
भी रूप का प्रकाशकपना देखा जाता है । पृथिवी आदि से आरब्ध होने का प्रसंग आता  
है । इसलिए सन्निकर्ष के अव्यापकता होने से प्रमाणता नहीं है । और  
करणज्ञान से व्यवधान भी है । प्रमाण की उत्तरति में सन्निकर्ष का करण  
ज्ञान से व्यवधान है । जो साधकतम होता है, वह करण होता है, इस  
नियम से साधकतम करण ज्ञान ही है, सन्निकर्ष नहीं है ।

( यहीं तक सामान्य प्रमाणाभास का प्रतिपादन करके अब विशेष  
प्रमाणाभास का प्रतिपादन करते हैं ) ।

प्रत्यक्षाभासभावहुः—

अवैशाश्चे प्रत्यक्षं तदाभासं बीद्रस्याकस्मात् धूमदर्शनाद्विज्ञ-  
विज्ञानवत् ॥ ६ ॥

परोक्षाभासभावहुः—

वैशाश्चेऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥ ७ ॥  
प्राक् प्रत्यक्षितमेतत् ।

परोक्षभेदाभासमुषदशेषयन् प्रथमं कम्प्रात् स्मरणाभासभावहु—

अतस्मिन्स्तिविति ज्ञानं स्मरणाभासं जिज्ञवत्ते स देवदत्तो  
यथा ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षाभास कहते हैं—

सूत्रार्थ—बीद्र का अविशद निविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना  
प्रत्यक्षाभास है। जैसे—( व्याप्ति स्मरणादि के बिना ) अकस्मात् धूर्यों के  
देखने से उत्पन्न हुआ अग्नि का ज्ञान अनुमानाभास है ॥६॥

विशेष—बीद्र परिकल्पित निविकल्प प्रत्यक्ष अविशद है, तथापि बीद्र  
विशद कहता है। जैसे धूर्यों, भाप आदि का निश्चय हुए बिना व्याप्ति  
प्रहण के अभाव से अकस्मात् धूर्यों से उत्पन्न हुआ जो अग्निविज्ञान है, वह  
प्रत्यक्षाभास है, क्योंकि निश्चय नहीं है। इसी प्रकार बीद्र परिकल्पित  
जो निविकल्पक प्रत्यक्ष है, वह प्रत्यक्षाभास है; क्योंकि निश्चय नहीं है।

परोक्षाभास कहते हैं—

सूत्रार्थ—विशद ज्ञान होने पर भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है। जैसे  
मीमांसक का करणज्ञान ॥७॥

विशेष—मीमांसक मत में करण ज्ञान अन्य ज्ञान से ज्ञानने थोग्य है।  
परन्तु करण ज्ञान में बिना किसी व्यवधान के प्रतिभासलक्षण वैशाश्च  
असिद्ध नहीं है; क्योंकि अपना अर्थ वहाँ अन्य प्रतीति से निरपेक्ष प्रति-  
भासित होता है।

करणज्ञान का पहले विस्तृत विवेचन किया गया है।

परोक्ष भेदाभास को दिखलाते हुए प्रथम कम्प्राप्त स्मरणाभास के  
विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्व में अनुभव नहीं किए गए पदार्थ में 'वह है' अर्थात् वैसी

अतस्मिन्स्तमनुभूत इत्यर्थः । शोषं सुगमम् ।

प्रत्यभिज्ञानाभासमाह—

**सदृशो तवेवेदं तस्मिन्लेवं तेन सदृशा यमलकविष्वादि  
प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥**

हिंसिधं प्रत्यभिज्ञानाभासमुपदर्शितम्—एकादिनिवर्षनं यादृश्यनिवर्षनं चेति ।  
तर्थकाले सादृश्यात्मासः सादृश्ये वैकल्पात्मासस्तदाभासमिति ।

तक्तभासमाह—

**असम्बद्धे तज्जानं तक्तभासम् ॥ १० ॥**

यावौस्तल्पुत्रः स ल्याम इति यथा । तज्जानपिति व्याप्तिलक्षणसम्बन्धज्ञानं  
मित्यर्थः ।

इषानीमनुभासाभासमाह—

**इवमनुभासाभासम् ॥ ११ ॥**

है, इस प्रकार का ज्ञान स्मरणाभास है । जैसे जिनदत्त में, वह देवदत्त है,  
ऐसा स्मरण ॥१॥

अतस्मिन् का अनुभूत है । शोष अर्थं सुगम है ।

प्रत्यभिज्ञानाभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—सदृश वस्तु में ‘यह वही है, ऐसा कहना, उसी पदार्थ में,  
यह उसके सदृश है, ऐसा कहना । जैसे एक साथ जन्मे हुए दो बालकों  
में किसीस ज्ञान हो जाना, इत्यादि प्रत्यभिज्ञानाभास है ॥१॥

दो प्रकार का प्रत्यभिज्ञान बतलाया गया है—एकत्वनिमित्तक और  
सादृश्यनिमित्तक । इनमें से एकत्व में सादृश्य का अवभास और सादृश्य  
में एकत्व का अवभास प्रत्यभिज्ञानाभास है ।

विशेष—सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास, जैसे—जो देवदत्त के समान है,  
उसमें देवदत्त ही है, ऐसा मानना ।

तक्तभास के विषय में कहते हैं—

सूत्रार्थ—अविनाभाव सम्बन्ध से रहित पदार्थ में अविनाभाव सम्बन्ध  
का ज्ञान करना तक्तभास है ॥१०॥

जैसे—उसका जो भी पुत्र होगा, वह ल्याम होगा । सूत्र कथित तज्जान  
पद का अर्थं व्याप्ति लक्षण सम्बन्ध का ज्ञान है ।

अब अनुभासाभास को कहते हैं ।

सूत्रार्थ—यह अनुभासाभास है ॥११॥

दृढं वक्ष्यमाणमिति भावः ।

तथा तदवयवाभासोपदर्शनेन समुदायरूपानुभानाभासमुपदर्शयिषुकामः प्रथमा-  
वयवाभासभावह—

**तथानिष्टादिः पक्षाभासः ॥ १२ ॥**

इष्टमवाधितपित्यादि तल्लक्षणमुक्तम् । इवानी तद्विपरीतं तदाभासमिति-  
कथयति—

**अनिष्टो शीमांसकस्थानित्यः शब्दः ॥ १३ ॥**

असिद्धाद्विपरीतं तदाभासभावह—

**सिद्धः आवणः शब्द इति ॥ १४ ॥**

अवाधिताद्विपरीतं तदाभासभावेदयन् स च प्रत्यक्षादिवाधित एवेति  
दर्शयन्नाह—

**बाधितः प्रत्यक्षानुभानागमलोकस्वयच्छन्नैः ॥ १५ ॥**

सूक्ष्मोक्तस इवं पक्ष का अर्थ वक्ष्यमाण—आगे कहे जाने वाले ( पक्षाभासादि ) हैं ।

उस अनुभानाभास के अवयवभासों को बतलाने से ही समुदाय रूप अनुभानाभास का ज्ञान हो जाता है, यह दिखलाने के लिए प्रथम अवयवाभास को कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—उनमें अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्ष कहना पक्षाभास है ॥ १२ ॥**

पहले पक्ष का लक्षण इष्ट, अवाधित और असिद्ध कह आए हैं । अब उनसे विपरीत तदाभास है, इस बात को कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—शीमांसक का कहना कि शब्द अनित्य है, अनिष्ट पक्षाभास है ॥ १३ ॥**

असिद्ध से विपरीत सिद्ध पक्षाभास को कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—शब्द थवणेन्द्रिय का विषय है, यह सिद्ध पक्षाभास है ॥ १४ ॥**

( वादी और प्रतिवादी दोनों में पक्ष का आवणत्वपना सिद्ध होने से कोई विवाद ही नहीं है ) ।

अवाधित से विपरीत बाधिताभास को दिखलाते हुए वह बाधिताभास प्रत्यक्षादि बाधित ही है, इस बात को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—बाधित पक्षाभास प्रत्यक्ष, अनुभान, आगम, लोक और स्व-  
वचनों से बाधित होता है ॥ १५ ॥**

तेषां क्रमेणोदाहरणमाह—

**प्रेरिणामी शब्दः प्रथा—अनुरुणोऽग्निर्देव्यस्त्वाऽजलवत् ॥ १६ ॥**

स्पार्शनप्रत्यक्षणं सुरुणस्पशांतमकोऽग्निरनुभूयते ।

अनुमानबाधितमाह—

**अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ॥ १७ ॥**

अत्र पक्षोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादित्यमेन बाध्यते ।

आगमबाधितमाह—

**प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥ १८ ॥**

आगमे हि पुरुषाश्रितत्वादिविक्रोचेऽपि परलोके धर्मस्य सुखहेतुस्त्रमुक्तम् ।

लोकबाधितमाह—

**कुचि नरशिरःकपालं प्राण्यज्ञत्वाच्छुचितवत् ॥ १९ ॥**

लोके हि प्राण्यज्ञत्वेऽपि कस्यचिज्ञुचितवस्थुचित्वं च । तत्र नरकपालादी-

प्रत्यक्षादि बाधित पक्षाभासों के क्रम से उदाहरण कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**उक्तमें से प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास का उदाहरण । जैसे—  
अग्नि उष्णता रहित है, क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे—जल ॥ १६॥

स्पार्शन प्रत्यक्ष से उष्ण अर्थ वाली अग्नि का अनुभव होता है ।

अनुमानबाधित पक्षाभास कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**शब्द अपरिणामी है; क्योंकि कृतक है, घड़े के समान ॥ १७॥  
यहाँ पर अपरिणामी शब्द कृतकपने से बाधित है । ( शब्द परिणामी है; क्योंकि उक्तमें अर्थक्रिया पायी जाती है, कृतक होने के कारण, जैसे—  
घड़ा इस अनुमान से शब्द अपरिणामी है वह पक्ष बाधित होता है । )

आगमबाधित के विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**धर्म परलोक में दुःख देने वाला होता है; क्योंकि वह पुरुष के आधित है । जैसे—अधर्म । पुरुष का आधित्यना समान होने पर भी आगम में धर्म सुख का हेतु कहा गया है ॥ १८॥

लोक बाधित के विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**पनुष्य के सिर का कपाल विक्र है; क्योंकि वह प्राणी का अंग है । जैसे दांख और सीप ॥ १९॥

लोक में प्राणी का अंग होने पर भी किसी वस्तु को विश माना जाता है, किसी को अपविश माना जाता है । इनमें से नर-कपालादि

नामशुचित्वमेवेति लोकबाधितत्वम् ।

स्ववृच्छनबाधितमाह—

**माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽवधर्भैत्वात्प्रांसद्गुवन्ध्यावत् ॥२०॥**

इदानी हेत्वाभासान् क्रमापन्नामाह—

**हेत्वाभासा असिद्धिरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥ २१ ॥**

एवां यथाकर्म लक्षणं सोदाहरणमाह—

**असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥**

सत्ता च निश्चयद्वय सत्तानिश्चयौ । असत्ती सत्तानिश्चयौ यद्य स भवत्य-  
सत्सत्तानिश्चयः ।

लव प्रथमभेदमाह—

**अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दद्वचाक्षुष्ट्वात् ॥ २३ ॥**

कथमस्यासिद्धत्वमित्याह—

**स्वरूपेणासत्त्वात् ॥ २४ ॥**

अपवित्र ही हैं । अतः नरकपाल की पवित्र कहना लोकबाधित पक्षा-  
भास है ।

स्ववृच्छनबाधित के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**मेरी माता वन्ध्या है; क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी  
उसके गर्भ नहीं रहता है । जैसे—प्रसिद्ध वन्ध्या स्त्री ॥ २० ॥

अब क्रमप्राप्त हेत्वाभासों को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वाभास  
हैं ॥ २१ ॥

इनका यथाकर्म लक्षण उदाहरण सहित कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो,  
उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं ॥ २२ ॥

'सत्ता च निश्चयद्वय सत्तानिश्चयौ', इस प्रकार इन्ह ती समाप्त हैं ।  
जिसकी सत्ता के निश्चय का अभाव हो वह असत्सत्ता निश्चय है ।

असिद्ध हेत्वाभास के प्रथम भेद को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**वद्व परिणामी है; क्योंकि चाक्षुष है, यह अविद्यमान सत्ता-  
वाले स्वरूपसिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है ॥ २३ ॥

इस हेतु के असिद्धता कैसे है? इसके विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**शब्द का चाक्षुष होना स्वरूप से ही असिद्ध है ॥ २४ ॥

विद्योद्यासिद्धभेदमुपर्यति—

अविद्यमाननिश्चयो भूधबुद्धि प्रस्तुतिरथ धूमात् ॥ २५ ॥

अस्याप्यसिद्धता कथमित्यारेकायामाह—

तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाले सन्देहात् ॥ २६ ॥

तस्येति भूधबुद्धि प्रतीत्यर्थः ।

**विशेष—**विद्योद्यासिद्ध वादि जो असिद्ध के प्रकार नैयायिकादि के द्वारा माने गए हैं, वे असत्सत्त्वाकल्पलक्षण असिद्ध के प्रकार से अन्तर्भूत हो जाते हैं, इससे भिन्न नहीं हैं । विद्योद्यासिद्ध जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें सामान्यपना होने के साथ-साथ चाक्षुपना है । विशेषणासिद्ध-जैसे— शब्द अनित्य है; क्योंकि उसमें चाक्षुपना होने के साथ-साथ सामान्यपना है । आश्रयासिद्ध, जैसे—प्रधात है, विश्वपरिणामित्य से । वस्तुतः प्रधात नहीं है, यह भाव है । आश्रयैकदेशासिद्ध जैसे—परमाणु, प्रधात, आत्मा तथा इक्वर नित्य है; क्योंकि ये किसी के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं । व्यर्थ-विद्योद्यासिद्ध जैसे—परमाणु अनित्य है; क्योंकि कृतक होने के साथ-साथ उसमें सामान्यपना है । व्यर्थविद्योषणासिद्ध, जैसे—परमाणु अनित्य है, क्योंकि सामान्यपना होने के साथ-साथ उसमें कृतकपना है । व्यधि-करणासिद्ध, जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि दूसरे ने बनाया है । भागासिद्ध, जैसे—शब्द मित्य है, क्योंकि उसमें प्रथलानन्तरीयकपना है । व्यधिकरण-सिद्धपना परप्रक्रिया का प्रदर्शनमात्र है, वस्तुतः व्यधिकरण के भी हेतुदोष नहीं हैं 'उद्देश्यति शकटं कृत्तिकीद्यात्' इत्यादि के नमकपने की प्रतीति है । भागासिद्ध के भी अविनाभाव के सद्भाव से गमकरत है ही । वस्तुतः प्रथलानन्तरीयकल्प अनित्यत्व के बिना कहीं भी भी दिखाई नहीं देता है । जितने शब्द में वह प्रवृत्त होता है, उससे शब्द का अनित्यपना सिद्ध होता है ।

असिद्ध हेत्याभास के दूसरे भेद को बतलाते हैं—

**सूत्रार्थ—**यही अग्नि है, क्योंकि धूम है, यह अविद्यमान निश्चय वाले समिद्यासिद्ध हेत्याभास का उदाहरण ॥ २५ ॥

इस हेतु के भी असिद्धता कैसे है ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**क्योंकि उसे भूत संघात में वाष्पादि के रूप से सञ्चेह ही सकता है ॥ २६ ॥

उसे अर्थात् मुधबुद्धि पुरुष को । ( भोला भाला पुरुष विद्यमान धूम

अपरमसिद्धभेदमाह—

**सांख्यप्रति परिणामी शब्दः कुतकत्वात् ॥ २७ ॥**

अस्यासिद्धतापां कारणमाह—

**तेनाज्ञातत्वात् ॥ २८ ॥**

तेन सांख्येन ज्ञातत्वात् । तस्मै हर्षिणीविक्षिप्तेभ्यव्येष गसिद्धौ, तेनाज्ञातत्वात्-  
रिति । अस्याप्यनिश्चयादग्निद्वत्प्रियत्यर्थः ।

विश्वं हेत्वाभासमुपदर्शयन्नाह—

**विपरीतनिदिव्यताविनाभावो विश्वोऽपरिणामी शब्दः कुत-  
कत्वात् ॥ २९ ॥**

कुतकत्वं सूपरिणामविरोधिना परिणामेन व्याप्तमिति ।

अनैकान्तिकं हेत्वाभासमाह—

**विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः । ३० ॥**

मैं भी वाण्यादिपने के कारण सम्बेद्य करता हूँ; क्योंकि निश्चय करना सम्भव नहीं है ।

असिद्ध हेत्वाभास के और भी भेद कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**सांख्य के प्रति कहना कि शब्द परिणामी है; क्योंकि वह कुतक है ॥ २७ ॥

इस हेतु की असिद्धता में कारण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**क्योंकि उसने ( कुतकपना ) जाना ही नहीं है ॥ २८ ॥

उस सांख्य ने जाना नहीं है । सांख्य मत में आविभावि ( प्रकटपना ) और तिरोभाव ( आच्छादनपना ) ही प्रसिद्ध हैं, उत्पत्ति आदि प्रसिद्ध नहीं हैं । किसी पदार्थ के कुतक होने का उसके यहाँ निश्चय न होने से असिद्धपना है ।

विश्व हेत्वाभास को बतलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, उसे विश्व हेत्वाभास कहते हैं । जैसे शब्द अपरिणामी है; क्योंकि वह कुतक है ॥ २९ ॥

इस अनुमान में कुतकत्व हेतु अपरिणाम के विरोधो परिणाम के साथ व्याप्त है ।

अनैकान्तिक हेत्वाभास को कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**जिसका विपक्ष में भी रहना अविश्व है, वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

अपिषाव्यादनं केवलं पक्ष-सप्तकयोरिति द्रष्टव्यम् । स च विविधे विषये  
निरिचतवृत्तिः शङ्कितवृत्तिरुचेति । तत्राचारं दर्शयन्नाह—

**निरिचतवृत्तिरुचित्यः शब्दः प्रमेयस्वाद् धट्टवत् ॥ ३१ ॥**

कथमस्य विषये निरिचता वृत्तिरित्यशङ्काऽऽह—

**आकाशे नित्येऽप्यस्य निरचयात् ॥ ३२ ॥**

**विशेष**—एक धर्म में जो नियत हो, वह ऐकान्तिक है, उससे विषयीत अनैकान्तिक है । जो पक्ष, सप्तक और विषय इन तीनों में रहना अनैकान्तिक है । दूसरों के द्वारा माना गया पक्षत्रय वाष्पादि अनैकान्तिकों का विस्तार सामान्य रूप से इस लक्षण से भिन्न नहीं है । पक्षत्रय व्यापक, जैसे—शब्द अनित्य है; क्योंकि प्रमेय है । सप्तक और विषय के एक देश में पाया जाने वाला । जैसे—शब्द नित्य है; क्योंकि अमूर्त है । पक्ष और सप्तक में व्यापक तथा विषय के एक देश में पाया जाने वाला । जैसे—यह गौ है; क्योंकि इसके विषाण है । पक्ष तथा विषय में व्यापक तथा सप्तक के एक देश में रहने वाला । जैसे—यह गौ नहीं है; क्योंकि इसके विषाण है । पक्षत्रय के एक देश में रहने वाला । जैसे वचन और मन अनित्य हैं; क्योंकि अमूर्त है । पक्ष और सप्तक के एक देश में रहने वाला तथा विषय में व्यापक जैसे—दिक्, काल और मन अद्वय हैं; क्योंकि अमूर्त है । सप्तक और विषय में व्यापक तथा पक्ष के एक देश में रहने वाला, जैसे—पृथिकी, अप्, तेज, वायु और आकाश अनित्य हैं; क्योंकि उनमें गत्य नहीं है । केवल पक्ष और सप्तक में रहने से अनैकान्तिक नहीं होता है, यह बात अपि शब्द से सूचित होता है ।

सूत्र में कहे गए आप शब्द से न केवल पक्ष-सप्तक में रहने वाले हेतु को प्रहृण करना (अवितु विषय में भी रहने वाले हेतु को प्रहृण करना चाहिए) । वह दो प्रकार का होता है—(१) विषय में निरिचतवृत्ति वाला और (२) शङ्कितवृत्ति वाला ।

आदि के भेद को दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ**—शब्द अनित्य है; क्योंकि वह प्रमेय है । जैसे—शट । यह निरिचत विषयवृत्ति अनैकान्तिक का उदाहरण है ॥ ३३ ॥

इस प्रमेयत्व हेतु की विषय में वृत्ति कैसे निरिचत है, ऐसी वार्ताका के होने पर आशार्थ कहते हैं—

**सूत्रार्थ**—क्योंकि नित्य आकाश में भी इस प्रमेयत्व हेतु के रहने का निश्चय है ॥ ३२ ॥

शङ्कुलवृत्तिमुदाहरति—

शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वचतूत्थात् ॥ ३३ ॥

अस्यायि कथं विष्णे वृत्तिराशङ्कुधत इत्यशाह—

सर्वज्ञस्वेन वचतूत्थाविरोधात् ॥ ३४ ॥

अविरोधस्च ज्ञानोत्कर्षं वचनानामाकर्षदर्शनादिति निरूपितप्रायम् ।

अकिञ्चित्करस्वरूपं निरूपयति—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥ ३५ ॥

तत्र सिद्धे साध्ये हेतुरकिञ्चित्कर इत्युदाहरति—

सिद्धः शावणः शब्दः शब्दत्थात् ॥ ३६ ॥

कथमस्याकिञ्चित्करस्वभिल्याह—

किञ्चिद्वक्तरणात् ॥ ३७ ॥

शङ्कुत विपक्षवृत्ति अनेकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण देते हैं—

सूक्ष्मार्थ—यहीं नहीं है; वयोंकि वह नहीं है, यह शङ्कुत विपक्षवृत्ति अनेकान्तिक हेत्वाभास का उदाहरण है ॥ ३३ ॥

इस हेतु का विपक्ष में रहना कैसे शङ्कुत है, इसके विषय में कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—वयोंकि सर्वज्ञत्व के साथ वक्तापने का विरोध नहीं है ॥ ३४ ॥

अविरोध इसलिए है कि ज्ञानोत्कर्ष में वचनों का अपकर्ष नहीं देखा जाता है। यह बात प्रायः निरूपित की जा चुकी है।

\* अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

सूक्ष्मार्थ—साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आधित होने पर प्रथमत हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है ॥ ३५ ॥

साध्य के सिद्ध होने पर दिया गया हेतु अकिञ्चित्कर है, इसका उदाहरण देते हैं—

सूक्ष्मार्थ—शब्द शब्द इन्द्रिय के विषय के रूप में सिद्ध है; वयोंकि वह शब्द है ॥ ३६ ॥

इस शब्दत्व हेतु के अकिञ्चित्करता कैसे है? इसके विषय में कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—वयोंकि इस शब्दत्व हेतु ने कुछ भी नहीं किया है ॥ ३७ ॥

अपरं च भेदं प्रथमस्य दृष्टान्तीकरणद्वारेषोदाहरति—  
यथाऽनुहणोऽसिद्धिर्थत्वादित्यादी किंचिच्चक्तु मशक्यत्वात् ॥ ३८  
अकिञ्चित्करत्वमिति शेषः ।

अयं च दोषो हेतुलक्षणविचारावसर एव न बादकाल इति अन्यज्ञेयकुर्वन्नाह—  
लक्षण एवासी दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणाच्च दृष्टस्यात् ॥ ३९  
दृष्टान्तोऽन्वयव्यतिरेकभेदाद् दिव्यं इत्युक्तम् । उत्तरान्वयदृष्टान्ताभासमाह—  
दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयः ॥ ४० ॥  
साध्यं च साधनं च उभयं च साध्यसाधनोभयानि, असिद्धानि तानि येष्विति  
किंश्चहः ।

एतानेकश्चात्माने वर्णयति—

साध्य का दूसरा भेद जो प्रत्यक्षादिवादिति है, उसे प्रथम भेद के  
दृष्टान्त करने के द्वारा ही उदाहरण रूप से कहते हैं—

सूत्रार्थ—अग्नि उष्ण नहीं है; क्योंकि वह व्रव्य है, इत्यादि अनुमान में  
प्रयुक्त यह हेतुसाध्य की कुछ भी सिद्ध करने में समर्थ नहीं है ॥ ३८ ॥

अतः यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है, यह कहना यहीं शेष है ।

यह अकिञ्चित्कर दोष हेतु के लक्षण का विचार करने के समय ही  
है, बाद के समय नहीं, इसे व्यक्त करते हुए कहते हैं—

सूत्रार्थ—यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास रूप दोष हेतु के लक्षण व्युत्पा-  
दन काल में ही है, बाद काल में नहीं; क्योंकि व्युत्पन्न पुरुष का प्रदीप तो  
पक्ष के दोष से ही दृष्टित हो जाता है ॥ ३९ ॥

दृष्टान्त अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार का होता है, यह  
कहा जा चुका है । उनमें से अन्वय दृष्टान्ताभास को कहते हैं—

सूत्रार्थ—असिद्ध साध्य, असिद्ध साधन और असिद्धोभय ये तीन  
दृष्टान्ताभास हैं ॥ ४० ॥

साध्यं च, साधनं च, उभयं च इन तीनों का द्वन्द्व समाप्त करना,  
असिद्ध हैं साध्य, साधन और उभय जिनमें ऐसा बहुश्रीहि समाप्त करना ।

विशेष—साध्य रूपास साधन जहाँ प्रदर्शित किया जाता है, वह  
अन्वय दृष्टान्त है । इससे विपरीत अन्वय दृष्टान्ताभास है ।

इन तीनों ही अन्वय दृष्टान्ताभासों को एक ही अनुमान में  
दिखलाते हैं—

**अपीरुषेयः शब्दोऽमूर्त्संत्वादिनिद्रियसुखपरमाणुधट्टवत् ॥ ४१ ॥**

इन्द्रियसुखमसिद्धात्माध्यम्; तस्य पीरुषेयत्वात् । परमाणुरसिद्धात्माध्यम्; तस्य मूर्त्त्वात् । घटस्वासिद्धोभयः; पीरुषेयत्वाऽमूर्त्संत्वाच्च ।

साध्यक्यार्थं साधनं क्योनीयसिति दृष्टान्ताद्यसरे प्रतिपादितम्, तद्विपरीत-  
दर्शनमपि तदाभासमित्याह—

**विषरीतान्वयश्च यदपीरुषेयं तदभूर्त्यम् ॥ ४२ ॥**

कुतोऽस्मा तदाभासतेत्याह—

**विद्युदादिनाऽतिप्रसंगात् ॥ ४३ ॥**

तस्याप्यमूर्त्साप्राप्तेरित्यर्थः ।

**सूत्रार्थ—**शब्द अपीरुषेय है; क्योंकि वह अमूर्त है। जैसे—इन्द्रिय-  
सुख, परमाणु और घट ॥ ४१ ॥

इन्द्रिय सुख ( यह दृष्टान्त ) असिद्ध साध्य है; क्योंकि वह पीरुषेय है। परमाणु यह दृष्ट असिद्ध साधन है; क्योंकि परमाणु मूर्त है, घट असिद्धोभय है; क्योंकि घट पीरुषेय भी है और मूर्त भी है।

**विशेष—**इन्द्रियसुख में साधनत्व है, साध्यत्व नहीं है। अतः यह दृष्टान्त साध्यविकल है। परमाणुओं में साधनत्व है, साध्यत्व नहीं है, अतः यह दृष्टान्त साधनविकल है। घट में अपीरुषेय रूप साध्य और अमूर्त रूप साधन ये दोनों ही नहीं हैं। अतः यह दृष्टान्त उभयविकल है।

साध्यव्याप्त साधन को दिखलाना चाहिए, यह बात अन्वय दृष्टान्त के अवसर में प्रतिपादन की गई है, उससे विषरीत व्याप्ति की दिखलाना भी अन्वयदृष्टान्ताभास है, इसके विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**जो अपीरुषेय होता है, वह अमूर्त होता है, यह विषरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास है ॥ ४२ ॥

इसे दृष्टान्ताभासता कैसे है ? इसके विषय में कहते हैं ।

**सूत्रार्थ—**क्योंकि उसमें विद्युत् आदि से अतिप्रसंग दोष आता है ॥ ४३ ॥

विद्युत् के भी अमूर्तता की प्राप्ति होती है; क्योंकि विद्युत् अपीरुषेय है। किन्तु अपीरुषेय होते हुए भी वह अमूर्त नहीं मृत है।

व्यतिरेकोदाहरणाभासमाह—

**अथतिरेकेऽसिद्धतद्वयव्यतिरेकाः परमाणिद्विनिद्रियसुखाऽज्ञानावत् ॥४४॥**

अपीरुषेयः कष्टोऽमूर्त्युकादित्यत्रीवासिद्वाः साध्यसाधनोभव्यव्यतिरेका यज्ञोति विग्रहः । तद्वासिद्वासाध्यव्यतिरेकः परमाणुस्तुत्यत्रीरुद्देवत्वात् । इन्द्रियसुखाऽसिद्ध-साधनव्यतिरेकम् । आकाशं त्वसिद्धोभव्यव्यतिरेकमिति ।

साध्याभावे साधनव्यावृत्तिरिति अथतिरेकोदाहरणप्रसद्ध के स्थापितम्, तत्र विपरीतमयि तदाभासमित्युपलब्धयति—

**विपरीतव्यतिरेकद्वय धन्नामूर्त्ते सम्भापौरुषेयम् ॥ ४५ ॥**

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्वयोगम इत्युक्तम् । इतानीं सान् प्रत्येकं किञ्चान्नान्यां प्रयोगाभासमाह—

**बालप्रद्योगाभासः पञ्चावयवेषु किञ्चान्नान्ता ॥ ४६ ॥**

व्यतिरेकोदाहरणभास के विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**व्यतिरेक दृष्टान्ताभास में तीन भेद हैं—असिद्ध साध्यव्यतिरेक, असिद्ध साधन व्यतिरेक और असिद्धोभव्यव्यतिरेक । परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश इनके कम से उदाहरण हैं ॥४६॥

शब्द अपीरुषेय है, अमूर्त छोने से, इस अनुमान में असिद्ध हैं साध्य, साधन और उभय व्यतिरेक जिस दृष्टान्त में, ऐसा विश्व ह करना चाहिए । उनमें असिद्ध साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण परमाणु है, क्योंकि परमाणु अपीरुषेय है । इन्द्रिय सुख असिद्ध साधन व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण है । असिद्धोभव्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण आकाश है ।

साध्य के अभाव में साधन की व्यावृत्ति को व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं । यह बात व्यतिरेकोदाहरण प्रकरण में सिद्ध की जा चुकी है । उससे विपरीत व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, इस बात को बतलाते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**जो अमूर्त नहीं है, वह अपीरुषेय नहीं है, यह विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण है ॥४५॥

बालव्युत्पत्ति के लिए उदाहरण, उपनय और निगमन स्वीकार किए गए हैं, यह बात पहले हो कही जा चुकी है । उन बालजनों के प्रति कुछ अवयवों के कम प्रयोग करने पर वे प्रयोगाभास हैं, इसके विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—**पाँच अवयवों ( प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ) में से कितने हो कम अवयवों का प्रयोग करना बालप्रयोगा-

तदेवोदाहरति—

**असित्तमनर्थं वैशो धूमवस्थात्, गणित्ये द्वितीयं राशीं सल्लालय इति ४७**

इत्यवद्यवधिप्रयोगे सतीत्यर्थः ।

अतुरद्यवप्रयोगे तदाभासत्वमाह—

**धूमवाईचायमिति वा ॥ ४८ ॥**

अथगविष्ट्येऽपि तत्त्वमाह—

**तस्मादग्निमान् धूसदाईचायम् ॥ ४९ ॥**

कथमवयवयिष्ट्येऽप्योगाभास इत्यारेकायामाह—

**स्पष्टतत्त्वा प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥ ५० ॥**

इदानीमागमाभासमाह—

**रागद्वेषमोहाकान्तपुरुषवचनाउज्जातमागमाभासम् ॥ ५१ ॥**

भास है ॥४६॥

इसी बालप्रयोगाभास का उदाहरण देते हैं—

सूचार्थ—यह प्रदेश अस्ति बाला है; क्योंकि धूम बाला है। जो धूम बाला होता है, वह अग्नि बाला भी होता भी होता है। जैसे—  
रसीईचर ॥४७॥

यहाँ पर तीन ही अवयवों का प्रयोग किया गया है।

चार अवयवों का प्रयोग करने पर बालप्रयोगाभास को कहते हैं—

सूचार्थ—अथवा यह भी धूमवान् है ॥४८॥

विशेष—ऊपर के तीन अवयवों के प्रयोग के साथ उपनय का उपयोग करना, निगमन का प्रयोग न करना बालप्रयोगाभास है।

अवयवों के विपरीत प्रयोग करने पर भी बालप्रयोगाभासपन होता है।

सूचार्थ—इसलिए यह अग्नि बाला है और यह भी धूमबाला है ॥४९॥

विशेष—यहाँ निगमन का प्रयोग पहिले कर दिया, उपनय का बाद में प्रयोग किया।

अवयव के विपरीत प्रयोग करने पर प्रयोगाभास कैसे कहा इस सूचार्थ में आशेंका के होने पर आचार्य कहते हैं कि इसका विस्तार से निखण्ण सूचार्थ में है क्योंकि स्पष्ट रूप से प्रकृत पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है ॥५०॥

अब आगमाभास के विषय में कहते हैं—

सूचार्थ—राग, द्वेष और मोह से आकान्ते पुरुष के वचनों से उत्पन्न

उदाहरणमाह—

**यथा नद्यास्तीरे भोदकराश्वः सन्ति, धावध्वं माणवकाः ॥ ५२ ॥**

कदिचन्माणवकीराकुलीकुत्पेतास्तत्सङ्गपरिजिहीर्षया प्रकारणवाक्येन नद्या देष्ट  
तान् प्रस्थापयतीत्याप्तोवतेरत्यत्वादगमाभासत्वम् ।

प्रथमोदाहरणमात्रेण त्रिव्यञ्जनदाहरणात्तरमाह—

**अङ्गुल्यघे हस्तियूथशतभास्त इति च ॥ ५३ ॥**

अत्रापि साद्यत्यः स्वदुरागमजनितवासवाहितचेता कुष्ठेऽद्विश्वर्णं सर्वं सर्वं  
विद्यत इति मन्यमानस्तथोपदिशतीत्यनाप्तवचनत्वादिदमधि सथेत्यर्थः ।

कथमनन्दादयोविद्ययोस्तथामासत्वमित्यारेकायामाह—

**विसंवादात् ॥ ५४ ॥**

अविसंवादरूपप्रमाणलक्षणाभावान्त तद्विद्येषरूपमयीत्यर्थः ।

हुए पदार्थ के ज्ञान को आगमाभास कहते हैं ॥५५॥

उदाहरण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—जैसे—** नदी के किनारे भोदकों की राशियाँ हैं, है अन्धो !  
दीड़ी ॥५२॥

कोई व्यक्ति बालकों से व्याकुलित था, उनका संग छुड़ाने की  
इच्छा से छलपूर्ण वाक्य कहकर उन्हें नदी के तट पर भेजता है, इस  
प्रकार विश्वस्त व्यक्ति से भिन्न कथन करने पर आगमाभासपना है ।

प्रथम उदाहरण से सन्तुष्ट न होते हुए अन्य उदाहरण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**अंगुली के अग्रभाग पर हाथियों के सैकड़ों समुदाय विद्यमान  
है ॥५३॥

इस उदाहरण में भी सांख्य अपने मिथ्या आगम जनित वासना से  
आक्लान्तित होकर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध सब वस्तुयें सब जगह  
विद्यमान हैं, इस प्रकार मानता हुआ नदी के तीर पर लड्डू हैं, इस  
प्रकार का कथन करता है । यह वाक्य अनाप्त पुरुष का वचन होने से  
आगमाभास है ।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों के आगमाभासपना कैसे है ? ऐसी आशंका  
होने पर कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**वर्णकि विसंवाद पाया जाता है ॥५४॥

अविसंवाद रूप प्रमाण के लक्षण का अभाव होने के कारण उन-

इदानीं संख्याभासमाह—

**प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि सङ्ख्याभासम् ॥ ५५ ॥**

प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विविच्छयमुक्तम् । तदैवपरीत्येन प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षानुभाने एवेत्यबधारणं सङ्ख्याभासम् ।

प्रत्यक्षमेवैकमिति कथं सङ्ख्याभासमित्याह—

**लोकाग्रतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेषस्य परबुद्ध्या-  
देवतासिद्धेरतद्विषयत्वात् ॥ ५६ ॥**

अतद्विषयत्वादप्रत्यक्षविषयत्वादित्यर्थः । शेष सुगमम् । प्रपञ्चतमेवैतत्सङ्ख्या-  
व्यादिप्रतिपत्तिनिराकरण इति वेष्ट पुनरुच्यते ।

इतरत्वादिप्रमाणेयसाध्यारणमपि विषयत इति लोकाग्रतिकदान्तस्त्वारेण  
तन्मसैऽपि सङ्ख्याभासमिति दर्शयति—

वाक्यों में प्रामाणिकता नहीं है । उन्हें प्रमाण विशेष रूप आगम कैसे मान सकते हैं ।

अब संख्याभास के विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, इत्यादि कहना संख्याभास है ॥५५॥**

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का कहा गया है । उससे विपरीत प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है अथवा प्रत्यक्ष और अनुभान में ही दो प्रमाण हैं, इस प्रकार निश्चय करना संख्याभास है ।

प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है, यह संख्याभास कैसे है, इसके विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—चावकि का प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना इसलिए संख्या-  
भास है कि प्रत्यक्ष से परलोक आदि का निषेष और पर की बुद्धि आदि  
की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि वे उसके विषय नहीं हैं ॥५६॥**

वे उसके विषय नहीं हैं का तात्पर्य प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं, यह है । शेष सूत्रार्थ सुगम है । संख्या-विप्रतिपत्ति के निराकरण के समय इसका विस्तार से निरूपण कर चुके हैं, अतः यहाँ पुनः नहीं कहते हैं ।

अन्य वादियों द्वारा मानी गई प्रमाण की संख्या का नियम भी विघटित होता है । असः चावकि के दृष्टान्त द्वारा बौद्धादि के मत में संख्याभास है, इस बात को दिखलाते हैं—

सौगतसाद्वययौगप्राभकरजैमिनीधानंप्रत्यक्षानुभासात् ।  
भोवमानंथपित्त्वभावैरेकैकाधिकैड्यापित्तवत् ॥ ५७ ॥

यथा प्रत्यक्षादिभिरेकैकाधिकैड्यापित्तिः प्रतिपत्तुं न वाक्यते सौगतादिभिस्तथा  
प्रत्यक्षेण लौकायतिकैः परबुद्ध्यादिरपोत्पर्थः ।

अथ परबुद्ध्यादिप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षेण माभूदन्यस्थाद्विष्टतीत्याथड्याऽऽह—

अनुभानादेस्तद्विष्टवत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥ ५८ ॥

तच्छब्देन परबुद्ध्यादिभित्तीयते । अनुभानादेः परबुद्ध्यादिविष्टवत्वे प्रत्यक्षैक-  
प्रमाणवादो हीयते इत्पर्थः ।

अनोदाहरणमाह—

तर्कस्थेव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याद्यव-  
स्थापकत्वात् ॥ ५९ ॥

सौगतादीनामिति शेषः किञ्च प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिना प्रत्यक्षाद्वैकाधिक-

**सूत्रार्थ—**जिस प्रकार सौगत, सांख्य, यौग, प्राभाकर और जैमिनीयों  
के प्रत्यक्ष, अनुभान, आगम, उपमान अथपित्ति और अभाव इन एक-एक  
अधिक प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जाती है ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार एक-एक अधिक प्रत्यक्षादि से व्याप्ति नहीं जानी जा  
सकती है, उसी प्रकार एक प्रत्यक्ष प्रमाण से लौकायतिकों के द्वारा अन्य  
मनुष्य की बुद्धि आदि भी नहीं जाने जा सकते हैं ।

**शंका—**पराई बुद्धि आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष से भले ही न हो, अन्य  
अनुभानादि से हो जायेगा ? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं—

समाधान—

**सूत्रार्थ—**अनुभानादि के दूसरे की बुद्धि आदि का विषयपना मानने  
पर अन्य प्रमाण मानने पड़ेंगे ॥ ५८ ॥

सूत्र में 'तत्' शब्द से पर बुद्धि आदि कहे गये हैं । अनुभानादि के  
परबुद्धि आदि के विषयपना मानने पर प्रत्यक्षैक प्रमाणवाद विश्वित हो  
जाता है । इस विषय में उदाहरण कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**जैसे कि तर्क को व्याप्ति का विषय करने वाला मानने पर  
सौगतादिक को उसे एक भिन्न प्रमाण मानना पड़ता है; वयोंकि अप्रमाण  
ज्ञान पक्षार्थ की व्यवस्था नहीं कर सकता है ॥ ५९ ॥

सूत्र में "सौगतादीनासु" यह पद शेष है । प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक  
को तथा प्रत्यक्षादि एक-एक अधिक प्रमाणवादी सौगतादिक को प्रत्यक्ष

प्रमाणवादिभि इच स्वसंवेदनेन्द्रियप्रत्यक्षभैर्वोऽनुमानादिभेदेच प्रतिभासभेदेनैव वक्तव्यो गत्यन्तराभावात् । स च तद्दूरे दो लीकायतिकं प्रति प्रत्यक्ष अनुमानयोरितरेषां व्याप्तिशानप्रत्यक्षादिप्रमाणेन्द्रियति सर्वेषां प्रमाणसंख्या विषट्टते । तदेव सर्वायति—

**प्रतिभासभेदस्थ च भेदकत्वात् ॥ ६० ॥**

इदानीं विषयाभासमुपदत्त्वं यितुमाह—

**विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥ ६१ ॥**

कथमेवा तदाभासतेत्याह—

**तथाऽप्रतिभासनात्कार्यकिरणाच्च ॥ ६२ ॥**

किञ्च—तदेकान्तात्मकं तस्य स्वर्यं समर्थस्समर्थं वा कार्यकारि स्यात् ?  
प्रथमपक्षे सूचयमाह—

के स्वसंवेदन और इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप भेद तथा प्रमाणों के अनुमानादि भेद प्रतिभास के भेद से ( सामग्री और स्वरूप के भेद से ) कहना चाहिये, क्योंकि इसके बिना उनकी कोई गति नहीं है । वह प्रतिभास का भेद चार्यकि के प्रति प्रत्यक्ष और अनुमान में तथा सौगतादि अन्य गत वालों के व्याप्तिज्ञान और प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अनुभवगम्य है, अतः सभी को प्रमाण संख्या का विषट्टन हो जाता है । इसी बात को दिखलाते हैं— ( अनुमान का प्रामाण्य हो, किन्तु उसका अन्तर्भवि प्रत्यक्ष में ही होता है, ऐसा कहने पर कहते हैं ) ।

**सूचार्थ—**प्रतिभास का भेद ही प्रमाणों का भेदक होता है ॥ ६० ॥

( अतः प्रत्यक्ष में अनुमान का अन्तर्भवि नहीं हो सकता है )

अब विषयाभास को बताने के लिए कहते हैं—

**सूचार्थ—**केवल सामान्य को, केवल विशेष को अथवा स्वतन्त्र दोनों को प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है ॥ ६१ ॥

इनकी विषयाभासता कैसे है । इसके विषय में कहते हैं—

**सूचार्थ—**केवल सामान्य रूप से, केवल विशेष रूप से अथवा स्वतन्त्र दोनों रूप से वस्तु का प्रतिभास नहीं होता है तथा केवल सामान्य, केवल विशेष अथवा स्वतन्त्र दोनों अपना कार्य नहीं कर सकते ॥ ६२ ॥

दूसरी बात यह है कि वह एकान्तात्मक तस्य स्वर्यं समर्थ अथवा असमर्थ होकर कार्यकारी होता है, यह प्रश्न है । प्रथम पक्ष मानने पर दोष कहते हैं—

**समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ ६३ ॥**

सहकारिसान्निध्यात् तत्करणाम्लेति वेदव्राह—

**परापेक्षणे परिणामित्यमन्यथा तदभावात् ॥ ६४ ॥**

वियुक्तावस्थायामल्लर्वतः सहकारिसमवधानवेळायां कार्यकारिणः पूर्वोत्तराकार-  
परिहारावाप्तिस्थितिलक्षणापरिणामोपसेवित्यर्थः । अन्यथा कार्यकरणमभावात् ।  
प्रागभावावस्थायामेवेत्यर्थः ।

अथ द्वितीयपक्षे द्वीपमाह—

**रवदमसम्पैस्याकरकत्पात्मूर्द्धं च ॥ ६५ ॥**

**सूत्रार्थ—**एकान्तात्मक उत्त्व समर्थ होता हुआ कार्य करेगा तो कार्य की सदा उत्पत्ति हीना चाहिये; क्योंकि वह किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है ॥ ६३ ॥

यदि कहा जाय कि वह पदार्थ सहकारी कारणों के सान्निध्य से उस कार्य को करता है, अतः कार्य की सदा उत्पत्ति नहीं होती है तो इसके विषय में कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर परिणामीपना प्राप्त होता है अन्यथा कार्य नहीं हो सकेगा ॥ ६४ ॥

सहकारी कारणों से रहित अवस्था में कार्य नहीं करने वाले और सहकारी कारणों के सन्निधान के समय कार्य करने वाले पदार्थ के पूर्व आकार का परित्याग, उत्तर आकार की प्राप्ति और स्थिति लक्षण परिणाम के सम्बन्ध होने से परिणामीपना सिद्ध होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो कार्य करने का अभाव रहेगा, जैसा कि प्रागभाव दशा में कार्य का अभाव था । (जैसे मिट्टी के पिण्ड में पहले घट का अभाव है) कार्य की उत्पत्ति नहीं मानेंगे तो समस्त वस्तुओं का समूह प्रागभाव अवस्था में ही विद्यमान हो जायेगा ।

अब असमर्थ रूप दूसरे पक्ष में दोष कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**स्वयं असमर्थ पदार्थ कार्य का करने वाला नहीं हो सकता, जैसे कि सहकारी कारणों से रहित अवस्था में अपना कार्य करने में समर्थ नहीं था, उसी तरह सहकारी कारणों के मिल जाने पर भी कार्य नहीं कर सकेगा ॥ ६५ ॥

अथ फलाभासं प्रकाशयन्नाह—

**फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥ ६६ ॥**

कुतः पश्चद्येऽपि तदाभासते व्यावृत्त्यामाश्वते तदाभासत्वे हेतुमाह—

अभेदे तद्व्यवहारानुपयत्तेः ॥ ६७ ॥

फलमेव प्रमाणमेव वा भवेदिति भावः ।

व्यावृत्या सर्वत्यपरतामवेयया तत्कल्पताऽस्तिवत्याह—

व्यावृत्यापि न तत्कल्पताऽस्ति तद्व्यवहारान् व्यावृत्याऽफलत्वं

**प्रसंगात् ॥ ६८ ॥**

अयमर्थः—व्यावृत्याऽपि जातीयात्कल्प्य व्यावृत्या फलव्यवहारत्वा फल-  
न्तराद्यि सजातीयाद् व्यावृत्यिरप्यस्तीत्यफलत्वम् ।

अत्रीदाभेदपक्षे दृष्टान्तमाह—

**प्रमाणान्तराद्व्यवृत्येवाप्रमाणत्वस्य ॥ ६९ ॥**

अब फलाभास को प्रकाशित करते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—प्रमाण से उसके फल को सर्वथा अभिन्नं अथवा सर्वथा  
भिन्नं मानना फलाभास है ॥ ६६ ॥**

इन दोनों ही पक्षों में फलाभासता क्यों है, ऐसी आशङ्का होने पर  
आदि पक्ष में ( सर्वथा अभिन्नं पक्ष में ) फलाभासता बतलाने के लिये  
हेतु कहते हैं—

**सूत्रार्थ—यदि प्रमाण से फल सर्वथा अभिन्न माना जाय तो प्रमाण  
और फल में ( यह प्रमाण है, यह फल है, इस प्रकार का ) व्यवहार ही  
नहीं हो सकता है ॥ ६७ ॥**

( अभेद पक्ष में ) या तो फल ही होगा या प्रमाण ही होगा, यह  
भाव है ।

**सूत्रार्थ—अफल की व्यावृत्ति से भी फल की कल्पना नहीं की जा  
सकती अत्यथा फलान्तर की व्यावृत्ति से अफलपने की कल्पना का प्रसंग  
आ जायेगा ॥ ६८ ॥**

यह अर्थ है—जिस प्रकार फल से विजातीय अफल की व्यावृत्ति से  
फल का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार फलान्तर—अन्य प्रभिति रूप  
सजातीय फल की व्यावृत्ति से अफलपने का प्रसंग आता है ।

अब अभेद पक्ष में दृष्टान्त कहते हैं—

**सूत्रार्थ—जैसे प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति से अप्रमाणपने का प्रसंग  
आता है ॥ ६९ ॥**

अथापि प्राप्तन्येव प्रक्रिया योजनीया ।

अभेदपक्षं निराकृत्य आचार्य उपसंहरति—

**तस्माद्ब्रह्मस्तवो भेदः ॥ ७० ॥**

भेदपक्षं ब्रूण्यन्नाह—

**भेदे त्वात्मान्तरब्रह्मनुपपत्तेः ॥ ७१ ॥**

अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेत् फलमपि सत्रैव समवेतमिति समवायलक्षण-  
प्रत्यासत्था प्रमाणफलश्चविवितिरिति, तात्मास्तरे सुप्रसाङ्गं इति चेत्परिति त सूक्ष्म-  
मित्याह—

**समवायेऽतिप्रसंगः ॥ ७२ ॥**

समवायल्य नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च सर्वात्मनामपि समवायसम्बन्धमिकावाच्य  
ततः प्रतिनियम इत्यर्थः ।

अन्य प्रमाण की व्यावृत्ति स जैसे प्रमाण के अप्रमाणपते का प्रसंग आता है, उसी प्रकार यहाँ भी पहले वाली ही प्रक्रिया लगानी चाहिये । अभेद पक्ष का निराकरण कर आचार्य उपसंहार करते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—अतः प्रमाण और फल में वास्तविक भेद है ॥ ७० ॥**

( फल का परमार्थ से भेद है, कलिष्ठ भेद नहीं है । वास्तविक भेद के अभाव में प्रमाण और फल व्यवहार ही नहीं बन सकता है ) ।

भेद पक्ष में दोष दिखलाते हुए कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—भेद मानने पर अन्य आत्मा के समान यह इस प्रमाण का फल है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है ॥ ७१ ॥**

**वैयाकिक—**जिस आत्मा में प्रमाण समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है, उस आत्मा में फल भी समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है, अतः समवाय स्वरूप प्रत्यासत्ति से प्रमाण और फल की व्यवस्था बन जायगी, अन्य आत्मा में फल के मानने का प्रसंग नहीं आयगा ।

जेन—आपका उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है । इसके विषय में कहते हैं—

**सूक्ष्मार्थ—समवाय के मानने पर अति प्रसंग दोष आता है ॥ ७२ ॥**

समवाय के निश्चय तथा व्यापक होने से वह सभी आत्माओं में समान धर्म रूप से रहेगा । अतः यह फल इसी प्रमाण का है, अन्य का नहीं है, इस प्रकार के प्रतिनियम का अभाव होगा ।

इदानीं स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्था मुपदर्शयति—

**प्रमाणतदाभासी दुष्टतयोद्भाविती परिहृतापरिहृतदोषौ  
वादिनः साधनतदाभासी प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥ ७३ ॥**

वादिना प्रमाणमुपन्थस्तम्, तच्च प्रतिवादिना दुष्टतयोद्भावितम् । पुनर्बादिना परिहृतम्, तदेव तस्य साधनं भवति; प्रतिवादिनस्त्र दूषणमिति । यदा सु वादिना प्रमाणाभासमुक्तम्, प्रतिवादिना तवीतोद्भावितम्, वादिना चापरिहृतम्; तदा तष्ठादिनः साधनाभासी अवशि, वादिना हितस्त्र भूषणमिति ।

अथोक्तप्रकारेणात्यविप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेण प्रमाणतत्वं स्वप्रतिज्ञातं परीक्षय नयावितस्थमन्यत्रोक्तमितिदधायन्ताह—

**सम्भववन्यद् विचारणीयम् ॥ ७४ ॥**

सम्भवहित्समानमन्यत्रप्रमाणतस्थानये 'स्वस्त्रं वास्त्रान्तरप्रसिद्धं' विचारणीय-

अब अपने पक्ष के साधन और परपक्ष के दूषण व्यवस्था को दर्शाते हैं—

**सूत्रार्थ—**वादी के द्वारा प्रथोष में लाए गए प्रमाण और प्रमाणाभास प्रतिवादी के द्वारा दोष रूप में प्रकट किए जाने पर वादी से परिहृत दोष वाले रहते हैं तो वे वादी के लिए साधन और साधनाभास हैं और प्रतिवादी के लिए दूषण और भूषण हैं ॥ ७४ ॥

वादी ने प्रमाण को उपस्थित किया, उसे प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उद्भावन कर दिया । पुनः वादी ने उस दोष का निराकरण कर दिया तो वादी के लिए वह साधन और प्रतिवादी के लिए दूषण हो जायगा । अब वादी ने प्रमाणाभास कहा, प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया । तथा यदि वादी ने उसका परिहार नहीं किया तो वह वादी के लिए साधनाभास हो जायगा और प्रतिवादी के लिए भूषण होगा ।

उक्त प्रकार से समस्त विप्रतिपत्तियों के निराकरण द्वारा स्वप्रतिज्ञात प्रमाण तत्त्व की परीक्षा कर अन्य ग्रन्थों ( नयचक्रादि ) में नयादि तत्त्व कहे गए हैं, इस बात को विखलाते हुए कहते हैं—

**सूत्रार्थ—**सम्भव अन्य ( नय-निपेक्षादि ) भी विचारणीय हैं ॥ ७४ ॥

प्रमाण तत्त्व से भिन्न अन्य सम्भव अर्थात् विश्वामान, जो अन्य शास्त्रों

१. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायी नय इति नयसामान्यलक्षणम् ।  
तदुक्तम्—

नयो वक्तुविवक्ता स्याद् वस्त्वंशो स हि वर्तते ।

द्विषांसी भिष्टते मूलाद् द्रव्य-पर्यायभेदतः ॥

मिह युक्त्या प्रतिपत्तिष्ठम् । तत्र मूल नयी दो द्रष्टव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदात् । तत्र द्रष्टव्यार्थिकस्त्रेधा—नैगमसहृदयव्यवहारभेदात् । पर्यायार्थिकस्त्रुधर्मी—श्राव्यजूसूत्र-शब्दसमभिलक्ष्यमूलभेदात् ।

अन्योन्यगुण प्रधानमूलभेदभेदप्रकृष्टियो नैगमः । नैकं गमो नैगम इति निरक्षीः । सर्वथा भेदवादस्तदाभासः ।

प्रतिपक्षस्वप्नेषाः सम्भाव्याद्याही सहृदयः । ब्रह्मवादस्त्रियाभासः ।

में प्रसिद्ध नयों का स्वरूप है, वह यहाँ विचारणीय है, उसे युक्ति से जान लेना चाहिये । उनमें से मूल नय दो हैं—द्रष्टव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । इनमें से द्रष्टव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है—१. नैगम, २. संग्रह और ३. व्यवहार । पर्यायार्थिक नय चार प्रकार का है—१. श्राव्यजूसूत्र, २. शब्द, ३. समभिलक्ष्य और ४. एवं भूत ।

कस्तु में विद्यमान धर्मों के भेद और अभेद को परस्पर गौण और प्रधान करके निरूपण करना नैगम नय है । यह नय केवल एक ही धर्म को ग्रहण नहीं करता है । 'नैकं गमो नैगम' यह इसकी निरुक्ति है । सर्वथा भेद का कथन नैगमाभास है ।

**विशेष**—कस्तुगत का विद्यमान धर्मों के भेद और अभेद को परस्पर गौण और प्रधान करके निरूपण करना नैगमनय है । जैसे जीव का मृण सुख है । यहाँ पर जीव अप्रधान है, क्योंकि विशेषण है, सुख प्रधान है क्योंकि विशेष्य है । सुखी जीव—यहाँ जीव की प्रधानता है; क्योंकि जीव विशेष है । सुख की अप्रधानता है; क्योंकि सुख विशेषण है । अनिष्टन्त अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगम नय है । निगम संकल्प को कहते हैं, वहाँ उत्पन्न हुआ अथवा वह जिसका प्रयोजन है, उसे नैगम कहते हैं । जैसे कोई पुरुष कुड़ार लेकर आ रहा है । आप किसलिये जा रहे हैं, ऐसा पूछे जाने पर कहता है—प्रस्थ लाने के लिए । यद्यपि प्रस्थ पर्याय सञ्चित नहीं है, किन्तु प्रस्थ पर्याय की निषिद्धि के लिये संकल्प मात्र करने पर प्रस्थ का व्यवहार हुआ है । भूत, भावि और वर्तमान काल के भेद से नैगमनय तीन प्रकार का होता है ।

प्रतिपक्ष की अपेक्षा सहित सत् मात्र को ग्रहण करने वाला संग्रहनय है । ब्रह्मवाद संग्रहनयाभास है ।

**विशेष**—केवल साधारण धर्म का ग्रहण करने वाला संग्रह नय है । इसके दो भेद हैं—१. महासंग्रह और २. अवान्तर संग्रह । सम्पूर्ण विशेष धर्मों पर उदासीन होकर रुक्ष्य न देता हुआ केवल सत् रूप शुद्ध द्रष्ट्य को:

लङ् प्रहृष्टीतभेदको व्यवहारः । काल्पनिको भेदसदाभासः । शुद्धपर्यायपाही  
प्रतिपक्षसापेक्षा अजुसूत्रः । क्षणिककान्तनयस्तदाभासः ।

जो सच्चा मानता है, उस नय को महासंघ्रह कहते हैं। जैसे सामान्य सत्त्व धर्म की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व एक है। सत्त्वासामान्य को केवल स्वीकार करने वाला सथा शोष अन्य धर्मों का निषेध करने वाला जो एक सत्ता सामान्य रूप विचार है, वह महासंग्रहाभास है। जैसे सत्ता ही केवल सच्चा तत्त्व या पदार्थ है; क्योंकि सत्ता के अतिरिक्त जो विशेष धर्म माने जायें, उन धर्मों का कुछ भी अवलोकन नहीं होता है। द्रव्यस्थादि अवान्तर सामान्य धर्मों को मानने वाला सथा उन सामान्य धर्मों के साथ रहने वाले विशेष विशेष धर्मों की दृश्य हृति की दृष्टिं द्वायान नहीं देखने वाला अवान्तर संग्रह या अपरसंघ्रह कहलाता है। जैसे द्रव्यस्थ धर्म की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गलादि सभी द्रव्य एक हैं। केवल द्रव्यस्थादि सामान्य धर्मों को स्वीकार करता हुआ जो उन सामान्य धर्मों के साथ के विशेष विशेष धर्मों का निषेध करता हो, वह अपरसंग्रहाभास है। जैसे—द्रव्यस्थ ही सच्चा तत्त्व है; क्योंकि द्रव्यस्थ से भिन्न द्रव्य का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता है।

( स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० २०३ )

संग्रहनय से गृहीत पदार्थ का भेद करने वाला व्यवहारनय है।

भेद व्यवहार काल्पनिक है। इस प्रकार कहना व्यवहाराभास है।

**विशेष**—संग्रहनय के ढारा जो एक रूप माने जाते हैं उनमें जो विचार ऐसा स्वीकार करता हो कि व्यवहार के अनुकूल यह जुदा-जुदा है, उसको व्यवहार से कहते हैं जैसे—जो संग्रह की अपेक्षा एक सदूरप कहा है, वह द्रव्य है या पर्याय ? यह नय और भी इस प्रकार के भेदों को ठीक मानता है जो द्रव्य पर्यायादिकों में ज्ञात भेद मानता है, वह व्यवहारनयाभास समझा जाता है। जैसे—चार्कि का मत

( स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० २०३ )

प्रतिपक्ष की अपेक्षा रहित शुद्ध पर्याय को ग्रहण करने वाला अजुसूत्रनय है। क्षणिक एकान्तरूप तत्त्व को मानना अजुसूत्राभास है।

**विशेष**—अजु अथत् केवल वर्तमान क्षणवर्ती, पर्याय को जो प्रधानता से ग्रहण करता हो, उस अभिप्राय को अजुसूत्र कहते हैं। जैसे—इस समय सुखी है, इस समय दुःखी है, इत्यादि वर्तमान पर्याय रूप जैसा हो

काल-कारकलिङ्गाना भेदाच्छब्दस्य कथञ्चिदर्थभेदकथनं शब्दनयः । अर्थभेदं  
विना शब्दानामेव नानात्मेकानास्त्राभासः । पर्याप्तभेदात्पदार्थनानात्मनिष्ठयकः

तैसा कहने का नाम अजुसूत्र है। जो सर्वथा अनादिनिघन द्रव्य का  
निषेध कर केवल अर्थियों को ही आने-जाने समय में हड्डी बानता है,  
वह अजुसूत्राभास है। जैसे—बोद्धमत

(स्याद्वाद मण्ड्ररी, पृ० २०४)

काल, कारक, लिङ्ग आदि के भेद से शब्द के कथञ्चित् अर्थ-भेद  
का कथन करना शब्दनय है। अर्थ-भेद के विना शब्दों की एकान्तरूप से  
भिन्नता का कथन करना शब्दनयाभास है।

**विशेष**—लिंग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार की निवृत्ति  
करने वाला शब्दनय है। लिंग व्यभिचार, यथा—पुल्य, तारका और  
नशात्र। ये भिन्न-भिन्न लिंग के शब्द हैं। इनका मिलाकर प्रयोग करना  
लिंग व्यभिचार है। संख्या व्यभिचार यथा—'जलं आपः, वर्णः चतुः,  
आऽन्ना वनम्, वरणाः नगरम्' ये एकवचनान्त और अद्वृद्वचनान्त शब्द हैं।  
इनका विशेषण विशेषण रूप से प्रयोग करना संख्या व्यभिचार है। साधन  
व्यभिचार यथा—'सेना पर्वतमधिकसति' सेना पर्वत पर है। यहाँ अधि-  
करण कारक के अर्थ में सद्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है,  
इसलिये यह साधन व्यभिचार है। पुरुष व्यभिचार यथा—'एहि मन्ये  
रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि यातस्ते पिता' = आओ, तुम समझते ही कि  
मैं रथ से जाऊँगा, नहीं जाओगे। तुम्हारे पिता गये। यहाँ मन्यसे के  
स्थान में मन्ये और यास्याति के स्थान पर यास्यसि क्रिया का प्रयोग किया  
गया है, इसलिए यह पुरुष व्यभिचार है।

**काल व्यभिचार**—विश्वदृशवास्य पुन्नो जनिता = इसका विश्वदृशका  
पुन्न होगा। यहाँ विश्वदृशका कर्ता रखकर जनिता क्रिया का प्रयोग किया  
गया है इसलिए यह उभय व्यभिचार है अर्थवा भाविकृत्यासीत् होने वाला  
कार्य ही गया यहाँ होने वाले कार्य को ही गया बतलाया गया है। इस-  
लिए यह काल व्यभिचार है। उपरह व्यभिचार यथा—सतिष्ठते प्रति-  
ष्ठित विरमति उपरमति यहाँ सम् और प्र उपसर्ग के कारण स्था धातु का  
आत्मने पद प्रयोग तथा 'वि' और 'उप' उपसर्ग के कारण सम् धातु का  
परस्मैपद में प्रयोग किया गया है, इसलिए यह उपरह है। यद्यपि व्यवहार  
में ऐसे प्रयोग होते हैं, तथापि इस प्रकार के व्यवहार की शब्दनय अनुचित

समभिरुद्धः । पर्यायिनानात्मन्तरेणादीन्द्रादिभेदकथर्न तदाभासः कियाश्रवेष  
भेदप्रस्तुप्तमित्थम्भावः । कियानिरपेक्षलेन कियावाचकेषु काल्पनिको व्यवहार-  
तदाभास है ।

इति नय-तदाभासलक्षणं सङ्क्षेपेणोक्तम्, विस्तरेण नयचक्रात्प्रतिपत्तध्यम् ।

मानता है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अन्य अर्थ का अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता । ( सर्वार्थसिद्धि, १।३३ )

पर्याय के भेद से पदार्थ के नानारपेते का निरूपण करने वाला समभिरुद्धनय है । पर्याय के नानारपेते के बिना ही इन्द्रादि के भेद का कथन करना समभिरुद्धनयाभास है ।

**विशेष—**पर्यायवाची शब्दों में भी शब्द सिद्धिविषयक भेद है, इसलिये उनके वाच्य अर्थों को जुदा मानने वाला समभिरुद्ध नय है । जैसे—परम ऐश्वर्य की अपेक्षा इन्द्र कहना उचित है, शक्ति की अपेक्षा शक्ति कहना उचित है, पुरों को विदीर्ण करने वाले की अपेक्षा पुरदर कहना ठीक है । इत्यादि और भी जो पर्यायवाची शब्द होते हैं वे सब शब्दभेद के कारण कुछ न कुछ भेद ही दिखाते हैं । ( स्याद्वाद मध्यजरी, पृ० २०४ )

किया के आश्रय से भेद का निरूपण करना एवंभूत नय है । किया की अपेक्षा से रहित होकर कियावाचक शब्दों में काल्पनिक व्यवहार एवंभूताभास है ।

**विशेष—**जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है, उसी रूप निश्चय करने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं । आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य है, उस रूप किया के परिणमम् के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं । जभी आज्ञा ऐश्वर्य वाला हो, सभी इन्द्र है, अभिषेक करने वाला नहीं, और न पूजा करने वाला ही । जब गमन करती हो, तभी गाय है, वैठी हुई नहीं और न सोती हुई ही । अथवा जिस रूप से अर्थात् जिस ज्ञान से आत्मा परिणत हो, उसी रूप से उसका निश्चय करने वाला नय एवंभूत नय है । यथा—इन्द्र रूप ज्ञान से परिणत आत्मा इन्द्र है और अस्मि रूप ज्ञान से परिणत आत्मा अस्मि है । ( सर्वार्थसिद्धि, १।३३ )

इस प्रकार नय और नयाभास के लक्षण संक्षेप में कहे गये हैं विस्तार से नयचक्र से जानना चाहिये ।

**विशेष—**नय को अनेक परिभाषायें दी गई हैं जिनमें से कुछ लिम्नलिखित हैं—

१. प्रभाष के द्वारा गृहीत जान के अंश को ग्रहण करने वाला नय है।
२. श्रुतविकल्प नय है।
३. जाता का अभिप्राय विशेष नय है।
४. जाता स्वभाव से जो अलग कर एक स्वभाव में वस्तु को जानकराये वह नय है।

इन सब नयों में पूर्व-पूर्व नय बहुविषय वाला और कारण भूत है। याद याद वाले नय अल्पविषय और कार्यभूत है। संग्रहनय की अपेक्षा नैगम बहुविषय वाला है, क्योंकि भाव और अभाव दोनों को विषय करता है। जैसे सत् वस्तु के विषय में संकल्प होता है, उसी प्रकार असत् के विषय में भी होता है। संग्रहनय का विषय नैगम नय से अल्प विषय वाला, क्योंकि वह सत् मात्र की विषय करता है, उसका कार्य नैगम पूर्वक है। संग्रह से व्यवहार भी तत्पूर्वक है, वह सत् मात्र की जानकारी कराने वाले संग्रह नय की अपेक्षा अल्पविषय वाला ही है। तीनों कालों के पदार्थों को विषय बनाने वाले व्यवहारनय से ऋजुसूत्र भी तत्पूर्वक है, क्योंकि ऋजुसूत्र का विषय वर्तमानकालवर्ती पदार्थ है। इस प्रकार ऋजुसूत्र व्यवहार नय की अपेक्षा अल्पविषय वाला है। कारकादि भेद से अभिन्नार्थ का प्रतिपादन करने वाला ऋजुसूत्र है। तत्पूर्वक शब्द नय है, जो कि अल्पविषय वाला है। पदार्थ भेद से अर्थभेद का प्रतिपादन करने वाले शब्दनय से तत्पूर्वक होने वाला समभिस्तु नय अल्पविषय वाला ही है। छिया भेद से भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले समभिस्तु नय से तत्पूर्वक होने वाला एवमभूत अल्पविषय वाला ही है। जहाँ उत्तर उत्तर नय पदार्थ के अंश में प्रवृत्त करते हैं, वहाँ पूर्व-पूर्व नय विद्यमान रहता ही है। जैसे एक हजार में सात सौ अथवा सात सौ में पाँच सौ।

किसी पक्षी की आवाज को उदाहरण मानकर सातों नयों में इस प्रकार घटित किया है। नैगम नय वाला कहता है कि ग्राम में पक्षी की आवाज हो रही है। संग्रह नय वाला कहता है कि बृक्ष पर पक्षी बोल रहा है। व्यवहार नय वाला कहता है कि तने पर पक्षी बोल रहा है। ऋजुसूत्र नय वाला कहता है कि शाखा पर पक्षी बोल रहा है। शब्द नय वाला कहता है कि घोंसले में पक्षी बोल रहा है। समभिस्तु नय वाला कहता है कि अपने शरीर में पक्षी बोल रहा है। एवमभूत नय वाला कहता है कि पक्षी कम्ठ में बोल रहा है।

( टिप्पण )

अथवा सम्भवद्विद्यमानमन्यसुशलक्षणं पञ्चलक्षणं वाऽन्यप्रोक्तमिह दृष्टव्यम् ।  
तथा चाह—समर्थदक्षनं वाद इति ।

प्रसिद्धावयवं वाक्ये स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम् ।  
साधुगृह्णपदग्रार्थं पञ्चमाहुरनकुलम् ॥ ८२ ॥ इति  
परीक्षामुखमादर्थं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।  
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्यथाम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणकृतवानस्मि । किमर्थम् ? संविदे । कस्य ? मादृशः । अहं च कथम्भूत  
इत्याह—बालो मन्दमतिः । अनौदत्यसूचकं वचनमेतत् । तत्त्वज्ञत्वं प्रारुप्यनिर्व-  
हणादेवावसीयते । किं तत् ? परीक्षामुखम् । सदेव निरूपयति आदर्थमिति । कथोः ?  
हेयोपादेयतत्त्वयोः यथैकाऽऽदर्थं आत्मनोऽलङ्घारमण्डितस्म सीरूप्यं वैरूप्यं वा प्रति-  
विम्बोपदर्शनादारेण सूचयति, सदेवमयि हेयोपादेयतत्त्वं साधनदूषणोपदर्शनादारेण  
निरूपयति तीर्थादर्शस्मेन निरूपयते । क इव ? परीक्षादक्षवद् परीक्षादक्ष इव । यदा

अथवा शास्त्रार्थ में सम्भव अथत् विद्यमान अन्य जो वाद का लक्षण है अथवा पञ्च का लक्षण है जो कि पञ्च परीक्षा आदि ग्रन्थों में वर्णित है; वह वहाँ पर दर्शनीय है । जैसा कि कहा है—समर्थ वचन को वाद कहते हैं ।

इलोकार्थ—जिसमें ( अनुमान के ) अवयव पाए जार्थ जो अपने इष्ट अर्थ का साधक हो, जो निर्दोष गृह रहस्य बाले पदों से व्याप्त हो, ऐसे अनाकुल ( अवाधित ) वाक्य को पञ्च कहते हैं ॥४२॥

इलोकार्थ—छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्त्व के ज्ञान के लिए दर्पण के समान इस परीक्षामुख ग्रन्थ को मुझ सदृश बालक ने परीक्षा में निपुण पुरुष के समान रचा ॥२॥

ब्रधाम् = किया है । किसलिए ? ज्ञान के लिए । किसके ज्ञान के लिए ? मुझ जैसे मन्दवृद्धियों के ज्ञान के लिए । मैं कैसा हूँ, इसके विषय में कहा है—बाल-मन्दवृद्धि । यह वज्र अनुद्धतता का सूचक है । तत्त्वज्ञता तो प्रारम्भ किए हुए कार्य के निर्वाह से जानी जाती है । वह कार्य क्या है ? परीक्षामुख । उसी का वादर्थ के समान निरूपण कर रहे हैं । किसका ? हेय और उपादेय तत्त्वों का । जिस प्रकार आदर्थ ( दर्पण ) अलंकारों में मण्डित अपनी स्वरूपता या विरूपता को प्रतिविम्ब दिखलाने के द्वारा सूचित करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी हेतु और उपादेय तत्त्व को साधन और सूषण दिखलाने के द्वारा से निरूपय करता है अतः

परीक्षादेवः स्वप्रारब्धशास्त्रं निरुद्वासिथाऽहमपीत्यर्थः ।  
यकलाङ्गुष्ठाद्वैर्लक्षणीकृत्यादित्यनिभन्निकरम् ।  
तत्सङ्क्षिप्ते सूरभिरुभतिभिर्व्यक्तमेतेन ॥ १२ ॥  
इति परीक्षामुखलघुवृत्ती प्रमाणाद्याभाससमुद्देशः पठः ।

उसका आदर्श के रूप में लिखण है ।

किसके समान ? परोक्ष में दक्ष के समान । जैसे परीक्षा में दक्ष अपने प्रारम्भ किये हुए शास्त्र को पूरा करके निर्वाह करता है उसी प्रकार भी अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है ।

**इलोकार्थ—**अकलंक देव रूपी चन्द्रमा के द्वारा जो प्रमाण और प्रमाणाभास का समूह प्रकट किया गया है उसे विशाल बुद्धि आचार्य माणिक्यनन्द ने संक्षिप्त किया, उसे ही इस टीका द्वारा ( अनन्तवीर्य में ) व्यक्त किया है ॥१२॥

**विशेष—**समस्त वादियों ने प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न कही है । चावकि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं । बीजों के यहाँ प्रत्यक्ष और अनुभान दो प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष, अनुभान और शब्द ये तीन प्रमाण सांख्य मानता हैं, नैयायिक लोग प्रत्यक्ष, अनुभान, उपभान और शब्द ये चार प्रमाण मानते हैं । भादु लोग प्रत्यक्ष, अनुभान, शब्द, उपभान और अर्थाप्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं । मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुभान, शब्द, उपभान, अर्थाप्ति और अभाव प्रमाण मानते हैं । जैन परोक्ष और प्रत्यक्ष दो प्रमाण मानते हैं ।

टिप्पणकार ने अपने-अपने तर्क के भेद से छह दर्शन माने हैं—जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शौव और चावकि ।

इस प्रकार परीक्षामुख की लघुवृत्ति में प्रमाणाभासादि वर्णनपरक एष समुद्देश पूर्ण हुआ ।



## टीकाकारस्य प्रशस्तिः

श्रीमान् वैजेयनामाभूदगणीयुणशालिनाम् ।

बदरीषालवंशालिक्योमद्युमणिरूपितः ॥ १ ॥

तदीयपत्नो भुवि विश्रुताऽसीर्वाणाम्बनाम्ना गुणशीलसीमा ।

यो रेवतीति प्रथिताम्बिकीति प्रभावतीति प्रवदन्ति सन्तः ॥ २ ॥

तस्यामभूद्विष्वजनोनवृत्ति दीनाकुवाहो भुवि हीरपाख्यः ।

स्वगोत्रविस्तारनभौद्युमाली सम्यक्त्वरत्नाभरणार्चिताङ्गः ॥ ३ ॥

तस्योपरोधवशातो विशदोहकीत्ते माणिक्यनन्दिकृतशास्त्रमगाधबीधस् ।

स्पष्टीकृतं कतिपयीवंचनैरुदारैर्बालिष्ठोधकरमेतदनन्तवीर्यः ॥ ४ ॥

इति प्रमेयरत्नमालाऽपरतनामधेया परीक्षामुखलघुवृत्तिः समाप्ता ।

## टीकाकार प्रशस्ति

**इलोकार्थ—**बदरीपाल वंशावली रूपी आकाश में सूर्य के समान ओजस्वी गुणशालियों में अग्रणी वैजेय नामक श्रीमान् हुए ॥ १ ॥

**इलोकार्थ—**गुण और शील की सीमा स्वरूप 'ताणभू' नाम से पूर्वी पर प्रसिद्ध उसकी घनी थी। जो रेवती इस नाम से प्रसिद्ध थी तथा जिसे सज्जन लोग अभिका, प्रभावती इस नाम से भी पुकारते थे ॥ २ ॥

**इलोकार्थ—**उसके विष्व का हित करने की मनोवृत्ति वाला, दान देने के लिए नैव स्वरूप, अपने गोत्र के विस्तार रूप आकाश का सूर्य और सम्यक्त्व रूप रत्नाभरण से अचित अङ्ग वाला संसार में हीरप नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

**इलोकार्थ—**विशद और विस्तीर्ण कीति वाले उस हीरप के आग्रह वश इस अनन्तवीर्य ने माणिक्यमन्दिकृत अगाध बोध वाले इस शास्त्र को कुछ संक्षिप्त किन्तु उदार ( गम्भीर और उत्कट ) वचनों के द्वारा बालकों ( अश्रद्धान लक्षण रूप अनादि मिथ्यात्व के कारण हेयोपादेय तत्त्व से अनभिज्ञों ) को प्रबोध करने वाले ( यथार्थ अद्धान लक्षण सम्यक्त्व रूप लघ्योत्त से हेयोपादेय का परिज्ञान कराने वाले ) इस शास्त्र को स्पष्ट किया है ॥ ४ ॥

इस प्रकार जिसका दूसरा नाम प्रमेयरत्नमाला है,

ऐसी यह परीक्षामुख लघुवृत्ति समाप्त हुई ।

# परिशिष्टम्

## परीक्षामुख-सूत्रपाठः

सूत्राङ्काः

पृष्ठाङ्काः

अध्यादः समुद्रेशः

१-२८

प्रमाणादर्थसंसिद्धसदाभासाद्विपर्ययः ।

इति बह्ये तयोर्लक्ष्यं सिद्धमस्य लक्षीयतः ॥ १ ॥

१. स्वापूर्वविष्वक्षतायास्मकं ज्ञात्यं प्रमाणम् ।	५
२. हिताहितप्राप्तिपरिहरसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।	१०
३. तन्निश्चयास्मकं समारोपिष्वदत्वावनुगमनकृत् ।	१३
४. अनिहितोप्यवर्णः ।	१४
५. दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।	१६
६. स्वोन्मुखतया पतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ।	१७
७. अर्थस्पेच तमुन्मुखतया ।	१८
८. घटमहमासमा वेदिग्म ।	१८
९. कर्मबलकृत्यकरणकिञ्चाप्रतीतेः ।	१९
१०. शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्थानुभवनमर्थवत् ।	१९
११. को वा तत्प्रतिभासितमर्थं वैष्वक्षमिष्टस्तथेव तथा मेष्टेत् ।	२१
१२. प्रदीपवत् ।	२०
१३. तत्प्रामाण्यं स्वतः परतद्वच ।	२१

द्वितीयः समुद्रेशः

२९-८२

१. तद् द्वेषा ।	२९
२. प्रत्यक्षेतरभेदात् ।	२९
३. विशद्वं प्रत्यक्षम् ।	४२
४. प्रतीत्यन्तरावदधारेन विशेषवत्तथा वा प्रतिभासनं दैशद्वयम्	४३
५. इन्द्रियानिन्द्रियनिभिर्देशतः सांघर्षलारिकम् ।	४५
६. नायकिलोकी कारणं परिष्टेष्वदात्मभोवत् ।	४७
७. तदन्वयव्यतिरेकात्मुद्विचानभिः । एवं वै ज्ञोण्डुष्ट ज्ञानवैनिश्च गुरुकामयम् ।	४७

सूक्ष्माङ्काः	पुष्टाङ्काः
८. अद्वजन्यमयि तत्प्रकाशकं प्रशीघवत् ।	४८
९. स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।	४९
१०. कारणस्य च परिज्ञेयत्वे करणादिना व्यभिचारः ।	५१
११. सामर्थीक्षीयविषयेणित्यस्थिलावरणमतीच्छ्रवस्योक्तो मुख्यम् ।	५१
१२. सावरणस्ये करणावन्यत्वे च प्रतिबन्धमन्वात् ।	५२
<b>तृतीयः समुद्देशः</b>	<b>८३-१५३</b>
१. परोक्षमितरत् ।	८३
२. प्रत्यक्षादिनिभित्तं एमुतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानमासमेवम् ।	८३
३. प्रस्कारोद्घोषनिवन्धना तवित्याकारा स्मृतिः ।	८४
४. म वैष्वदेशो यथा ।	८४
५. वर्णनस्यरणकारणं चाहुलं प्राप्तिज्ञानम् । लक्षेऽपि सम्युक्तं तदि- लक्षणं तत्प्रसिद्धेनीत्यादि ।	८४
६. यथा स एकार्यं देवदत्तः । गोभदृष्टो गद्यः । गोविलक्षणो महिषः । इदमस्माद् द्वारम् । वृक्षोऽयमित्यादि ।	८५
७. उपलभ्यामुपलभ्यनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।	८६
८. इदमस्मिन् सत्येव, भवत्यसति तु न भवत्येवेति च ।	८६
९. यथाऽन्नावेव चूमस्तदभ्यावे न भवत्येवेति च ।	८७
१०. साधनात्साध्यविज्ञानस्तुमात्मम् ।	८७
११. साध्यादिनाभावित्वेन निविष्टो हेतुः ।	८७
१२. सहकर्मभावनियमोऽविनाभावः ।	९१
१३. सहकार्यकोशयप्यव्याप्त्यक्योश्च सहभावः ।	९१
१४. पूर्वोत्तरकारिणोः कार्यकारणयोद्यक्षमभावः ।	९१
१५. तक्तिस्तन्निर्णयः ।	९२
१६. इष्टस्वाधितमसिद्धं साध्यम् ।	९२
१७. समिद्वधिपर्यस्ताव्युत्पन्नात् साध्यत्वं यथा इष्टादित्यसिद्धपदम् ।	९२
१८. अनिष्टाध्यक्षादिवाधितयोः साध्यत्वं मामुदितीष्टाद्याधितवचनम् ।	९३
१९. न चासिद्वधिष्ठं प्रतिवादिनः ।	९४
२०. प्रत्याघनाय हृष्णा वक्तुरेव ।	९४
२१. साध्यं धर्मः क्वचित्तित्विष्टो वा वर्तीः ।	९५
२२. पक्ष इति यावत् ।	९५
२३. प्रसिद्धो धर्मी ।	९६

सूचिः

पृष्ठां

२४. विकल्पसिद्धे तस्मिन् संसेतरे साध्ये ।	१६
२५. अस्ति सर्वशो नाहित खरविषाणम् ।	१७
२६. प्रसाणीभवसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।	१८
२७. अनिमित्य देयः एतिद्युमी यथा इति देवा ।	१९
२८. व्याप्ती तु साध्यं धर्म एव ।	१९
२९. अव्यधा तद्विट्टमात् ।	२००
३०. साध्यधर्मविवारत्वादेहुपतोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।	२००
३१. साध्यधर्मिणि साधनं धर्मविवारत्वादेहुपतोदाय ।	२०१
३२. को वा त्रिधा हेतुमृक्त्वा तमव्यधमानो न पक्षयति ।	२०२
३३. एतद्दृष्ट्यमेवानुमानाङ्कं नोदाहरणम् ।	२०३
३४. म हि सरसाध्यसिफलवज्ज्ञं तत्र यथोक्तवैततोरेव व्यापारात् ।	२०३
३५. तदविनामाविलक्षणार्थं वा विषयी वाधकादेव तत्सिद्धे ।	२०४
३६. व्यक्तिरूपं च निर्दर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्त्रायापि तद्विप्रतिपादनव्य- वस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ।	२०४
३७. नापि व्याप्तिस्त्रायार्थं तद्विप्रतिपादनव्याप्तिरूपं तद्विप्रतिपादनव्याप्तिः ।	२०५
३८. तद्विप्रतिपादनव्याप्तिस्त्रायार्थं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देह्यति ।	२०५
३९. कुलोऽन्यथोपनयनियमसे ।	२०६
४०. म च ते तद्वज्ञे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ।	२०६
४१. समर्थनं वा वरं हेतुरूपसनुमानावयवो वाऽस्तु, साध्ये तदुपयोगात् ।	२०७
४२. वाल्मीयुत्पत्यथं तत्त्वयोपगमे शास्त्र एवासी, न वादेऽनुपयोगात् ।	२०७
४३. दृष्टान्तो द्वेष्टा-----अन्वयव्यतिरेकमेवात् ।	२०८
४४. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्शयते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।	२०८
४५. साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथयते स व्यतिरेकदृष्ट्यान्तः ।	२०८
४६. हेतोरूपसंहार उपनयः ।	२०९
४७. प्रतिशायास्तु नियमनम् ।	२०९
४८. तदनुमानं द्वेष्टा ।	२१०
४९. स्वार्थपरार्थं मेदात् ।	२१०
५०. स्वार्थमुक्तसंक्षणम् ।	२१०
५१. परार्थं तु तदर्थपरामित्यवचनाज्ञातम् ।	२१०
५२. तद्वचनमध्ये तद्वेतुवात् ।	२११
५३. स हेतुद्वेषोपलक्ष्यनुपलक्ष्यमेवात् ।	२१२

सूचीक्रमः

	पृष्ठांकम्
५४. उपलद्धिविभिन्नप्रतिषेधयोरनुपलद्धिशब्द ।	११३
५५. अविरहनोपलद्धिविभौ षोडा स्वाध्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसंहकरभेदात् ।	११३
५६. रसादेकसामग्र्यनुसारेन रूपानुसानमिच्छद्विभरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्थं सामव्याप्रतिबन्धकारणात्तरावैकल्पे ।	११४
५७. न च पूर्वोत्तरसारिणोस्ताद्यात्म्यं सदुरपत्तिवर्गं कालव्यवस्थामे तदनुपलब्धेः । ११५	११५
५८. भावव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्वोधयोरपि नारिष्टोद्वोधी प्रति हेतुर्थम् ।	११६
५९. सदृश्यापाराविभिं हि तद्भावभावित्यम् ।	११६
६०. सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थावात्सहोत्पादाम्भम् ।	११७
६१. परिणामी शब्दः कृतकस्त्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा षटः, कृत-कष्टाद्यम्, तस्मात्परिणामीति । यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा अन्यास्तनन्धयः, कृतकद्वाद्यम् । तस्मात्परिणामी ।	११८
६२. अस्त्यन्तं वेहिनि द्विव्यव्याहारादेः ।	११८
६३. अस्त्यन्तं छन्नात् ।	११९
६४. उदेष्यति षष्ठकं कृतिकोदयात् ।	११९
६५. उद्गादभरणिः प्राकृतत एव ।	११९
६६. अस्त्यन्तं मातुलिङ्गे रूपं रसात् ।	१२०
६७. विरहदत्तनुपलद्धिः प्रतिषेधे तथा ।	१२०
६८. नास्त्यन्तं शीतस्फर्त्तं औष्णयात् ।	१२०
६९. नास्त्यन्तं शीतस्फर्त्तं धूमात् ।	१२०
७०. नास्त्यन्तं शारीरिणि सुखमस्ति हृदयशत्यात् ।	१२०
७१. दीर्घेष्यति मुहूर्तान्ते षष्ठकं रेवत्युदयात् ।	१२१
७२. नोदगाद्भरणिमुहूर्तस्त्रिवर्धं पुष्ट्योदयात् ।	१२१
७३. नास्त्यन्तं चित्तो परभागाभावोऽविभागदर्शनात् ।	१२१
७४. अविरहननुपलद्धिः प्रतिषेधे लक्ष्मा स्वभावव्याध्यक्कार्यकारणपूर्वोत्तरसंहकरानुपलब्धमनेथात् ।	१२१
७५. नास्त्यन्तं भूतले धटीज्जुपलब्धेः ।	१२२
७६. नास्त्यन्तं शिशापा वृक्षानुपलब्धेः ।	१२२
७७. नास्त्यन्तं प्रतिबद्धसामर्थ्यीडिनशूसानुपलब्धेः ।	१२२
७८. नास्त्यन्तं धूमोऽनामेः ।	१२३
७९. न भविष्यति मुहूर्तान्ते षष्ठकं कृतिकोदयानुपलब्धेः ।	१२३
८०. नोदगाद्भरणिमुहूर्तस्त्रिवर्धं तत एव ।	१२३

**सूत्राङ्कः**

पृष्ठांकम्

८१. नास्त्यन् समुलायामुन्नामो नामामुपलक्ष्येः ।	१२३
८२. विशदात्पुलविधिर्विधौ श्रेष्ठा—विशदकार्यकारणसदभावामुपलविधि- भेदात् ।	१२३
८३. यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याख्यविशेषोऽस्मि विरामयचेष्टामुपलक्ष्येः ।	१२४
८४. अस्त्यक देहिनि दुःखमिलुसंयोगाभावात् ।	१२४
८५. अनेकान्तात्मां चरस्त्वेकान्तरदर्शमनुपश्यते ।	१२४
८६. परपरमा सम्भवस्तात्तनमर्थवान्तर्भवित्वीयम् ।	१२५
८७. अमृदत्र चक्रे शिवकः स्वासात् ।	१२५
८८. कार्यकार्यमविशदकार्येष्टलक्ष्यै ।	१२५
८९. नास्त्यन् मुहूर्मा भूगक्षीडनं मुगारिसंशब्दनात् कारणविशदकार्यं विशदकार्योपलक्ष्यै यथा ।	१२६
९०. अत्यन्तप्रयोगस्तु तदोपप्रस्थाऽन्यथनुपपस्थीत वा ।	१२६
९१. अप्यन्तान्तर्य देशस्त्वैव धूमवस्त्वोपपत्तेष्टुभवस्त्वान्यथामुपपत्तेवै ।	१२६
९२. हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तोकन्माश्रेण अनुपानैरवधार्यते ।	१२७
९३. तावता च साध्यसिद्धिः ।	१२७
९४. तेन पश्चास्तावाचारसुचनायोक्तः ।	१२८
९५. आप्यावचनादित्वन्यन्यस्यानामागमः ।	१२८
९६. सहजयोग्यतासङ्कुतेवषाढिं शब्दाद्यो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।	१२९
९७. यथा मेवदियः सभिः ।	१२९

**कर्तुर्थः समुद्देशः**

१५४-१८९

१. सामान्याविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।	१५४
२. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययघोषरत्वात् धूबोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति- लक्षणपरिष्टामेनार्थक्रियोपपत्तेन्द्रव्य ।	१८१
३. सामान्यं देशा तिर्यगूडवताभेदात् ।	१८२
४. सदुशपरिणामस्थित्येक् ग्रन्थमुण्डादिष्टु गोत्रवक्त् ।	१८२
५. परापरविवरन्व्यापि द्रव्यमूर्धर्वता मृदिव स्वासादिष्टु ।	१८२
६. विशेषद्वच ।	१८३
७. पर्याधव्यविरेकमेवात् ।	१८३
८. एकस्मिन् इत्येकम्यभावितः परिणामः पर्याया अस्त्वनि कृष्णविषयाद्याविवत् ।	१८३

सूचिकाः	पृष्ठाङ्काः
१. अर्थानि रसतो विसद्वापरिणा पौ व्यतिरेकी गोवहिताद्विषयत् ।	१८८
<b>पठन्तमः समुद्रदेशः</b>	<b>१९०-१९१</b>
१. अशाननिवृत्तिहस्तीपादानोपेष्टाद्वच फलम् ।	१९०
२. प्रमाणादधिनं भिन्नं च ।	१९०
३. यः प्रमितीते स एव विवृताज्ञानो ज्ञात्यावसा उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।	१९०
<b>पठन्तः समुद्रदेशः</b>	<b>१९२-२२७</b>
१. ततोन्यत्तदाभासम् ।	१९२
२. अस्वसंविदितगृहीतार्थेदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।	१९३
३. स्वधिष्ठयोपदर्शकत्वाभावात् ।	१९५
४. पुरुषान्तरं पूर्वार्थं गच्छतुष्टस्यापूरुषाद्विज्ञानवत् ।	१९६
५. अक्षरस्योद्देश्ये संयुक्तसमवायदर्शन ।	१९६
६. अवैश्यो प्रत्यक्षं तदाभासं वौख्यस्याकस्ताद्युपदर्शनाद्विज्ञानवत् ।	२००
७. वैश्योऽपि परोक्षं तदाभासं भीमासकस्य करणजातवत् ।	२००
८. अतदिमस्तदिति ज्ञानं स्परणाभासं जिनदले स वेददलो व्यथा ।	२००
९. सदृशो तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकत्वविश्वादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।	२०१
१०. असम्बद्धे नवज्ञानं तर्काभासं यावांस्तत्पुत्रः स व्याप्तो व्यथा ।	२०१
११. इदमनुसानाभासम् ।	२०१
१२. तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ।	२०२
१३. अनिष्टो भीमासकस्यानित्यः शब्दः ।	२०२
१४. सिद्धः व्यावरणः शब्दः ।	२०२
१५. वाधितः प्रत्यक्षानुमानाग्यमलोकहक्तव्यनीः ।	२०२
१६. तत्र प्रत्यक्ष वाधितोऽप्यान्वयोऽभिन्नाऽभिन्नाऽव्यस्ताऽङ्गलक्ष्यत् ।	२०३
१७. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ।	२०३
१८. प्रेत्यासुखप्रदो भर्तुः पुरुषाद्वितत्वाद्वर्त्मवत् ।	२०३
१९. शुचिनरचिरः कर्त्तव्यं प्राप्य गच्छत्वाऽक्षुशुक्षिक्षत् ।	२०३
२०. भाता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यामर्वस्त्वाप्रसिद्धवल्प्यावत् ।	२०४
२१. हेत्वाभासा असिद्धादिसद्वानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।	२०४
२२. असत्सत्तानिष्टयोऽसिद्धः ।	२०४
२३. अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्ददृष्टाभ्युपत्त्वात् ।	२०४

सूक्तांकम्:	पृष्ठांकम्:
२४. स्वरूपेणामस्त्वात् ।	२४४
२५. अविद्यमानंनिश्चयो मुखद्वयि प्रत्यग्निरव घूमात् ।	२४५
२६. तस्य ब्राह्मादिभावेन सूक्तसंधाने मन्देह्वात् ।	२४५
२७. सांख्यं अति धरिणामी शब्दः कृतकर्त्त्वात् ।	२४६
२८. तेनाज्ञातव्यात् ।	२४६
२९. विपरीतनिश्चित्ताविनाभावो विहृष्टोऽपरिज्ञामी शब्दः कृतकर्त्त्वात् ।	२४६
३०. विपक्षेऽप्यविहृष्टावृत्तिरनीकालिकः ।	२४६
३१. निश्चितवृत्तिरनीत्यः शब्दः प्रभेयत्वाद् वट्टवत् ।	२४७
३२. आकाशी निश्चेऽप्यस्य निश्चयात् ।	२४७
३३. क्षिण्डितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तुत्वात् ।	२४८
३४. सर्वज्ञत्वेन वक्तुत्वादिरोधात् ।	२४८
३५. सिद्धे प्रत्यक्षादिवाधिते च साध्ये हेतुरलिङ्गवस्त्रः ।	२४८
३६. सिद्धः आवणः शब्दः वाच्यत्वात् ।	२४८
३७. किञ्चिद्वक्तव्यात् ।	२४८
३८. यथानुष्ठोऽपितप्रश्नवस्थादित्यादी किञ्चित्कर्तुभवावस्थात् ।	२४९
३९. लक्षण एवासी द्वयो व्युत्थस्तप्रयोगस्य एक दोषेणैव सुष्टुत्वात् ।	२४९
४०. वृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धमाध्यनोभयाः ।	२४९
४१. अपीहयेः शब्दोऽभूतस्त्रादिनियसुखायरभाष्य वट्टवत् ।	२५०
४२. विग्रीहात्मक्यद्वच थदपीहयेयं सदमृतम् ।	२५०
४३. विद्युतादिताऽप्तिप्रसङ्गात् ।	२५०
४४. व्यतिरेकेऽसिद्धतद्वयतिरेकाः परमाण्डित्रियसुखाकाण्डतः ।	२५१
४५. विपरीतव्यतिरेकश्च यन्मायूर्त तन्मापीहयेयम् ।	२५१
४६. वालप्रयोगाभासः गङ्गवाद्यप्रवेषु किञ्चिद्दीपता ।	२५१
४७. अनिनमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदितर्य लक्षित्य यथा महामस इति ।	२५२
४८. धूमवात्त्वायसिति वा ।	२५२
४९. तस्मादग्निमात् धूमवात्त्वायसिति ।	२५२
५०. स्पष्टत्वाय प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।	२५२
५१. रागदेष्मोहाकान्तपुरुषदत्तनाऽज्ञातमागमाभासम् ।	२५२
५२. यथानश्चाहतीर्त मोदकराशयः सन्ति ध्यायद्वे माणवकाः ।	२५३
५३. अङ्गुल्यम् हस्तिगृष्णवातमासा इति च ।	२५३
५४. विसंवादात् ।	२५३

संख्या	पुस्तकांकः
५५. प्रत्यक्षमेवैकं प्रभाणवित्यादि संस्थाभासम् ।	२१४
५६. लोकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेषस्य परब्रह्मादेश्चासिद्देरत्न- द्विषयस्तात् ।	२१४
५७. सौगत-सूर्य-वैग-प्राभाकरवैमितीयायोः प्रत्यक्षान्मात्रास्त्रीप्रभानाम्बरी- पत्त्यभावैरेकीकायिकीव्याप्तिस्त्रिवत् ।	२१५
५८. अनुमानादेहत्तिष्ठयत्वे प्रभाणान्मात्रत्वम् ।	२१५
५९. तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रभाणान्तरत्वमप्रभाणस्याद्यवस्थापत्त्वात् ।	२१५
६०. प्रतिभासमेवस्य च भेदकत्वात् ।	२१६
६१. विषयाभासः सामान्य विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।	२१६
६२. तथाऽप्तिभासनात्कार्यकिरणात्म्वः ।	२१६
६३. समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।	२१७
६४. परायेकणे परिणामत्वमन्यथा लक्षभावात् ।	२१७
६५. स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत् ।	२१७
६६. कलाभासं प्रभाणादभिश्च भिन्नमेव वा ।	२१८
६७. अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।	२१८
६८. व्याकृत्याऽपि न लक्षलप्तना कलान्तराद् व्याकृत्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।	२१८
६९. प्रभाणान्तराद् व्याकृत्येवाप्रभाणत्वस्य ।	२१८
७०. लक्षमात्रास्त्री भेदः ।	२१९
७१. भेदे त्वात्मान्तरवस्थदनुपपत्तेः ।	२१९
७२. समकायेऽप्तिप्रसङ्गः ।	२१९
७३. प्रभाणतदाभासी दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासी प्रतिवादिनौ दूषणमूषणे च ।	२२०
७४. समभद्रद्वयत्तिज्ञारणीयम् ।  परीक्षामुखमादर्थं हेयोपादेयतत्त्वयोः । संविदे मादृशो बालः परीक्षावद् व्यधाम् ॥ २ ॥	२२०

●